

युगवीर-निबन्धावली

प्रथम खण्ड

(मौलिक निबन्ध)



लेखक

जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

संस्थापक 'वीर-सेवा-मन्दिर'

[जैनमाहिम्न और इतिहास पर विशद-प्रकाश, जैनाचार्योंका शासन-
भेद, ग्रन्थ-परीक्षा आदिके लेखक, स्वयम्भूस्त्वोत्र, युक्त्यनुशासन,
समीचीन-धर्मशास्त्र, अध्यात्म-रहस्य, तत्त्वानुशासनादि ग्रन्थोंके
विशिष्ट अनुवादक, टीकाकार एवं भाष्यकार, अनकान्नादि-
पत्रों और समाधितन्त्रादि ग्रन्थोंके सम्पादक]



वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट-प्रकाशन

प्रकाशक

दरबारीलाल जैन कोठिया

मन्त्री 'वीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट'

२१, दरियागज, दिल्ली

प्रथम संस्करण एक हजार प्रति

फाल्गुन २०२०१६ मार्च सन् १९६३

पृष्ठ-संख्या कुल ४८४

मूल्य मात्र . पाँच रुपये

मुद्रक

—सन्मति-प्रेस

२३०, गली कुंजस, दरीबा कला,
दिल्ली



श्रीमान् माननीय साहू शान्तिप्रसादजी जैन

समर्पण

मुधारप्रिय, उदारहृदय, विद्या-साहित्य-प्रेमी, साहित्योद्धारक,
गुरिजनानुरागी, गुरुराहक, मत्कार्य-सहायक,
सच्चे अर्थोमे दानवीर, समाजके महान् मेवक,
धर्म-कर्ममे निष्ठावान्, मदरहित, लोकाहृतैषी,
सरल-सौम्य-प्रकृति और अपने प्रिय बन्धुवर

श्री साहू शान्तिप्रसादजी जैनको

यह लोकहितानुरूपा कृति
सादर समर्पित ।

जुगलकिशोर मुख्तार

प्रकाशकीय

यह 'निबन्धावली' आचार्य श्रीजुगलकिशोरजी मुक्तार 'युगवीर'-
के साहित्य और इतिहास विषयक उन निबन्धोंमें पृथक् है, जिनका
एक संग्रह 'जैनसाहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश' नामसे,
प्रथम खंडके रूपमें, ७५० पृष्ठका, प्रकाशित हो चुका है, दूसरा खंड
प्रायः उतने ही पृष्ठोंका प्रकाशित होनेको है, और तीसरा खंड जैन-
ग्रन्थोंकी उन परीक्षाओंसे सम्बन्ध रखता है जिन्होंने महान् आचा-
र्योंके नाम पर अङ्कित कुछ जानी ग्रन्थोंका भडाफोड़ किया, दूसरो-
की कृतियोंको अपनी कृति बनानेवालोंका पर्दा फाश किया, समाजमें
असाधारण विचार-क्रान्ति उत्पन्न की और अनेक भूल-भ्रान्तियों
तथा मिथ्या-धारणाओंके विषयमें समाजके विवेकको काफी जाग्रत
किया। इस खंडका पृष्ठ-परिमाण और भी अधिक है।

इस निबन्धावलीको जिसमें इनमनत बिखरे हुए सामाजिक
तथा धार्मिक निबन्धोंका संग्रह है, दो खंडोंमें विभाजित किया गया है,
जिनमें यह पहला खंड विविध विषयके महत्वपूर्ण मौनिक निबन्धोंको
लिये हुए है, जिनकी संख्या ४१ है। दूसरे खंडमें निबन्धोंको १
उत्तरात्मक, २ समालोचनात्मक, ३ स्मृति-परिचयात्मक, ४ विनोद-
शिक्षात्मक और ५ प्रकीर्णक-जैसे विभागोंमें विभक्त किया गया है
और उनकी संख्या ६० से ऊपर है। पहले खंडमें प्रथम निबन्धको
छोड़कर शेष निबन्धोंको उसी क्रमसे रखा गया है, जिस क्रमसे
उनका निर्माण हुआ है। इसका विशेष परिचय साथमें दी गई निबन्ध-
सूचीसे सहज ही प्राप्त हो सकेगा। दूसरे खंडमें भी निबन्धोंको
अपने-अपने विभागानुसार काल-क्रमसे रखनेका विचार है।

निबन्धावलीके निबन्धोका सशोधन कार्य स्वयं मुख्तारश्रीके हाथो सम्पन्न हो सका है, यह अत्यन्त हर्षकी बात है और इससे उनका मूल्य और भी बढ़ गया है । मुख्तारश्रीके लेख निबन्धोको जिन्होंने भी कभी पढ़ा-सुना है उन्हें मालूम है कि वे कितने खोज पूर्ण, उपयोगी और ज्ञानवर्धक होते हैं, इसे बनलानेकी आवश्यकता नहीं है । विज्ञ पाठक यह भी जानते हैं कि इन निबन्धोने समय-समय पर समाजमें किन-किन सुधारोको जन्म दिया है और क्या कुछ चेतना उत्पन्न की है । कितने ही निबन्ध तो इस खड्गे ऐसे भी हैं जो एकादनेक-वार पुस्तकाकार छप चुके हैं और जिनकी माँग बराबर बनी रहती है । इससे सभी पाठक एक ही स्थान पर उपलब्ध इन निबन्धोसे अब अच्छा लाभ उठा सकेंगे ।

यह निबन्धावली स्कूलो, कॉलेजो तथा विद्यालयोके विद्यार्थियोको पढ़नेके लिये दी जानी चाहिये, जिससे उन्हें समाजकी पूर्वगति-विधियो एवं स्पन्दनोका कितना ही परिज्ञान होकर कर्तव्यका समुचित भान हो सके और वे खोजने, परखने तथा लिखने आदिकी कलामे भी विशेष नैपुण्य प्राप्त कर सकें ।

अन्तमें मैं अपनी तथा सस्थाकी ओरसे डा० श्री हीरालालजी जैन एम०ए०, एलएल०बी०, डी०लिट् प्रोफेसर व अध्यक्ष सस्कृत-प्राकृत-भाषा-विभाग विश्वविद्यालय जबलपुर (म० प्र०) को हार्दिक धन्यवाद भेंट करता हूँ जिन्होंने इस निबन्धावलीके लिये 'नये युगकी भलक' नामसे महत्वपूर्ण प्रस्तावना लिखनेकी कृपा की है ।

दरबारीलाल जैन, कोठिया

हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी }
१५ फरवरी, १९६३ }

(न्यायाचार्य, एम०ए०)
मन्त्री, 'बीरसेवामन्दिर-ट्रस्ट'

नये युगकी झलक

यदि भूलता नहीं हूँ तो सन् १९२२ की बात है जब दिल्लीमें प्रतिष्ठा-महोत्सवके अवसर पर जैनियोका एक अच्छा मेला भर गया था। दि० जैन महासभाका अधिवेशन भी वहाँ था। प्रथम दिवसकी कार्यवाहीमें ही जैन गजटके सम्पादक के सम्बन्धमें सुधारको और स्थितिपालकोके बीच कडा विरोध उपस्थित हो गया। उसी रात्रिको एक अन्य खेमेमें एकत्र होकर सुधारकदल दि० जैन परिषदके नामसे अपना स्वतंत्र मगठन तैयार करनेका विचार कर रहा था। मैं भी अपने नये उसाहसे वहाँको कार्यवाहीमें कुछ भाग ले रहा था। अकस्मात् मेरे समीप खादीका चट्टर ओढ़े बैठे हुए एक सज्जनने मुझे कुछ प्रसंगोपयोगी बातें बतलाते हुए उन्हें सभामें उपस्थित करनेके लिये कहा। किन्तु आरिचित और कुछ-कुछ अपढसे दिखाई देनेवाले व्यक्तिको दो हुई सूचनाओंके आधार पर उन बातोंको प्रामाणिक रूपसे सभामें उपस्थित करनेका मेरा साहस नहीं हुआ। किन्तु शीघ्र ही मेरे आश्चर्य और हर्षका पागवार न रहा जब मैंने जाना कि मुझे वह सुभाव देनेवाला व्यक्ति अन्य कोई नहीं विख्यात लेखक और

मेरे परोक्ष सुपरिचित विद्वान् पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार हैं ।

मुख्तार जीने जो साहित्य-सेवा की है और विशेषतः 'जैन-साहित्य' के आलोचनात्मक अध्ययनकी जो परम्परा स्थापित की उसके विवरण देनेका न तो यह अवसर है और न उसकी आवश्यकता । जिन्हें जैन साहित्य व समाजकी प्रगति, हलचलो व प्रवृत्तियोंमें सम्पर्क है वे भलीभाँति जानते हैं कि मुख्तारजी इस क्षेत्रमें एक युगान्तर-स्थापक कहे जा सकते हैं । मुझे अपने तथा अन्य कुछ मित्रोंके सम्बन्धमें तो यह कहनेमें कोई मकोच नहीं कि हमसे पुरानी पीढ़ीके विद्वानोंमें स्वर्गीय श्रद्धेय नाथूरामजी प्रेमीके अनन्तर श्रीजुगलकिशोर मुख्तारका ही नाम स्मरण आता है जिन्होंने अपने लेखों और पुस्तकों-द्वारा हमें साहित्य-सेवामें प्रवृत्त होनेकी स्फूर्ति प्रदान की तथा अध्ययन व लेखनकी उचित दिशाका मार्ग-दर्शन कराया । इसी कारण मैंने अपना पत्र सौभाग्य समझा छब इन वयोवृद्ध साहित्य-सेवी विद्वान्ने अपने लेखोंके इस संग्रहकी प्रस्तावना-रूपमें कुछ लिख देनेके लिये मुझे आमन्त्रित किया ।

आजसे कोई ६-७ वर्ष पूर्व सन् १९७६ में मुख्तारजीका 'जैन-साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश' शीर्षकसे उनके ३२ लेखोंका संग्रह प्रकाशित हुआ था । उसके प्रकाशकीय वक्तव्यमें कहा गया था कि "मुख्तारजीके लेखोंकी संख्या इतनी अधिक है कि यह संग्रह कई खंडोंमें प्रकाशित करना होगा । इस प्रथम खंडमें ही ७५० के लग-भग पृष्ठ हो गये हैं । दूसरे खंडमें भी प्रायः इतने-इतने ही पृष्ठोंकी समावना है ।" उस प्रथम खंडके लेखोंमें ही अध्येताओं व साहित्य-कारोंको बड़ी सहायता मिली । मुख्तारजीकी जिन पूर्व खोजो-शोधोंको जाननेके लिये जैनहितैषी व अनेकान्त आदि पत्रिकाओंकी पुरानी फाइले ढूँढ़नेमें बड़ी हैरानी उठानी पड़ती थी, वह अब नहीं रही । इसी सुविधाके विस्तारके लिये मुख्तारजीके शेष लेखोंके संग्र-

हकी भी लोग बड़ी उत्सुकतासे प्रतीक्षा कर रहे थे । किन्तु जहाँ तक मुझे ज्ञात है, उनके लेखोका कोई दूसरा सग्रह अब तक प्रकाशित नहीं हो पाया । श्रेयस्कर कार्यमें अनेक विघ्न आते हैं । इधर कई दिनोंसे मुस्तारजीके वृद्धत्वको देखते हुए यह आशा क्षीण होती जा रही थी कि अब उन्हींके कर-कमलोसे सग्रहीत उनका कोई अन्य लेख-सग्रह भी हमें प्राप्त हो सकेगा । इसे श्रुतदेवीकी महती कृपा ही समझना चाहिये कि उसने मुस्तारजीको यह प्रेरणा दी और बल प्रदान किया कि वे अपना एक और लेख-सग्रह ज्ञानोपासकोको प्रदान करे । इसीका परिणाम यह मुस्तारजीका लेख-सग्रह उपस्थित है ।

प्रस्तुत खडमे मुस्तारजीके उन ४१ लेखोका सग्रह है जो सन् १९०७ और १९५२ के बीच ४५ वर्षोंमें भिन्न-भिन्न समय पर लिखे गये थे, और जैनगजट, जैनहितैषी, सत्योदय, अनेकान्त आदि पत्र-पत्रिकाओंमें प्रकाशित हुए थे । यह समस्त काल भारतीय राजनीति, समाज व सस्कृतिके क्षेत्रमें असाधारण उत्क्रान्ति-पूर्ण रहा है । विशेषतः देशके स्वतंत्र होनेसे लगाकर गत १५-१६ वर्षोंमें तो यहाँकी गति-विधियों व विचारोंमें आकाश-पातालका अन्तर पड़ गया है । अतएव आश्चर्य नहीं जो प्रस्तुत लेखोंकी अनेक बातें अब कालातीत हो गई हों । किन्तु आश्चर्य तो इस बातका है कि यहाँ कही गई अनेक बातें ऐसी हैं जो मानो वर्तमान स्थितिकी ही दृष्टिमें रखकर लिखी गई हों । उदाहरणार्थ—

‘भारतकी स्वतंत्रता, उसका भङा और वर्तव्य’ (३६) शीर्षक लेख देखिये जहाँ कहा गया है कि—

“भारतकी स्वतंत्रताको स्थिर-सुरक्षित रखने और उसके अविष्यको समुज्ज्वल बनानेके लिये इस समय जनता और भारत-

हितैषियोंका यह मुख्य कर्तव्य है कि वे अपने नेताओंको उनके कार्यों-में पूर्ण सहयोग प्रदान करें और ऐसा कोई भी कार्य न करे जिस-से नेताओंका कार्य कठिन तथा जटिल बने। इसके लिये सबसे बड़ा प्रयत्न देशमें धर्मान्धता अथवा मजहबी पागलपनको दूर करके पारस्परिक प्रेम, सद्भाव, विश्वास और सहयोगकी भावनाओंको उत्पन्न करनेका है। इसीसे अन्तरङ्ग शत्रुओंका नाश होकर देशमें शान्ति एवं सुव्यवस्थाकी प्रतिष्ठा हो सकेगी और मिली हुई स्वतन्त्रता स्थिर रह सकेगी” इत्यादि। यह लेख सन् १९४७ के मार्च-अप्रैल मासमें स्वातन्त्र्य-प्राप्तिकी पृष्ठभूमिमें लिखा गया था। हमारी गत पन्द्रह-सोलह वर्षकी यात्राके प्रतिकूल इधर हुए साम्प्रदायिक भगडो और अब चीनी आक्रमणके प्रकाशमें जान पड़ता है, हम पुनः उसी मजिल पर आ खड़े हुए हैं जहाँसे उस समय चले थे।

इसी प्रकार प्रथम लेख ‘सुधारका मूलमंत्र’ ही ले लीजिये जो सन् १९१७ में लिखा गया था। वहाँ पढ़िये—

‘यदि आप यह चाहते हैं कि हिन्दी भाषाका भारतवर्षमें सर्वत्र प्रचार हो जाय, और आप उसे राष्ट्रभाषा बनानेकी इच्छा रखते हैं तो आप हिन्दी साहित्यका जी-जानसे प्रचार कीजिये। स्वयं हिन्दी लिखिये, हिन्दी बोलिये, हिन्दीमें पत्र-व्यवहार, हिन्दीमें कारोबार और हिन्दीमें वार्तालाप कीजिये। हिन्दी पत्रों और पुस्तकोंको पढ़िये, उन्हें दूसरोंको पढ़नेके लिये दीजिये, अथवा पढ़नेका प्रेरणा कीजिये। हिन्दीमें लेख लिखिये, हिन्दीमें पुस्तकें निर्माण कीजिये, हिन्दीमें भाषण दीजिये, और यह सब दूसरोंसे भी कराइये। दृढ-ताके साथ ऐसा यत्न कीजिये कि हिन्दीमें सब विषयों पर उत्तमोत्तम ग्रन्थ लिखे जाय। हिन्दी लेखकोंका उत्साह बढ़ाइये। उन्हें लेखों तथा पुस्तकोंके तैयार करनेके लिये अनेक प्रकारकी सामग्रीकी सहायता दीजिये, और तरह-तरहके लेखों, चित्रों, व्याख्यानो,

वार्तालापो और व्यवहारोके द्वारा हिन्दीका महत्त्व प्रकट करते हुए सर्व-साधारणमे हिन्दीका प्रेम उत्पन्न कीजिये । साथ ही, हिन्दी ग्रन्थो तथा हिन्दी पत्रोकी प्राप्तिका मार्ग इतना सुगम कर दीजिये कि उनके लिये किसीको भी कष्ट न उठाना पड़े । यह सब कुछ हो जाने पर आप देखेंगे कि हिन्दी राष्ट्रभाषा बन गई ।”

इस लेखके लिखे जानेसे आज ४५-४६ वर्ष हो जाने पर भी हिन्दीके राष्ट्रभाषा बनने-बनानेकी समस्या जैसीकी तैसी बनी हुई है, और लेखककी वह ललकार आज भी उतनी ही सार्थक है । उसमे उन लोगोके लिये एक चुनौती भी है जो स्वयं अपना कर्तव्य पूरा न करते हुए उक्त विषय पर सरकारकी उपेक्षाकी शिकायत किया करते हैं ।

‘हमारी यह दुर्दशा क्यों ?’ शीर्षक छठे लेखमे भारतके समुज्ज्वल और समृद्ध भूतकालका चित्रण करके आजके शक्ति-ह्रासके सम्बन्धमे कहे गये शब्द ध्यान देने योग्य है—

“और आज उसी भारतवर्षमे हमारे चारो तरफ प्राय ऐसे ही मनुष्योकी सृष्टि नज़र आती है जिनके चहरे पीले पड़गये हैं । १२-१३ वर्षकी अवस्थामे ही जिनके केश रूपा होने प्रारम्भ हो गये है । जिनकी आंखे और गाल बैठ गये हैं । मुँह पर जिनके हवाई उड़ती है । होठो पर हरदम जिनके खुस्की रहती है । थोड़ासा बोलने पर मुख और कंठ जिनका सूख जाता है । हाथ और पैरोके तलुओसे जिनके अग्नि निकलती है । जिनके पैरोमे जान नही और घुटनोमे दम नही । जो लाठीके सहारे चलते है और ऐनकके सहारे देखते है । जिनके कभी पेटमे दर्द है, तो कभी सिरमे चक्कर । कभी जिनका कान भारी है, तो कभी नाक । आलस्य जिनको दबाये रहता है । साहस जिनके पास नही फटकता । बीरता जिनको स्वप्नमे भी दर्शन

नहीं देती। जो स्वयं अपनी छायासे आप डरते हैं।' इत्यादि, इत्यादि।

यह जो हमारे नवयुवकों की निर्बलता का चित्रण आजसे अर्ध-शताब्दी पूर्व किया गया था, क्या वह आज भी सत्य नहीं है? इस स्थितिको सुधारनेके जो उपाय लेखमें बतलाये गये हैं वे आज भी ध्यान देने योग्य हैं।

इस प्रकार पाठक देखेंगे कि इन पुराने लेखोंमें ऐतिहासिक महत्वके अतिरिक्त वर्तमान परिस्थितियोंके सम्बन्धमें भी मार्ग-दर्शनकी प्रचुर सामग्री उपलब्ध है।

प्रस्तुत संग्रहके जैन इतिहास, धर्म और समाज-विषयक लेख तो उस-उस क्षेत्रमें रुचि रखनेवाले पाठकों व लेखकोंको अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होंगे, क्योंकि उनमें एक कुशल, अनुभवी विद्वान और निष्पक्ष समालोचकके विचार निहित हैं। महावीरकी तीर्थ-प्रवर्तन तिथि (२६) श्रीधवलम् तो एक हजार वर्षोंसे निर्दिष्ट थी, किन्तु मुस्तारजी ने उस और समाजका ध्यान मनु १८३६ में विशेष रूपसे आकर्षित किया। इतना ही नहीं, किन्तु उन्होंने उस दिन राजगृहके विपुलाचल पर्वत पर, जहाँ भगवान् महावीरका उपदेश हुआ था, एक महोत्सव मनानेकी प्रथा प्रचलित करनेका भी प्रयास किया। 'महावीरका सर्वोदय-तीर्थ' (४०) लिखकर उन्होंने जैनधर्मके अनेकान्त सिद्धान्तके प्रचारकी एक प्रशस्त भूमिका निर्माण की। 'सर्वोदयके मूलमूत्र' (८१) में उन्होंने १०० वाक्योंमें अनेकान्त सिद्धान्तका निचोड़ भी रख दिया। "जैनी नीति" (२३) में अमृत-चन्द्राचार्यकी ग्वालिनकी उपमा-द्वारा अनेकान्तकी सारग्राहिणी शक्तिका उन्होंने अच्छा परिचय कराया और वर्षों तक अनेकान्तमें उसके चित्रण व लेखों-द्वारा उसका खूब प्रचार किया। "जिनपूजा-विधकार-मीमांसा" (८), 'उपासना-तत्त्व' (१४), 'उपासनाका ढंग'

(१५) 'वीतरागकी पूजा क्यों ?' (३१) व 'वीतरागसे प्रार्थना क्यों ?' (३२) जैसे लेखों द्वारा मुस्तारजीने तत्सम्बन्धी जैन दृष्टिकोणका शास्त्रीय एवं निर्विकार रीतिसे प्रतिपादन किया व प्रचलित धारणाओं और विधियोंमें परिष्कार करानेका प्रयत्न किया ।

जैन-धर्म अपने मौलिक स्वरूप व रीति-नीतिमें प्रजातन्त्रात्मक है । वह मनुष्य वर्गमें जन्मत नीच ऊँचका भेद स्वीकार नहीं करता और सभीको धर्म-पालनका समान अधिकार प्रदान करता है । किन्तु दुर्भाग्यवत् जैन समाजमें भी नीच-ऊँचकी भावनाएँ और जाति-पाँतिके नाना भेद-भाव उत्पन्न हो गये । मुस्तारजीने अपने 'जैनियोंमें दयाका अभाव' (७) व 'जैनियोंका अत्याचार' (९) जैसे लेखों-द्वारा इस विकारकी ओर सबका ध्यान आकर्षित किया । उन्होंने 'जिन-पूजाधिकार मीमामा' (८) 'जातिभेद पर अमितगति' (१८) तथा 'जैनी कौन हो सकता है?' (२४) आदि लेखोंमें शास्त्रीय प्रमाणोंसे भले प्रकार सिद्ध कर दिखाया कि वर्ण व जाति एवं दस्सा-बीसा-जैसे अर्थहीन भेद-भावोंके आधारसे किसीको जैनधर्मका पालन करने व मन्दिरोंमें दर्शन-पूजनके अधिकारसे वंचित रखना सर्वथा अनुचित है । 'चारुदत्त सेठका शिक्षाप्रद उदाहरण' (१२) 'वसुदेवका शिक्षाप्रद उदाहरण' (१३) 'गोत्र-स्थिति व सगोत्र विवाह' (१९) 'असवर्ण व अन्तर्जातीय विवाह' (२०) आदि लेखोंमें उन्होंने पौराणिक उदाहरण दे देकर सिद्ध किया कि नीच ऊँच व गोत्र-भूर आदि भेद-भाव सारहीन है व उनका जैन-परम्परात्मकविवाह-सबधी नियमोंमें कोई स्थान व महत्व नहीं है ।

समाजके स्थिति-पालक बड़े जानेवाले दलको मुस्तारजीके सुधारक विचारोंसे बड़ी ठेस पहुँची; किन्तु आज तक भी कोई उनके शास्त्रीय प्रमाणों एवं तदाश्रित युक्तियों और तर्कोंको काट नहीं सका । और अब तो प्रायः ये सभी सुधार बहुजनसमाजमें मौन-

पूर्वक स्वीकार किये जा चुके हैं। इस प्रकार हम ५० जुगलकिशोरजी मुस्तारको जैनसमाजमें नये युग-निर्माणमें एक महान् अग्रणी कह सकते हैं, जिसके प्रचुर प्रमाण उनके प्रस्तुत लेखोंमें विद्यमान हैं। जो कोई जैनसमाजकी गत अर्ध शताब्दीकी गति-विधि का इतिहास समझना चाहे, व उस विषय पर कुछ लिखना चाहे, उसके लिये यह लेख-संग्रह अनिवार्यरूपसे उपयोगी सिद्ध होगा, और वह पंडित-जीकी विद्वत्ता व समाज-सुधारकी शुद्ध और सुदृढ़ भावनाका लोहा माने बिना नहीं रहेगा। अध-विश्वासो व अज्ञानपूर्ण मान्यताओंकी कठोर आलोचनाके साथ साथ शास्त्रीय आधार और स्थिर आदर्शोंका पक्षपाततथा नव-निर्माणका सावधानी पूर्ण प्रयत्न पंडितजीकी अपनी विशेषता है। अपनी कही हुई बातोंकी पुष्टिके लिये प्रमाणों, तर्कों व दृष्टान्तोंकी उनके पास कोई कमी नहीं। उनकी भाषा सरल और धारावाहिकी, तथा शैली तकपूर्ण और ओजास्वनी है। संस्कृत व फारसीके मोह व आग्रहसे रहित व ऐसी सुबोध हिन्दी लिखते हैं जिसके विषयमें किसीको कोई शिकायत नहीं होनी चाहिये। इन सब गुणोंसे पंडितजीका अपना 'युगवीर' उपनाम, जो उनके पूरे नामका ही सारगर्भित संक्षेप है, पूर्णतः सार्थक सिद्ध हुआ पाया जाता है।

हमारी अभिलाषा और प्रार्थना है कि श्रुतदेवीका यह परम पुजारी चिरायु हो।

विश्वविद्यालय,
जबलपुर (म०प्र०) }
१६-२-१९६३

(डा०) हीरालाल जैन
(एम०ए०, डी० लिट)

निबन्ध-सूची

[इस सूचीमें ब्रेकटके भीतर यह सूचित किया गया है कि कौन निबन्ध कब-कहाँ प्रथमतः प्रकाशित हुआ है और जिस निबन्धका ठीक निर्माण-काल मालूम हो सका है, उसका वह समय निबन्ध-नामके अनन्तर तथा ब्रेकटके पूर्व दिया गया है ।]

- १ सुधारका मूलमन्त्र, २५ अप्रैल १९१७ (जैनहिन्दी जुलाई १९१७)
- २ पापोंसे बचनेका गुरुमन्त्र (जैनजगत् २४ जुलाई १९०७)
- ३ मिथ्या धारणा (जैनग० ८ अगस्त १९०७)
- ४ महाजनी मन्त्र (जैनग० ८ अगस्त १९०७)
५. उपवास (जैनग० १६ अगस्त १९०७)
- ६ हमारी यह दुर्दशा क्यों ? (कामधेनु ३० नितम्बर १९१०)
- ७ जैनियोंमें दयाका अभाव (जैनहि० जून १९११)
- ८ जिन-पूजाधिकार-मीमांसा (प्रथमावृत्ति, अप्रैल १९१२)
- ९ जैनियोंका अत्याचार (जैनहि० अप्रैल-मई १९१३)
- १० विवाह-समुद्देश्य, २१ फरवरी १९१६ (प्रथमावृत्ति, अप्रैल १९१६)
- ११ नौकरीसे पूजन कराना (जैनहि० नवम्बर १९१७)
- १२ चारुदत्त सेठका शिक्षाप्रद उदाहरण (सत्योदय अक्टूबर १९१८)
- १३ वसुदेवका शिक्षाप्रद उदाहरण (सत्योदय अप्रैल १९१९)
१४. उपासना-तत्त्व, २१ जनवरी १९२१ (प्रथमावृत्ति, आषाढ म० १९२६)
- १५ उपासनाका ढग, २१ जनवरी १९२१ (जैनजगत् १६ अगस्त १९२६)
- १६ देशकी वर्तमान परिस्थिति और हमारा कर्तव्य, नितम्बर १९२१,
(जैनहि० भाग १५ अंक १२ मर्ग १९२१)
- १७ अपमान या अत्याचार, ११ मई १९२४ (परिवारबन्धु जुलाई १९२८)
- १८ जातिभेद पर अमितगति, १६ दिसम्बर १९२४ (अनेकान्त १-२)
- १९ गोत्र-स्थिति और सगोत्र-विवाह (विवाहक्षेत्रप्रकाश, प्रथमावृत्ति,
जुलाई १९२५)

२०. असवर्ण और अन्तर्जातीय विवाह (उपयुक्त विवाहक्षेत्रप्रकाश)

२१ जाति-पचायतोका दड-विधान (जैनजगन १६ सितम्बर व १ अक्तूबर १९२५)

२२ हम दुखी क्यों हैं ? (परवारबन्धु अप्रैल १९२७)

२३ जैनी नीति, नवम्बर १९२९ (अने० न० १ कि० १)

२४ जैनी कौन होसकता है ? (जैनज० १ नवम्बर १९३०)

२५ भक्तियोग-रहस्य, २७ जनवरी १९३३ (सिद्धिमोपान, प्रथमावृत्ति, अप्रैल १९३३)

२६ महावीरकी तीर्थप्रवर्तनतिथिका महत्त्व, १५ मार्च १९३६ (वीर-अप्रैल १९३६)

२७ सकाम-धर्मसाधन, ७ जनवरी १९३९ (अने० फरवरी १९३९)

२८ सेवा-धर्म (अने० १ नवम्बर १९३९)

२९ होलीका त्यौहार और उसका सुधार (अने० ३ मार्च १९४०)

३० स्व-पर-वैरी कौन ? (अने० फरवरी १९४१)

३१ वीतरागकी पूजा क्यों ? (अने० मार्च १९४१)

३२ वीतरागसे प्रार्थना क्यों ? (अने० अप्रैल १९४१)

३३ पुण्य-पापकी व्यवस्था कैसे ? (अने० जून १९४१)

३४. परिग्रहका प्रायश्चित्त (अने० अक्तूबर १९४१)

३५ छोटापन और बड़ापन, ३१ अगस्त १९४३ (अने० वर्ष ६ कि० १)

३६ बड़ेसे छोटा और छोटेसे बड़ा, ३० सितम्बर १९४३ (अने० ६-२)

३७ बड़ा दानी कौन ? २४ नवम्बर १९४३ (अने० ६-४)

३८ बड़ा दान। और छोटा दानी, दिसम्बर १९४० (अनेकान्त-रम-लहरी, प्रथमावृत्ति जनवरी १९५०)

३९. भारतकी स्वतंत्रता उसका भंडा और कर्तव्य (अने० मार्च १९४७)

४०. महावीरका सर्वोदयतीर्थ, जनवरी १९५२ (अने० मार्च १९५२)

४१. सर्वोदयके मूलसूत्र (अने० मार्च १९५२)

सुधारका मूलमन्त्र

पाठक जन ! क्या आपने कभी विचार किया है कि, एक मनुष्य जो अभी दूसरेके प्राण लेनेके लिये तय्यार था, शान्त क्यों होगया ? एक बालक रोते रोते हँसने क्यों लग्गा ? एक आदमी जो अभी हँसी-खुशीकी बातें कर रहा था, शोकमें मग्न क्यों हो गया ? सभीके सब मनुष्य बैठे बिठाए एकदम खिल-खिलाकर क्यों हँस पडे ? कल जो कायर और डरपोक बने हुए थे, वे आज धीर क्योंकर बन गये ? भ्रष्टता और असभ्यताकी मूर्तियाँ विज्ञान और सभ्यताकी मूर्तियोंमें कैसे परिणत हो गईं ? जिस कार्यसे कल हमें घृणा थी, आज उसीको हम प्रेमके साथ क्यों कर रहे हैं ? आनन्द और सुखके देनवाले पदार्थ भी कैसे किसीको दुःखदायक और अरुचिकर हो जाते हैं ? आपसमें वैर-विरोध क्योंकर पैदा होता और बढ़ जाता है ? एक अच्छे कुलका भला आदमी धीर और डकैत कैसे बन जाता है ? किस प्रकार एक असदाचारी सदाचारी और सदाचारी असदाचारी हो जाता है ? कल भी अभी था चमार या वह आज ईसाई बनकर या फौजमें भर्ती होकर ब्राह्मण और क्षत्रियों-जैसी बातें क्यों करने लगता है ? एक मनुष्य जिसने प्राणोंका बहुत मौह था, सहर्ष प्राण देनेके लिये क्योंकर तैयार हो जाता है ? क्यों हमारी सामन्तों को भंग कर देता है ? क्यों हमारे हृदयोंमें प्रेम तथा भयका संचार

कर देता है ? और कौन किसी शांतिमय राष्ट्रमें विप्लव खड़ा कर देता है ?

उत्तर इन सबका एक है और वह है—साहित्य-शास्त्रका प्रभाव । जिस समय जैसे जैसे साहित्यका प्राबल्य हमारे सामने होता है उस समय हमारा परिणामन भी उसी प्रकारका हो जाता है । साहित्यमें अमिप्राय यहा किसी भाषा-विशेषसे नही है और न केवल भाषाका नाम ही साहित्य हो सकता है, बल्कि भाषा भी एक प्रकारका साहित्य है अथवा साहित्यके प्रचारका साधन हैं । साहित्य कहते हैं भावोंक वातावरणको और वह वातावरण शब्दों, भाषाओं, वार्तालापो, व्याख्यानो, चेटाओं, व्यवहारों, विचारों, लेखों, पुस्तकों चित्रों आकृतियों, मूर्तियों और इतर पदार्थोंके द्वारा उत्पन्न होता है अथवा उत्पन्न किया जाता है । इसलिये साहित्यके इन सब साधनोंको भी साहित्य कहते हैं । अथवा ये सब साहित्य प्रचारके मार्ग हैं । साहित्यके सामान्यतः क्षणिक-स्थायी, चर-स्थिर, उन्नत-अवनत, सबल-निबल और प्रौढ-अप्रौढ ऐसे भेद किए जा सकते हैं । परन्तु विशेषकी दृष्टिसे उसके शान्ति-साहित्य, शोक-सा०, प्रेम-सा०, हास्य-सा०, भय-सा०, काम-सा०, द्वेष-सा०, राग-सा० वैराग्य-सा०, सुख-सा०, दुःख-सा०, धर्म-सा०, अधर्म-सा०, आत्म-सा०, अनात्म-सा०, उदार-सा०, अनुदार-सा०, देश-सा०, समाज-सा०, युद्ध-सा०, कलह-सा०, ईर्ष्या-सा०, घृणा-सा०, हिंसा-सा०, दया-सा०, क्षमा-सा०, तुष्टि-सा०, पुष्टि-सा०, विद्या-सा०, विज्ञान-सा०, कर्म-सा०, क्रोध-सा०, मान-सा०, माया-सा०, लोभ-साहित्य, इत्यादि असंख्यात भेद हैं । बल्कि दूसरे शब्दोंमें यो कहना भी अनुचित न होगा कि स्थूलरूपसे भावोंके जितने भेद किये जा सकते हैं साहित्यके भी प्रायः उतने ही भेद हैं ।

शान्ति-साहित्यके सामने आनेसे, चाहे वह किसी भी द्वारसे आया हो, यदि वह प्रबल है तो हम शान्त हो जाते हैं—हमारा क्रोध जाता रहता है । शोक-साहित्यके प्रभावसे हम रोने लगते हैं—हमारा धैर्य

छूट जाता है। प्रेम-साहित्यके प्रसादसे हम प्रेम करनेके लिये तैयार हो जाते हैं—दूसरेके प्रति हमारा अनुराग और वात्सल्य बढ़ जाता है। हँसीका साहित्य हमें हँसने या मुस्करानेके लिये बाध्य कर देता है। भयका साहित्य हमें भीरु और डरपोक बना देता है—हम बात-बातमें डरते, घबराने और काँपने लग जाते हैं। काम-साहित्यके प्राबल्यमें अनेक प्रकारकी काम-चेष्टाएँ होने लगती हैं और द्वेष-साहित्यके प्रभावसे हम लड़ने-लड़ाने, घृणा करने तथा एक दूसरेको हानि पहुँचानेके लिये आमदा और तत्पर हो जाते हैं। युद्धमें क्या होता है ? युद्ध-साहित्यका प्रचार। अर्थात् युद्ध-सामग्रीको एकत्रित, संचित और सुरक्षित करनेके सिवाय युद्धकी महिमा गाई जाती है—युद्ध करना कर्तव्य और धर्म ठहराया जाता है। अपने देश, धर्म और समाजकी मान-रक्षाके लिये प्राणोंकी बलि देना सिखलाया जाता है। अपमानित जीवनसे मरना श्रेष्ठ है, युद्धमें मरने वालोंकी कीर्ति अमर हो जाती है और उनके लिये हरदम स्वर्ग या वैकुण्ठा द्वार खुला रहता है, इस प्रकारकी शिक्षाएँ दी जाती हैं। शत्रुओंके असत् व्यवहारोंको दिखलाते हुए उनसे घृणा पैदा कराई जाती है और उन्हें दड देनेके लिये लोगोंको उत्तेजित किया जाता है। साथ ही, सैनिकोंको और भी अनेक प्रकारके प्रोत्साहन दिए जाते हैं, वीरोंका खूब कीर्तिगान होता है और कायरोंकी मरपेट निन्दा भी की जाती है। नतीजा इस सम्पूर्ण साहित्य-प्रचारका यह होता है कि मुर्दोंमें भी एक बार जान पड़ जाती है उनकी मुर्झाई हुई आशा-लताएँ फिरसे हरी-भरी होकर लहलहाने लगती हैं और वे कायर भी, जो अभी तक युद्धसे भाग रहे थे अथवा जिन्होंने हथियार डाल दिए थे, युद्धमें शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनेके लिए जी-जानसे लड़ने—खुशीसे अपने प्राणों तककी आहुति देनेके लिए तैयार हो जाते हैं, पूर्ण उत्साहके साथ शत्रु पर धावा करते हैं, खूब जम कर लड़ते हैं और अन्तमें शत्रुको परास्त भी कर देते हैं।

इससे पाठक समझ सकते हैं कि साहित्य-प्रचारमें कितनी शक्ति है । जिन पाठकोंको इस विषयका अधिक अनुभव प्राप्त करना हो उन्हें भूमंडलके इतिहासोंका अध्ययन करना चाहिये । इतिहासोंका अध्ययन उन्हें बतलाएगा कि साहित्य-प्रचारमें कितनी बड़ी शक्ति है और उसके द्वारा समय समयपर कैसे कैसे महान उलटफेर हो गए हैं । सिक्खसमाज तथा उसके धर्मकी प्रारम्भमें क्या दशा थी और फिर कैसे कैसे साहित्यके प्रभावसे उसकी कायापलट होकर वह क्षत्रियत्वमें ढल गया, ये सब बातें भी इतिहासवेत्ताओंसे छिपी नहीं हैं । वास्तवमें समस्त देशों, धर्मों तथा समाजोंका उत्थान और पतन साहित्य-प्रचारके आधार पर ही अवलम्बित है । जिस देश, धर्म या समाजमें जिस समय जिस विषयके साहित्यका अधिक प्रचार होता है उस देश, धर्म या समाजमें उस समय उसी विषयकी तूती बोलने लगती है । विषयके उत्थानात्मक होनेसे उत्थान और पतनात्मक होनेसे पतन हो जाता है ।

जापान देशकी आजसे प्रायः १०० वर्ष पहले कैसी जघन्य स्थिति थी और आज उसका कितना चकित करनेवाला उत्थान होगया है, यह सब उसके उत्थानात्मक साहित्यके प्रसारका ही फल है । भारत-वर्षका पतन क्यों हुआ ? और वह क्यों अपनी सारी गुण-गरिमा खो बैठा ? इसीलिये कि उसके साहित्यकी अवस्था अच्छी नहीं रही, वह अपने साहित्यको स्थिर नहीं रख सका, अथवा समयके अनुकूल नया साहित्य उत्पन्न नहीं कर सका । उसका साहित्य प्रेमशून्य होकर पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष, घृणा और निन्दासे तथा निष्फल क्रियाकाडसे भर गया । उसमें अज्ञानता, अकर्मण्यता, स्वार्थान्धता, कायरता, अन्धश्रद्धा, अनैतिकता और विलास-प्रियता छा गई और साथही उसने लोकोपकार, लोकसंग्रह, विचार-स्वातंत्र्य और सहोद्योगिता जैसे महत्वके तत्त्वोंको भुला दिया । देशके साहित्यकी ऐसी अवस्था ही जानेसे ही भारतवर्षका पतन हुआ । भिन्न-भिन्न धर्मों तथा समाजोंके उत्थान

और पतनका भी प्रायः ऐसा ही रहस्य है । उनका उत्थान और पतन भी उनके साहित्य-प्रचारकी हालत पर अवलम्बित है ।

आप किसी देश या समाजको जैसा बनाना चाहें उसमें वैसे ही साहित्यका पूर्ण-रीतिसे प्रचार कर दीजिये, वह उसी प्रकारका हो जायगा । उदाहरणके लिये, यदि आप यह चाहते हैं कि हिन्दी भाषा-का भारतवर्षमें सर्वत्र प्रचार होजाय और आप उसे राष्ट्रभाषा बनाने-की इच्छा रखते हैं तो आप हिन्दी साहित्यका जीजानसे प्रचार कीजिये, स्वयं हिन्दी लिखिये, हिन्दी बोलिए, हिन्दीमें पत्रव्यवहार हिन्दीमें कारोबार और हिन्दीमें वार्तालाप कीजिये, हिन्दी पत्रों और पुस्तकों-को पढ़िये, उन्हें दूसरोंको पढ़नेके लिये दीजिये अथवा पढ़नेकी प्रेरणा कीजिये, हिन्दीमें लेख लिखिये, हिन्दीमें पुस्तकें निर्माण कीजिये, हिन्दीमें भाषण दीजिये और यह सब कुछ दूसरोंसे भी कराइये । दृढताके साथ ऐसा यत्न कीजिये कि हिन्दीमें सब विषयोपर उत्तमोत्तम ग्रन्थ लिखे जाय । हिन्दी-लेखकोंका उत्साह बढ़ाइये, उन्हें लेखो तथा पुस्तकोंके तय्यार करनेके लिये अनेक प्रकारकी सामग्रीकी सहायता दीजिये और तरह-तरहके लेखो, चित्रो, व्याख्यानो वार्तालापो और व्यवहारोंके द्वारा हिन्दीका महत्व प्रगट करते हुए सर्व-साधारणमें हिन्दीका प्रेम उत्पन्न कीजिये । साथ ही, हिन्दी-ग्रन्थो तथा हिन्दी पत्रोंकी प्राप्तिका मार्ग इतना सुगम कर दीजिये कि उनके लिये किसीको भी कष्ट न उठाना पड़े । यह सब कुछ हो जाने पर आप देखेंगे कि हिन्दी राष्ट्र-भाषा बन गई ।

इसी तरह यदि आप अपने देश या समाजका उत्थान चाहते हैं और उसके सुधारकी इच्छा रखते हैं तो आप उसमें उत्थानात्मक और सुधार-विषयक साहित्यको सर्वत्र फैलाइये अर्थात् अपने देश व समाज-के व्यक्तियोंको स्वावलम्बनकी शिक्षा दीजिये, उन्हें अपने पैरों पर खड़ा होना सिखलाइये, भ्राम्यके भरोसे रहनेकी उनकी आदत छुड़ाइये, भीख माँगने तथा ईश्वरसे वस्तुतः याचना और प्रार्थना करनेकी

पद्धतिको उठाइये, 'कोई गुप्त दैवी शक्ति हमें सहायता देगी' इस खयालको दिलसे भुलाइये, अकर्मण्य और आलसी मनुष्योको कर्म-निष्ठ और पुरुषार्थी बनाइये, पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष, घृणा निन्दा और अदेखसका भावको हटाकर आपसमें प्रेमका संचार कीजिये, निष्फल क्रियाकाडो और नुमायशी (दिखावेके) कामोमे होनेवाले शक्तिके ह्रासको रोकिये, द्रव्य और समयका सदुपयोग करना बतलाइये, विलासप्रियताकी दलदलमे फँसने और अन्धश्रद्धाके गडढेमे गिरनेसे बचाइये, अनेक प्रकारके कल-कारखाने खोलिए, उद्योगशालाएँ और प्रयोगशालाएँ जारी कीजिये, शिल्प व्यापार और विज्ञान-उन्नतिकी ओर लोगोको पूरे तौरसे लगाइये, मिलकर काम करना, एक दूसरे-को सहायता देना तथा देश और समाजके हितको अपना हित समझना सिखलाइये, बाल, वृद्ध तथा अनमेल विवाहोका मूलोच्छेद होसके ऐसा यत्न कीजिए, सच्चरित्रता और सत्यका व्यवहार फैलाइये, विचार-स्वातन्त्र्यको खूब उत्तेजन दीजिए, योग्य आहार-विवहार द्वारा बलाढ्य बनना सिखलाइये, वीरता, धीरता निर्भीकता, समुदा-रता, गुणग्राहकता, सहनशीलता और दृढप्रतिज्ञता आदि गुणोका संचार कीजिये, एकता और विद्यामे कितनी शक्ति है इसका अनुभव कराइये, धर्मनीति, राजनीति और समाजनीतिका रहस्य तथा भेद समझाइये, समुद्र-यात्राका भय हटाइये, विदेशोमे जानेका सकोच और हिचकिचाहट दूर कीजिये, अनेक भाषाओका ज्ञान कराइये, तरह तरहकी विद्याएँ सिखाइये और शिक्षाका इतना प्रचार कर दीजिये कि देश या समाजमे कोई भी स्त्री, पुरुष बालक और बालिका अ-शिक्षित न रहने पावे। इन सब बातोंके सिवाय जो जो रीति-रिवाज, आचार-व्यवहार अथवा सिद्धान्त उन्नति और उत्थानमे बाधक हो, जिनमें कोई वास्तविक तत्त्व न हो और जो समय समय पर किसी कारणविशेषसे देश या समाजमे प्रचलित हो गए हो उन सबकी खुले शब्दोंमें आलोचना कीजिए और उनके गुण-दोष सर्वसाधारण पर

प्रगट कीजिये । सच्ची आलोचनामें कभी सकोच न करना चाहिए । बिना समालोचनाके दोषोंका पृथक्करण नहीं होता । साथ ही, इस बातका भी खयाल रखिये कि इन सब कार्योंके सम्पादन करने और कराने में अथवा यह सब साहित्य फेलानेमें आपको अनेक प्रकारकी आपत्तियाँ आवेंगी, रुकावटें पैदा होंगी, बाधाएँ उपस्थित होंगी, और आश्चर्य नहीं कि उनके कारण कुछ हानि या कष्ट भी उठाना पड़े, परन्तु उन सबका मुकाबला बड़ी शान्ति और धैर्यके साथ होना चाहिए, चित्तमें कभी क्षोभ न लाना चाहिए—क्षोभमें योग्य-अयोग्य-का विचार नष्ट हो जाता है—और न कभी इस बातकी पर्वाह ही करनी चाहिए कि हमारे कार्योंका विरोध होता है, विरोध होना अच्छा है, वह शीघ्र सफलताका मूल है । कैसा ही अच्छेसे अच्छा काम क्यों न हो, यदि वह पूर्व-संस्कारोंके प्रतिकूल होता है तो उसका विरोध जरूर हुआ करता है । अमेरिका आदि देशोंमें जब गुलामीको गुलामीसे छुड़ानेका आन्दोलन उठा तब खुद गुलामीने विरोध किया था । पागल मनुष्य अपना हित करनेवाले डाक्टर पर भी हमला किया करता है । इसलिए महत्पुरुषोंको इन सब बातोंका कुछ भी खयाल न होना चाहिए । अन्यथा वे लक्ष्य-भ्रष्ट हो जावेंगे और सफल-मनोरथ न हो सकेंगे । उन्हें अपना कार्य और आन्दोलन बराबर जारी रखना चाहिए । आन्दोलनके सफल होने पर विरोधी शान्त हो जायेंगे, उन्हें स्वयं अपनी भूल मालूम पड़ेगी और आगे चलकर वे तुम्हारे कार्योंके अनुमादक और सहायक ही नहीं बल्कि अच्छे प्रचारक और तुम्हारे पूर्ण अनुयायी बन जायेंगे ।

जैन ग्रन्थोंके छपानेका समाजमें कितना विरोध रहा । परन्तु अब वही लोग, जो उस विरोधमें शामिल थे और जिन्होंने छपे हुए शास्त्रोंको न पढ़नेकी प्रतिज्ञाओं पर अपने हस्ताक्षर भी कर दिये थे, खुशीसे छपे हुए ग्रन्थोंको पढ़ते-पढ़ाते और उनका प्रचार करते हुए देखे जाते हैं । जिधर देखो, उधर छपे हुए ग्रन्थोंकी महिमा और

प्रशंसाके गीत गाए जाते हैं। यदि उस समय छपे ग्रन्थोंका प्रचार करने-वालेके हृदयमें इस विरोधसे निबलता भा जासी और वे अपने कर्तव्यको छोड़ बैठते तो आज छपे ग्रन्थोंकी कृपासे जैन समाजको जो असीम लाभ पहुँच रहा है उससे बहूँ बचित रह जाता और उसका भविष्य बहुत कुछ अशकारमय हो जाता। इसलिये विरोधके कहरसा घबराकर कभी अपने हृदयमें कमजोरी न लाना चाहिये और न फल-आप्तिके लिये जल्दी करके हताश ही होजाना चाहिये। बल्कि बड़े धैर्य और माम्भीर्यके साथ बराबर उद्योग करते रहना चाहिये और नये-पुराने सभी मामोंसे, जिस-जिस प्रकार बने, अपने सुधार विषयक साहित्यका सर्वत्र प्रचार करना चाहिये।

सच्चे हृदयसे काम करनेवालो और सच्चे आन्दोलनकारियोंको सफलता होगी और फिर होमी। उन्हें अनेक काम करनेवाले, सहायता देनेवाले और उनके कार्योंको फैलानेवाले मिलेंगे। इसलिए घबरानेकी कोई बात नहीं है। जो लोग देश या समाजके सच्चे हितैषी होते हैं वे सब कुछ कष्ट उठाकर भी उसका हित-साधन किया करते हैं। इस तरहपर सब कुछ सहन करते हुए यदि आप सुधारविषयक साहित्यका प्रचार करके अपने देश या समाजके साहित्यको सुधारने-मे समर्थ हो जायेंगे तो फिर देश या समाजके सुधारनेमे कुछ भी देर नहीं लगेगी। उसका सुधार अनिवार्य हो जायगा। यही सुधारका मूल मंत्र है। परन्तु इतना खयाल रहे कि साहित्य जितना ही उन्नत, सबल और प्रौढ़ होगा उतना ही उसका प्रभाव भी अधिक पड़ेगा और वह अधिक काल तक ठहर भी सकेगा। इसलिए जहाँ तक बने, खूब प्रबल और पुष्ट साहित्य फैलाना चाहिए।

पापोंसे बचनेका गुरुमंत्र

इस संसारमें इष्टविद्योग-अनिष्टसयोग और रोगादि-जन्त जितने भी दुःख और कष्ट हैं उन सबका मूल कारण पाप-कर्म है । क्या बालक, क्या वृद्ध और क्या जवान सभी दुःखोंसे भयभीत और इस बातके उत्कट अभिलाषी हैं कि उन्हें किसी प्रकार भी दुःखके दर्शन न होवें, परन्तु दुःखोंके मूल कारण 'पाप' को दूर करनेके लिये प्रायः कोई भी यथेष्ट प्रयत्न नहीं करता, उलटा दुःख मिटानेके लिये मनुष्य बहुधा पापकर्मका आचरण करते हैं जिससे दुःख दूर न होकर दुःखकी परम्परा उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है । आजकलके मनुष्योंकी दशा ठीक इस श्लोकमें वर्णित-जैसी जान पड़ती है —

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवा ।

फलं नेच्छन्ति पापस्य पापं कुर्वन्ति यत्नतः ॥

अर्थात्—मानव पुण्यका फल जो सुख उसको तो चाहते हैं, परन्तु पुण्य तथा धर्मकार्यको करना नहीं चाहते—उसके लिये सौ बहाने बना देते हैं । और पापका फल जो दुःख उसे तो नहीं चाहते—दुःख के नामसे भी डरते हैं, परन्तु दुःखका कारण जो पापकर्म है उसे बड़े यत्नसे करते हैं—अनेक जन्म मिल-मिलाकर तथा सलाह-मशवरा करके उसे बड़े चावसे सम्पन्न करते हैं ।

ऐसी स्थितिमें कैसे दुःखकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति हो सकती है ? जिस प्रकार शीत दूर करनेके लिए शीतलोपचार उपयोगी नहीं होता उसी प्रकार दुःखोंको दूर करनेके लिए पापा-

चरण कार्यकारी नहीं है। दुःखोंसे भयभीत मानवोको चाहिए कि वे पापोका दूरसे ही परित्याग करें। अतः आज अपने पाठकोको एक ऐसा 'गुरुमंत्र' बतलाया जाता है जिसको हृदयमें धारण करने, नित्य स्मरण रखने और सदा व्यवहारमें लानेसे सहज ही समस्त पापोसे बचा जा सकता है। गुरुमंत्रमें पापोसे बचनेका ऐसा सुगम तथा सरल मार्ग निर्दिष्ट किया गया है जिससे किसीको भी किसीसे कुछ पूछनेकी जरूरत नहीं रहती। प्रत्येक मनुष्य पापोसे बचनेका अपना मार्ग स्वयं निर्धारित कर सकता है और उसपर चलता हुआ स्वतः पापोसे बचकर दुःखोंसे मुक्त हो सकता है। वह गुरुमंत्र इस प्रकार है—

—आत्मनः प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्।

‘जो जो बातें, क्रियाएँ, चेष्टाएँ तुम्हारे प्रतिकूल हैं—दूसरोके द्वारा किए हुए जिस व्यवहारको तुम अपने लिये पसन्द नहीं करते, अहितकर और दुःखदायी समझते हो—उनका आचरण-व्यवहार तुम दूसरोके प्रति किसी प्रकार भी मनसे बचनसे, कायसे तथा करने, कराने, अनुमोदनाके रूपमें मत करो।’

इस गुरुमंत्रके अनुकूल आचरण करनेवाला मनुष्य सच्चा धर्मात्मा एवं न्यायनिष्ठ होता है, वह पापोसे अलिप्त रहकर दुःखोंसे सहज ही छुटकारा पा जाता है। अतः सुखार्थी और सुखान्वेषी मनुष्योको चाहिए कि वे जब कोई भी काम करना चाहें या किसी काम करनेका विचार अपने मनमें लाएँ तब वे भटसे इस मंत्रका स्मरण कर लिया करें और इस बातपर गहरा विचार करें कि यदि वह कार्य, जिसको हम दूसरोके प्रति करना चाहते हैं, दूसरे मनुष्य वैसी ही दशामें हमारे प्रति करे तो वह हमको इष्ट होगा या अनिष्ट—अच्छा लगेगा या बुरा। यदि वह कार्य अपनेको अनिष्ट (बुरा) प्रतीत होता हो तो हमको कदापि दूसरोके साथ उसका आचरण अथवा व्यवहार नहीं करना चाहिए। जब दूसरोकी बेईमानी, गाली आदि कुबचन और असद्व्यवहारसे हमारे चित्तको, दुःख

पहुँचता है तो हमको कब उचित है कि हम दूसरोंके साथ बेईमानी करे, उनको गाली आदि कुबचन कहें अथवा उनके साथ असद्व्यवहार करे ? यह मंत्र बैसा करनेको अनुचित बतलाता हुआ उसका निषेध करता है ।

ससारमें कोई भी मनुष्य यह नहीं चाहता और न किसीको यह इष्ट है कि कोई दूसरा प्राणी उसको सतावे, दुःख देवे, मारे या उसका बध करे, यह भी कोई नहीं चाहता कि दूसरा मानव उसके साथ झूठ बोले, मायाचार करे, छल-कपट रचे, उसको धोखा देवे, उसका माल चुरावे या अन्य किसी प्रकारसे उसको हानि पहुँचावे अथवा कोई नराधम उसकी बहू बेटी आदिको बहकावे, उनसे व्यभिचार करे या उनको कुट्टाईसे देखे, न किसीको यह प्रिय तथा सुखकर मालूम होता है कि कोई उस पर क्रोध करे, उसका तिरस्कार या अपमान करे, उसकी निन्दा बुराई या चुगली करे, उसके साथ अभिमान करे, शत्रुता रखे, उससे अपना लोभ साधे, उसकी हँसी उडावे, उसको किसी प्रकारका भय दिखावे उसकी आजीविका बिगाड़े अथवा कर्कश कठोर और मर्मविदारक निन्द्य शब्द कहे, और न कोई मनुष्य इस बातको पसन्द करता अथवा अपने अप्रतिकूल समझता है कि दूसरा मनुष्य उसके साथ विश्वासघात या द्रोह करे, उसकी धरोहर या उधार (ऋज) को न देवे, उसके चोरी गए हुए मालको खरीदे, उससे बढ़ती ले लेवे और उसको घटती तौल देवे उसको अच्छा माल दिखा कर खोटा तथा मिलावटी माल देवे, उसके चलते तथा होते हुए काममें विघ्न कर देवे, उसकी धन-सम्पत्ति तथा पुत्र-कलत्रादिको देखकर जले अथवा उसके कुटुम्बादिका विघटन और विनाश चाहे ।

यदि किसी मनुष्यको यह मालूम हो जाता है कि कोई दूसरा व्यक्ति उसके प्रतिकूल ऐसा कोई कार्य कर रहा है, उसके किसी कार्यमें बाधक है या किसी दूसरे मनुष्यसे उपयुक्त कार्यमें से कोई कार्य उसके प्रतिकूल करा रहा है या करनेकी प्रेरणा कर रहा है अथवा उसके

प्रतिकूल कोई कार्य होता हुआ देखकर खुश हो रहा है—आनन्द मवा रहा है—तो उस मनुष्यको घोर मानसिक कष्ट एवं दुःख उत्पन्न होता है। और वह उसव्यक्तिको अपना हितशत्रु समझने लगता है; फलतः परस्पर वैर-विरोध बढ़कर अनेकानेक अनर्थ पैदा हो जाते हैं। अतः एव मनुष्यको चाहिए कि वे किसीभी प्राणीके साथ उपर्युक्त कार्यो-मेंसे, जिन्हें वे अपने प्रतिकूल समझते हैं, किसी भी कार्यका आचरण, अनुष्ठान व्यवहार अथवा बर्ताव न करे।

संसारमें उपर्युक्त सब कार्य पाप-कार्य कहे जाते हैं और प्रायः यही पाप-कार्य हैं भी। इन्हीं पाप-कर्मोंकी वजहसे संसारमें अनेक प्रकारके दुःख और कष्ट उठाने पड़ते हैं। पाठकजन ! ज़रा सोचिए, और समझिए यह कितना बड़ा अग्राय और अन्धेर है कि जिस कामको हम स्वयं अपने लिए बुरा समझे उसका आचरण तथा व्यवहार दूसरेके लिए करे और हमारा हृदयकुक्ष भी कम्पायमान न हो। हम किस मुँहसे तब यह कह सकते हैं और कौनसे हृदयसे इस बातकी इच्छा कर सकते हैं कि अग्राय प्राणी हमारे साथ नेकी करे, अच्छा व्यवहार करे और उपर्युक्त प्रकार बुराईसे न प्रवर्तें ? क्या यह न्यायसंगत हो सकता है कि हम दूसरोको दुःख देवे सतावे और फिर उनसे सुख मिलनेकी आशा रखे ? कदापि नहीं। इसलिए हमको चाहिए कि हम इस गुरुमन्त्रका शरणाग्रहण करे और अपनी पूरा-शक्तिके अनुसार इस पर आचरण तथा अमल करे जिससे शीघ्र ही पापोंसे बचकर उत्तम सुखोका अनुभव कर सके। जितने जितने अशोभे हम इस गुरुमन्त्र पर आचरण करेंगे उतने उतने अशोभे हम पापोंसे बच जाएँगे। हमारे आचार्योंन इस गुरुमन्त्रमें ऐसी खूबी रखी है कि इसपर आचरण करनेवालोको पापोंके भेद-प्रभेदों और उनके लक्षणोंको जानने तथा याद रखनेकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं रहती; और इस गुरुमन्त्रके प्रचारसे सहज ही संसारभरमें सुख-शान्तिका प्रवाह फैल सकता है।

मिथ्या धारणा

आजकल भारतवर्षमें बहुतसे हिंसक तीव्र-कषायी और रौद्रपरि-
णामी मनुष्य भिरड, ततैये, बिच्छू कानखजूरे तथा खटमल, पिस्सू,
मच्छर आदि छोटे छोटे दीन जन्तुओंको मारकर अपनी बहादुरी
जतलाया करते हैं और भिरड-ततैयोंके छत्तोमें आग लगाकर तीस-
मारखाँ बना करते हैं। जब उनसे कोई करुणहृदय व्यक्ति पूछता है
कि आप ऐसा निर्दयताको लिये हुए हिंसक कार्य क्यों करते है ? तो
वे बड़े दपंके साथ, मुसलमान न होते हुए भी, उत्तरमें यह मुसल-
मानी सिद्धान्त सुना देते हैं —

“कतलुल मूजी कबलुल ईजा”

अर्थात्—ईजा (दुःख) पहुँचानेसे पहले ही मूजी (दुःख देनेवाले)-
को मार डालना चाहिये। परन्तु वे कभी इस बातका विचार भी नहीं
करते कि जब भिरड, ततैये आदिक थोड़ीसी पीडा पहुँचाने ही के
कारण मूजी और बधयोग्य हैं तो फिर हम जो कि उनको जानसे ही
मार डालते हैं और उन जन्तुओंका गाँवका गाँव (छत्ता) भस्म कर
देते हैं उनसे कितने दर्जे अधिक मूजी और बधयोग्य ठहरते हैं ॥

वास्तवमें विचार किया जाय तो यह सब उनकी मिथ्या धारणा है,
वे उक्त सिद्धान्तका बिल्कुल दुरुपयोग कर रहे हैं और उन्होंने उसके
आशयको कुछ भी नहीं समझा है। उन्हें न तो मूजीकी खबर है और

न ईजाकी । यदि इस सिद्धान्तका बही आशय लिया जाय जैसा कि वे समझ रहे हैं और तदनुकूल प्रवर्त रहे हैं—अर्थात् यह कि जो कोई प्राणी किसी दूसरे प्राणीको थोडासा भी दुःख देनेवाला हो तो वह मूजी है, उसको मार डालना चाहिये—तो ऐसी हालतमें मनुष्य सबसे पहले मूजी और वधयोग्य ठहरते हैं, क्योंकि ये बहुतसे निरपराधी जीवोंको सताते और प्राण-दंड देते हैं । परन्तु यह किसी को इष्ट नहीं । अतः इस सिद्धान्तका साफ आशय और असल प्रयोजन यह है कि मनुष्योंको अपने नफ्सको मारना चाहिए—अपनी पाँचों इन्द्रियों (हवासेखमसा, - को वशमें करना चाहिए । ये ही मूजी है, इन्हींके कारण इस आत्मा-को नाना प्रकारके जन्म-जरा-मरण रोग-विषय तथा नरक निगोदादिकके दुःख और कष्ट उठाने पड़ते हैं, इन्हींके प्रसादसे आत्माके साथ कर्म-बन्धन होकर उसके गुणोंका घात होता है, जिससे अधिक आत्माके लिए और कोई ईजा (दुःख-परम्परा) नहीं हो सकती है और न इनसे अधिक आत्माके लिए और कोई मूजी हो सकता है । इन इन्द्रियोंका नियंत्रण करने और इनकी विषय-वासनाको रोकने तथा राग-द्वेषरूप परिणतिको हटानेसे ही इस आत्माके दुःखकी निवृत्ति होकर उसे सच्चे सुखकी प्राप्ति हो सकती है । नीति-कारोंने बहुत ठीक कहा है —

आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः ।

तज्ज्ञयः सम्पदा मार्गो येनेष्टं तेन गन्धताम् ॥

अर्थात्—मुसीबत और दुःखोंके भानेका एकमात्र मार्ग इन्द्रियोंका असंयम—उनका वशमें न करना—है और उनको जीतकर अपने वशमें करना ही सुखोंका एक मात्र मार्ग है । अतः जो मार्ग इष्ट हो-उसपर चलना चाहिये । सुख चाहते हो-तो इन्द्रियोंको अपने आधीन करो । दुःख चाहते हो तो खुद इन्द्रियोंके आधीन हो जाओ ।

कवि 'जौक' ने भी नफूस को बड़ा मूजी करार देते हुए उसीको मारनेकी प्रेरणाकी है -

किसी बेकसको ऐ बेदादगर ! मारा तो क्या मारा ?
जो खुद ही मर रहा हो उसको गर मारा तो क्या मारा ?
न मारा आपको जो खाक हो अक्सीर बन जाता ।
अगर पारे को ऐ अक्सीरगर ! मारा तो क्या मारा ?
बड़े मूजीको मारा नफसे अम्माराको गर मारा ।
नहगो अजदहाओ शेरनर मारा तो क्या मारा ?

दूसरा आशय इस सिद्धान्तका यह भी निकाला जासकता है कि जब तक जानावरणीय आदिक कर्म, जो आत्माके परम शत्रु हैं और इस आत्माको ससारमें परिभ्रमण कराकर नाना प्रकारके कष्ट देते हैं, उदयमें आकर इस आत्माको दुःख और कष्ट देवे अथवा ईजा पहुँचावे उससे पहले ही हमको तप-सयमादिरूप धर्माचरणके द्वारा उनको मार डालना चाहिए—उनकी निर्जरा कर देनी चाहिए—जिससे वे हमको ईजा (दुःख) न पहुँचा सके । इन दोनों आशयोंके अतिरिक्त उपर्युक्त सिद्धान्तका यह आशय कदापि नहीं हो सकता है कि किसी प्राणधारीका बध किया जावे । ऐसा आशय करनेसे दयाधर्मके सिद्धान्तमें विरोध आता है । वह सिद्धान्त तब अधर्ममयी हो जानेसे सर्वथा हेय ठहरता है और किसी भी दयाधर्मके माननेवालेको उस पर आचरण नहीं करना चाहिए । यह कैसी खुदगर्जी और अन्याय है कि जिस बातको हम अपने प्रतिकूल समझें या जिसे हम अपने लिए पसन्द न करे उसका आचरण दूसरोंके प्रति करे ।

इसीसे एक फार्सी कविने भी कहा है—“आंचे बर खुद न पसन्दी बर बीगरा मपसन्द” । अर्थात् जिस (व्यवहार) को तू अपने ऊपर पसन्द नहीं करता उसे दूसरों के ऊपर पसन्द मत कर ।

महाजनी मंत्र

महाजनी हिन्दीमें सबसे प्रथम जो अक्षर पढ़ाए जाते हैं उनका उच्चारण क्रमशः इस प्रकार कराया जाता है —

“रा, वै, सै, तै, सू, रे, सै, ती ओ, ना, मा, सी, ध ।”

प्रायः सब लोग इसको वर्णमाला समझते हैं और इसीसे इसका इस प्रकार पृथक्-पृथक् उच्चारण करते हैं, परन्तु वस्तुतः विचार करने-से मालूम होता है कि यह वर्णमाला नहीं है, क्योंकि वर्णमाला इसके प्रस्तावत जब पृथक् रूपसे पढ़ाई जाती है और उपर्युक्त सब अक्षर उसमें आते हैं तब इसको वर्णमाला कैसे माना जा सकता है ? दूसरे इसी वर्ण-समूहमें कई अक्षर—जैसे रकार, मकार, सकार और तकार—कई कई बार आए हैं यदि यह वर्णमाला होती तो एक अक्षरके कई-कई बार आनेकी क्या आवश्यकता थी ? इससे साफ़ तौर पर सिद्ध होता है कि यह अक्षर-समूह वर्णमाला नहीं है, बल्कि कुछ और ही वस्तु है और वह है देव-गुरु-शास्त्रके स्मरणस्वरूप और सिद्धोंको नमस्कार रूप एक मन्त्र या मंगलाचरण, जो सबसे पहले मंगलके लिए बालकोको पढ़ाया जाता था और उसका उच्चारण इस प्रकार होता था तथा होना चाहिए —

“राम सन्त सरस्वती ओ नमः सिद्ध ।”

परन्तु अफसोस है कि आजकल इसके उच्चारणको ऐसा बिगाड़

दिया गया है और इस उच्चारणकी ऐसी प्रबल रुढ़ि पड गई है कि किसीको इसके मंत्र या मंगलाचरण होनेका स्वप्नमे भी ध्यान नही आता और विचारे बालक इस कल्याणकारी मंत्र तथा मंगलपाठसे वंचित रखे जाते हैं ।

इस अशुद्ध उच्चारणके कारणों पर जहाँ तक विचार किया जाता है तो मुख्यतः दो कारण सामने आते हैं । एक तो यह कि इस महाजनी हिन्दीमे मात्राएँ नही होती, जिससे एक अक्षरका उच्चारण अनेक प्रकार हो जाता है । जैसे कि उक्त अक्षर-समूहमे रकारका उच्चारण एक स्थान पर 'रा' और दूसरे स्थान पर 'रे' किया जाता है, इसी तरह सकारका उच्चारण 'से' 'सू' 'सी' के रूपमे तीन प्रकार और मकारका उच्चारण 'मै' तथा 'मा' के रूपमे दो प्रकार किया जाता है । सारांश यह कि इस लिपिमे चाहे किसी अक्षरको किसी मात्राके साथ पढलो, चाहे बिना मात्राके । इसी लिये इस महाजनी हिन्दीको 'गन्दी' कहते हैं, जिसकी अनेक लोकोक्तियाँ प्रचलित हैं ॐ ।

दूसरा कारण यह जान पड़ता है कि इस महाजनीको पढाने वाले प्रायः अविद्वान् पाधा लोग होते हैं । वे विचारे इस बातको कहाँ पहुँच सकते हैं कि यह कोई मंत्र अथवा मंगलाचरण है । वे तो प्रायः यह भी नही जानते कि राम, सन्त और सरस्वती किसको कहते हैं और सिद्ध किसका नाम है । फिर वे बालकोसे किस प्रकार ऐसा शुद्ध उच्चारण करा सकते हैं ? इसीसे यह उपर्युक्त प्रकारसे पृथक् पृथक् अक्षरोंके उच्चारणकी रुढ़ि पड गई है ।

ॐ एक लोकोक्ति यह भी प्रसिद्ध है कि किसी मुनीमने लालाजीके अजमेर जानेकी सूचना और बड़ी बहीकी आवश्यकता होने पर उसके भेजनेकी प्रेरणा करते हुए जो लिखा था कि "लालाजी अजमेर गये बड़ी बहीको भेज दो" वह "लालाजी आज मर गये बड़ी बहूको भेज दो" के रूपमे पडा गया, और ऐसा पढ़ते ही वहाँ हाहाकार मच गया ।

अतः हमारे भाईयोको चाहिये कि वे इस खराब रुढिको दूर करनेका शीघ्र प्रयत्न करे, जिससे प्रारम्भमें ही बालकोको मंत्रमय मांगलिक शब्दोंके उच्चारणका अवसर मिले और उनमें अच्छे संस्कार पड़े। इसके लिये पाठशालाओंमें जो पाषा लोग पढाते हो उन्हें समझाकर हिदायत कर देनी चाहिये कि वे आगामी बालकोको प्रारम्भमें 'राम सन्त सरस्वती ओं नमः सिद्धं' ऐसा मंगलमय शुद्ध पाठ पढाया करे।

उपवास

उपवास एक प्रकारका तप और व्रत होनेसे धर्मका अंग है। विधि-पूर्वक उपवास करनेसे पाँचो इन्द्रियाँ और बन्दरके समान चंचल मन ये सब वशमे हो जाते हैं, साथ ही पूर्व कर्मोंकी निर्जरा होती है। ससारमे जो कुछ दुःख और कष्ट उठाने पड़ते है वे प्राय इन्द्रियो-की गुलामी और मनको वशमे न करनेके कारणसे ही उठाने पड़ते हैं। जिस मनुष्यने अपनी इन्द्रियो और मनको जीत लिया उसने जगत जीत लिया, वह धर्मात्मा है और सच्चा सुख उसीको मिलता है। इस-लिये सुखार्थी मनुष्योका उपवास करना प्रमुख कर्तव्य है। इतिहासो और पुराणोके देखनेसे मालूम होता है कि पूर्व कालमे इस भारत-भूमिपर उपवासका बड़ा प्रचार था। कितने ही मनुष्य कई-कई दिनका ही नहीं, कई-कई सप्ताह, पक्ष तथा मास तकका भी उपवास किया करते थे। वे इस बातको भली प्रकार समझे हुए थे और उन्हें यह दृढ़ विश्वास था कि -

“कर्मन्धन यदज्ञानात् संचितं जन्म-कानने ।

उपवास-शिखी सर्वं तद्भस्मीकुरुते क्षणात् ॥”

“उपवास-फलेन भजन्ति नरा भुवनत्रय-जात-महाविभवान् ।

खलु कर्म-मल-प्रलयादधिरादजराऽमर-केवल-सिद्ध-सुखम् ॥”

‘ससाररूपी वनमे अज्ञानभावसे जो कुछ कर्मरूपी-ईधन संचित होता है उसको उपवासरूपी अग्नि क्षणमात्रमे भस्म कर देती है।’

‘उपवासके फलसे मनुष्य तीन लोककी महा विभवको प्राप्त होते हैं और कर्ममलका नाश हो जानेसे शीघ्र ही अजर अमर केवल सिद्ध-सुखका अनुभव करते हैं।’

इसीसे वे (पूर्वकालीन मनुष्य) प्राय धीरवीर, सहनशील, मनस्वी, तेजस्वी उद्योगी, साहसी, नीरोगी, दृढसकल्पी, बलवान्, विद्यावान्, और सुखी होते थे, जिस कार्यको करना विचारते थे उसको करके छोड़ते थे। परन्तु आज वह स्थिति नहीं है। आज-कल उपवासकी बिल्कुल मिट्टी पलीद है—प्रथम तो उपवास करते ही बहुत कम लोग हैं और जो करते हैं उन्होंने प्राय भूखे मरनेका नाम उपवास समझ रक्खा है। इसीसे वे कुछ भी धर्म-कर्म न कर उपवास-का दिन योही आकुलता और कष्टसे व्यतीत करते हैं—गर्मीके मारे कई कई वार नहाते हैं, मुख धोते हैं मुख पर पानीके छीटे देते हैं, ठंडे पानीमे कपडा मिगो कर छाती आदि पर रखते हैं, कोई कोई प्यास कम करनेके लिये कुल्ला तक भी कर लेते हैं और किसी प्रकार-से यह दिन पूरा होजावे तथा विशेष भूख-प्यासकी बाधा मालूम न होवे इस अभिप्रायसे खूब सोते हैं, चौसर-गाजफा आदि खेल खेलते हैं अथवा कभी कभी का पडा गिरा कोई ऐसा गृहस्थीका घधा या आरम्भका काम ले बैठते हैं जिसमें लगकर दिन जाता हुआ मालूम न पड़े। गरज ज्यों त्यों करके अनादरके साथ उपवासके दिनको पूरा कर देते हैं, न विषय-कषाय छोड़ते हैं और न कोई खास धर्माचरण ही करते हैं। पर इतना जरूर है कि भोजन बिल्कुल नहीं करते, भोजन न करनेको ही उपवास या व्रत समझते हैं और इसीसे धर्मलाभ होना मानते हैं। सोचनेकी बात है कि यदि भूखे मरनेका ही नाम उपवास या व्रत हों तो भारतवर्षमे हजारों मनुष्य ऐसे हैं जिनको कई कई दिनसक भोजन नहीं मिलता है, वे सब ही व्रती और धर्मात्मा ठहरे;

परन्तु ऐसा नहीं है। हमारे आचार्योंने उपवासका लक्षण इस प्रकार वर्णन किया है -

कषाय-विषयाहार-त्यागो यत्र विधीयते ।

उपवासः स विज्ञेयः शेषं लक्षणकं विदुः ॥

अर्थात्—जिसमें कषाय, विषय और आहार इन तीनोंका त्याग किया जाता है उसको उपवास समझना चाहिये, शेष जिसमें कषाय और विषयका त्याग न होकर केवल आहारका ही त्याग किया जावे उसको लघन (भूखा मरना) कहते हैं ।

श्री अमृतगति आचार्य इस विषयमें ऐसा लिखते हैं —

त्यक्त-भोगोपभोगस्य, सर्वारम्भ-विमोचिन ।

चतुर्विधाऽशनत्याग उपवासो मतो जिनैः ॥

अर्थात्—जिसने इन्द्रियोके विषयभोग और उपभोगको त्याग दिया है और जो समस्त प्रकारके आरम्भसे रहित है उसीके जिनेन्द्रदेवसे चार प्रकारके आहार-त्यागको उपवास कहा है । अतः इन्द्रियोके विषयभोग और आरम्भके त्याग किये बिना चार प्रकारके आहारका त्यागना उपवास नहीं कहलाता ।

स्वामी समन्तभद्राचार्यकी उपवासके विषयमें ऐसी आज्ञा है -

पचाचा पापानामलक्रियाऽऽरम्भ-गध-पुष्पाणाम् ।

स्नानाऽस्नान-नस्यानामुपवासे परिहृतिं कुर्मात् ॥१॥ .

धर्ममृत सतृण्ण श्रवणाभ्यां पिबतु पाययेद्धान्यान् ।

ज्ञान ध्यान-परो वा भवतूपवसन्न वन्द्यालु ॥२॥

‘उपवासके दिन पाँचो पापो हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह-का, शृ गारादिक रूपमें शरीरकी सजावटका, आरम्भोका, चन्दन इत्र फुलेल आदि गध द्रव्योंके लेपन का, पुष्पोंके सूँघने तथा माला आदि धारण करनेका, स्नानका, आँखोंमें अजून (सुरमा) लगानेका और नाकमें दवाई डालकर नस्य लेने तथा तमाखू आदि सूँघनेका, त्याग करना चाहिये ।’

‘उपवास करने वालेको उस दिन निद्रा तथा आलस्यको छोड़ कर अति अनुरागके साथ कानो द्वारा धर्माभृतको स्वयं पीना तथा दूसरोको पिलाना चाहिये और साथ ही ज्ञान तथा ध्यानके आराधनमें तत्पर रहना चाहिए ।’

इस प्रकार उपवासके लक्षणा और स्वरूप-कथनसे यह साफतौर पर प्रकट है कि केवल भूखे मरनेका नाम उपवास नहीं है, किन्तु विषय-कषायका त्याग करके इन्द्रियोको वशमे करने, पच पापो तथा आरम्भको छोड़ने और शरीरादिकसे ममत्व परिणामको हटाकर प्राय एकान्त स्थानमे धर्मध्यानके साथ कालको व्यतीत करनेका नाम उपवास है और इसीसे उपवास धर्मका एक अग तथा सुखका प्रधान कारण है ।

जो लोग (पुरुष हो या स्त्री) उपवासके दिन झूठ बोलते हैं, चोरी करते हैं, मैथुन सेवन करते हैं या अपने घर-गृहस्थीके धधोमे लगे रहकर अनेक प्रकारके सावधकर्म (हिसाके काम) एवं छल-कपट करते हैं, मुकदमे लडाते और परस्पर लडकर खून बहाते हैं तथा अनेक प्रकारके उत्तमोत्तम वस्त्राभूषण पहनकर शरीरका शृंगार करते हैं, सोते हैं, ताश, चौपड तथा गजिफा आदि खेल खेलते हैं, हुक्का पीते या तमाखू आदि सूघते हैं और स्वाध्याय, सामायिक, पूजन, भजन आदि कुछ भी धर्म कर्म न करके अनादर तथा आकुलताके साथ उस दिनको पूरा करते हैं वे कैसे उपवासके धारक कहे जा सकते हैं और उनको कैसे उपवासका फल प्राप्त हो सकता है ? सच पूछिये तो ऐसे मनुष्योका उपवास उपवास नहीं है किन्तु उपहास है । ऐसे मनुष्य अपनी तथा धर्म दोनोंकी हँसी और निन्दा कराते हैं, उन्हें उपवाससे प्राय कुछ भी धर्म-लाभ नहीं होता । उपवासके दिन पापाचरण करने तथा सकलेशरूप परिणाम रखनेसे तीव्र पाप बधकी सभावना अवश्य है ।

हमारे लिये यह कितनी लज्जा और शरम की बात है कि उन्हें

पदको धारण करके नीची क्रिया करें अथवा ! उपवासका कुछ भी कार्य न करके अपने आपको उपवासी और व्रती मान बैठें !

इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि विधिपूर्वक उपवास करनेसे पाँचों इन्द्रियाँ और मन शीघ्र ही वशमें हो जाते हैं और इनके वशमें होते ही उन्मार्ग-नामन रुककर धर्म-साधनका अवसर मिलता है। साथ ही उद्यम, साहस, पौरुष, धैर्य आदि सद्गुण इस मनुष्यमें जाग्रत हो उठते हैं और यह मनुष्य पापोंसे बचकर सुखके मार्गमें लग जाता है। परन्तु जो लोग विधिपूर्वक उपवास नहीं करते उनको कदापि उपवासके फलकी यथेष्ट प्राप्ति नहीं हो सकती। उनका उपवास केवल एक प्रकारका कायक्लेश है, जो भावशून्य होनेसे कुछ फलदायक नहीं, क्योंकि कोई भी क्रिया बिना भावोंके फलदायक नहीं होती ('यस्मान् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावः शून्याः')। अतएव उपवासके इच्छुकोको चाहिए कि वे उपवासके, आशय और महत्वको अच्छी तरहसे समझ लें, वर्तमान विरुद्धाचरणोंको त्याग करके श्रीआचार्योंकी आज्ञानुक्रम प्रवर्तें और कमसे कम प्रत्येक अष्टमी तथा चतुर्दशीको (जो पर्वके दिन हैं) अवश्य ही विधिपूर्वक [तथा भावसहित उपवास किया करें]। साथ ही इस बातको अपने हृदयमें जमा लेवें कि उपवासके दिन अथवा उपवासकी अवधि तक व्रतीको कोई भी गृहस्थीका घघा वा शरीरका शृगारादि नहीं करना चाहिए। उस दिन समस्त गृहस्थारम्भको त्याग करके पंच पापोंसे विरक्त होकर अपने शरीरादिकसे ममत्व-परिणाम तथा रागभावको घटाकर और अपने पाँचों इन्द्रियोंके विषयो तथा क्रोध, मान, मायादि कषायोंको वशमें करके एकान्त स्थान अथवा श्रीजिनमन्दिर आदिमें बैठकर ! शास्त्र-स्वाध्याय, शास्त्र-श्रवण, सामा-यिक, पूजन-भजन आदि धर्मकार्योंमें कालको व्यतीत करना चाहिए। निद्रा कम लेनी चाहिए, आर्त-रौद्रपरिणामोंको अपने पास नहीं आने देना चाहिए, हर समय प्रसन्न-वदन रहना चाहिए और इस बातको याद रखना चाहिए कि शास्त्र-स्वाध्यायादि जो कुछ भी धर्मके कार्य

क्रिये ज्ञानों ने सब रुचिपूर्वक और भावसहित होने चाहिये । कोई भी धर्मकार्य बेदिली, झान्तापूरी या अनादरके साथ नहीं करना चाहिये और न इस बातका खयाल तक ही आता चाहिए कि किसी प्रकारसे यह दिन शीघ्र ही पूरा हो जाये, क्योंकि बिना भावोंके सर्व धर्म-कार्य निरर्थक हैं । जैसा कि आचार्योंने कहा है -

भाषहीनस्य पूजादि तपोदान-तपादिकम् ।

व्यर्थं दीक्षादिकं च स्वादजाकटे स्तनाखिब ॥

‘जो मनुष्य बिना भावके पूजादिक, तप, दान और जपादिक करता है अथवा दीक्षादि ग्रहण करता है उसके वे सब कार्य बकरीके गलेमें लटकते हुए स्तनोंके समान निरर्थक है ।’

अर्थात्—जिस प्रकार बकरीके गलेके स्तन निरर्थक हैं, उनसे दूध नहीं निकलता, वे केवल देखने मात्रके स्तन हैं, उस ही प्रकार बिना तदनुकूल भाव और परिणामके पूजन, तप, दान उपवासादि समस्त धार्मिक कार्य केवल दिखावामात्र है—उनसे कुछ भी धर्म-फलकी सिद्धि अथवा प्राप्ति नहीं होती ।

हमारी यह दुर्दशा क्यों ?

एक समय था जब यह भारतवर्ष अपने उत्कर्ष पर था, अन्य देशोंका गुरु बना हुआ था, सब प्रकारसे समृद्ध था और स्वर्गके समान समझा जाता था । यहाँ पर हजारों वर्ष पहलेसे आकाशगामिनी विद्याके जानकार, दिव्य विमानों-द्वारा आकाशमार्गको अवगाहन करनेवाले, वैक्रियक आदि ऋद्धियोंके धारक और अपने आत्मबलसे भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों कालोंका हाल प्रत्यक्ष जाननेवाले विद्यमान थे । भारतकी कीर्ति-लता दशों दिशाओंमें व्याप्त थी । उसका बिज्ञान, कला-कौशल और आत्मज्ञान अन्य समस्त देशोंके लिये अनुकरणीय था । उसमें जिधर देखो उधर प्रायः ऐसे ही मनुष्योंका सद्भाव पाया जाता था जो जन्मसे ही दृढाङ्ग, निरोगी और बलाढ्य थे, स्वभावसे ही जो तेजस्वी, मनस्वी और पराक्रमी थे, रूप और लावण्यमें जो स्वर्गों-के देव-देवाङ्गनाओंसे स्पर्धा करते थे, सर्वाङ्ग सुन्दर और सुकुमार शरीर होनेपर भी वीररससे जिनका अङ्ग-अङ्ग फटकता था, जिनकी वीरता धीरता और दृढ प्रतिज्ञताकी देव भी प्रशंसा किया करते थे; जो कर्मरता, भीरुता और आलस्यको घृणाकी दृष्टिसे देखा करते थे, आत्मबलसे जिनका चेहरा दमकता था; उत्साह जिनके रोम-रोमसे स्फुरायमान था, चिन्ताओंमें जो अपना आत्म-समर्पण करना नहीं जानते थे, जन्मस्वरूपमें शायद कभी जिनको रोगका दर्शन होता-हो;

जो सदैव अपने धर्म-कर्ममें तत्पर और पापोंसे भयभीत थे, जिनको पद-पद पर सच्चे साधुओंका सत्सङ्ग और सदुपदेश प्राप्त था, जो तनिकसा निमित्त पाकर एकदम समस्त सासारिक प्रपञ्चोंको त्यागकर बनोवासको अपना लेते थे और आत्मध्यानमें ऐसे तल्लीन हो जाते थे कि अनेक उपसर्ग तथा परीषद्ओंके आने पर भी चलायमान नहीं होते थे, जो अपने हित-अहितका विचार करनेमें चतुर तथा कला-विज्ञानमें प्रवीण थे और जो एक दूसरेका उपकार करते हुए परस्पर प्रीति-पूर्वक रहा करते थे ।

परन्तु खेद ! आज भारत वह भारत नहीं है । आज भारतवर्षका मुख समुज्ज्वल होनेके स्थानमें मलिन तथा नीचा है । आज वही भारत परतन्त्रताकी बेडियोंमें जकड़ा हुआ है और दूसरोका मुह ताकता है । आज भारतका वह समस्त विज्ञान और वैभव स्वप्नका साम्राज्य दिखाई पड़ता है । और आज उसी भारतवर्षमें हमारे चारो तरफ प्रायः ऐसे ही मनुष्योंकी सृष्टि नज़र आती है जिनके चेहरे पीले पड़ गये हैं, १२-१३ वर्षकी अवस्थासे ही जिनके केश रूपा होने प्रारम्भ हो गये हैं, जिनकी आँखें और गाल बैठ गये हैं, मुहपर जिनके हवाई उड़ती हैं, होठोपर हरदम जिनके खुश्की रहती है, थोड़ासा बोलनेपर मुख और कंठ जिनका सूख जाता है हाथ और पैरोंके तलुओंसे जिनके अग्नि निकलती है, जिनके पैरोंमें जान नहीं और घुटनोंमें दम नहीं, जो लाठीके सहारेसे चलते हैं और ऐनकके सहारेसे देखते हैं, जिनके कमी पेटमें दर्द है तो कमी सिरमें चक्कर, कमी जिनका कान भारी है तो कमी नाक, आलस्य जिनको दबाये रहता है, साहस जिनके पास नहीं फटकता, वीरता जिनको स्वप्नमें भी दर्शन नहीं देती, जो स्वयं अपनी छायासे आप डरते हैं; जिनका तेज नष्ट हो गया है; जो इन्द्रियोंकी विजय नहीं जानते, विषय-सेवनके लिये जो अत्यन्त आतुर रहते हैं परन्तु बहुत कुछ स्त्री-प्रसंग करने पर भी संयोग-सुखका वास्तविक आनन्द जिनको प्राप्त

नहीं होता; प्रमेहसे जिनका शरीर जर्जर है, इस्तहारी दवाओंकी परीक्षा करते करते जिनका चित्त घबरा उठा है, इकीमों, वैद्यों और डाक्टरोंकी दवाई खाते खाते जिनका पेट अस्पताल और औषधालय बन गया है, परन्तु फिरभी जिनको चैन नहीं पड़ता, जिनके विचार शिथिल हैं, जो अपने आत्माको नहीं पहचानते और अपना हित नहीं जानते, स्वार्थने जिनको अन्धा बना रक्खा है, परस्परके ईर्ष्या और द्वेषने जिनको पागल बना दिया है, विज्ञानसे जिनको डर लगता है, पापमयी जिनकी प्रवृत्ति है और चिन्तारूपी ज्वालाओंसे जिनका अन्त करण दग्ध रहता है ।।।

इसीसे आजकल हमारे अधिकांश भारतवासियोंके हृदयोंमें प्रायः इस प्रकारके प्रश्न उठा करते हैं और कभी कभी अपने इष्ट मित्रादिकोंसे वे इस प्रकारका रोना भी रोया करते हैं कि—हमारी शारीरिक अवस्था ठीक क्यों नहीं ? हमारा दिल, दिमाग तथा जिगर (यकृत-Liver) ठीक काम क्यों नहीं करता ? हमारे नेत्रोंकी ज्योति कैसे मन्द है ? कानोंसे हमको कम क्यों सुनाई देता है ? तनिकसा परिश्रम करनेपर हमारे सिरमें चक्कर क्यों आने लगता है ? हम क्यों घुटनों पर हाथ धरकर उठते और बैठते हैं ? थोड़ीसी दूर चलने या जरासी मेहनतका काम करनेपर हम क्यों हाँपने लगते हैं ? हमारा उदर भोजनका पाक ठीक तौरसे क्यों नहीं करता ? क्यों हमेशा कब्ज (Constipation) और बदहजमी (अजीर्णता-Dyspepsia) हमको सताती रहती है ? क्यों चूरन व गोली वगैरहका फिकर हरदम हमारे सिर पर सवार रहता है ? हमारा हृदयस्थल व्यर्थकी चिन्ताओं और झूठे सकल्प-विकल्पोंकी रङ्गभूमि क्यों बना रहता है ? क्यों अनेक प्रकारके रोगोंने हमारे शरीरमें अड़्डा जमा रक्खा है ? हमारा स्वास्थ्य ठीक क्यों नहीं हो पाता ? किसी कार्यका आरम्भ करते हुए हमें डर क्यों लगता है ? कार्यका आरम्भ कर देने पर भी हम क्यों निष्कारण उसे चटसे छोड़ बैठते हैं ? हममें हिम्मत, उत्साह और

कार्य-पशुताका संचार क्यों नहीं होता ? क्यों हमारे हृदयसे धार्मिक विचारधारा सृष्टि उठती जाती है ? हम विषयोंके दास क्यों बनते जाते हैं ? क्यों हम अपने पूर्वज-ऋषि मुनियोंकी तरह आत्मध्यान करने में समर्थ नहीं होते ? क्यों अपने प्राचीन गौरवको भुलाये जाते हैं ? और क्यों हम स्वार्थत्यागी बनकर परोपकारकी ओर दत्त-चित्त नहीं होते ? इत्यादि ।

परन्तु इन सब प्रश्नों अथवा 'हमारी यह दुर्दशा क्यों?' इस केवल एक ही प्रश्नका वास्तविक और सतोषजनक उत्तर जब, उनको प्राप्त नहीं होता अथवा यो कहिये कि जब इन दुर्दशाओंसे छुटकारा पानेका सम्यक् उपाय उन्हें सूझ नहीं पड़ता तो वे बहुत ही खेदस्त्रिप्त होते हैं—कभी कभी वे निराश होकर अपने निःसार जीवनको धिक्कारते हैं, अपने आपको दोष देने लगते हैं और कोई कोई हत-आश्रय तो यहाँ तक हताश हो बैठते हैं कि उनको मरणके सिवाय और कोई शरण ही नजर नहीं आता, और इसलिए वे अपना अपघात तक कर डालते हैं । बहुतसे मनुष्य विपरीत श्रद्धामें पड़कर बारहो महीने दवा खाते खाते अपनी जीवन-यात्रा समाप्त कर देते हैं । उनके मनोरथका पूरा होना तो दूर रहा, उनको प्रकट होने तकका अवसर नहीं मिलता । वे उठ उठकर हृदयके हृदयमें ही विलीन हो जाते हैं । मरते समय उन असिद्ध मनोरथोंकी याद (स्मृति) उन्हें कैसा बेचैन करती होगी और अपने मनुष्य-जन्मके व्यर्थ खोजानेका उनको उस वक्त कितना अफ़सोस तथा पश्चात्ताप होता होगा, इसकी कल्पना सहृदय पाठक स्वयं कर सकते हैं ।

ऊपरके इस वर्णन एवं चित्रणपरसे पाठक इतना तो सहजमें ही जान सकते हैं कि हमारे भारतवासी आजकल कैसी कैसी दुःखावस्थाओंसे घिरे हुए हैं—प्रमाद और अज्ञानने उनको कैसा नष्ट किया है । वास्तवमें यदि विचार किया जाय तो इन समस्त दुःखों और दुर्दशाओंका कारण शारीरिक निर्बलता है । निर्बल शरीरपर सहजमें ही

हमारी यह बुद्धि-क्यों ?

रोगोंका आक्रमण ही जाता है, निर्बलता समस्त रोगोंकी जड़ मानी गई है—एक कमजोरी हजार बीमारी' की कहावत प्रसिद्ध है। जब हमारा शरीर कमजोर है तो हमारे विचार कदापि दृढ़ नहीं हो सकते, जब हमारे विचार दृढ़ नहीं होंगे तो हम कोई भी काम पूर्ण सफलता के साथ सम्पादन नहीं करसकेगे, हमारा चित्त हरवक्त डावाँडोल रहेगा तथा व्यर्थकी चिन्ताओंका नाश्वर बना रहेगा और इन व्यर्थकी चिन्ताओंका नतीजा यह होगा कि हमारा कमजोर दिमाग और भी कमजोर होकर हमारी विचारशक्ति नष्ट हो जावेगी और तब हम हित-अहितका सम्यग्विचार करनेकी योग्यताके न रहनेसे यद्वा तद्वा प्रवृत्ति कर अपना सर्वनाश कर डालेगे।

यही कारण है कि प्राचीन ऋषियोने शारीरिक बलको बहुत मुख्य माना है। उन्होंने लिखा है कि जिस ध्यानसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है वह उत्तम ध्यान उसी मनुष्यके हो सकता है जिसका सहनन उत्तम हो—अर्थात् जिसका शरीर खास तौरसे (निर्दिष्ट प्रकारसे) मजबूत और बज्रका बना हुआ हो। इसी लिये उन्होंने इस शारीरिक बलकी रक्षाके लिये मुख्यतासे ब्रह्मचर्यका उपदेश दिया है और सबसे पहला—अर्थात् गृहस्थाश्रमसे भी पूर्वका—आश्रम 'ब्रह्मचर्याश्रम' कायम किया है। साथ ही वैद्यक शास्त्रके नियमोंको पालन करनेका आदेश भी दिया है, और इन नियमोंको इतना उपयोगी तथा जरूरी समझा है कि उनको धार्मिक नियमोंमे गभित कर दिया है, जिससे मनुष्य—उन्हे धर्म और पुण्यका काम समझकर ही पालन करे। वास्तवमे महर्षियोका यह काम बड़ी ही दूरदर्शिता और बुद्धिमत्तासे सम्बन्ध रखता है। वे अच्छी तरहसे जानते थे कि 'शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनम्' 'धर्मार्थ-काम-मोक्षाणां शरीर साधन स्तम्'—अर्थात् धर्म-साधनका ही नहीं किन्तु धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ऐसे चारो ही पुरुषार्थोंके साधनका सबसे प्रथम और मुख्य कारण शरीर है। शरीरके स्वस्थ और बलाढ्य हुए बिना किसी भी पुरुषार्थका साधन

नहीं बन सकता और पुरुषार्थका साधन किये बिना मनुष्यका जन्म बकरीके गलेमे लटकते हुए स्तनो (थनो)के समान निरर्थक है। ऐसी स्थितिमें जो मनुष्य अपने शरीरकी रक्षाके लिये उक्त नियमोका पालन करता है वह वास्तवमे धर्मका कार्य करता है और उससे अवश्य उसको पुण्य-फलकी प्राप्ति होती है। हम लोगोने ऋषियोके वाक्योका महत्व नहीं समझा और न यह जाना कि शरीरका बली-निर्बली तथा स्वस्थ-अस्वस्थ होना प्राय सब आहार-विवहार पर निर्भर है और आहार-विवहार-सम्बन्धी जितनी चर्या है वह सब प्राय वैद्यकशास्त्रके आधीन है। इसीलिये हम अपने आपको सबसे पहले ब्रह्मचर्याश्रममे नहीं रखते है—एक खास अवस्था तक ब्रह्मचर्यका पालन नहीं करते है—बल्कि उसका निर्मूल करनेके लिये यहाँ तक उद्यत रहते है कि छोटीसी अवस्थामे ही बच्चोका विवाह कर देते हैं। यही कारण है कि हम योग्य आहार-विवहार करना नहीं जानते, और यदि जानते भी है तो प्रमाद या लापरवाहीमे उसके अनुसार प्रवर्तन नहीं करते।

उदाहरणके तौर पर, बहुतसे मनुष्य इस बातको तो जानते हैं कि यदि हम कोई हाडी चूल्हे पर चढ़ावे और उसमे थोडेसे चावल पकनेके लिये डाल देवे, और फिर थोडीसी देरके बाद उसमे और कच्चे चावल डाल देवे, उससे पीछे गेहूँ डाल देवे, उससे कुछ काल पश्चात् कच्चे चने डाल देवे, और उस सेभी कुछ समय बाद फिर कच्चे चावल या और कोई वस्तु डाल देवे और उनमेसे किसीका भी पाक पूरा होनेका अवसर न आने देकर दूसरी दूसरी वस्तु उसमे डालते रहें तो कदापि उस हाडीका पाक ठीक तथा कार्यकारी न होगा। परन्तु यह जानते हुए भी खाने-पीनेके अवसरों पर कुछ ध्यान नहीं रखते—जो वस्तु जिस समय मिल जाती है उसको उसी समय चट कर जाते हैं—इस बातका कुछ विचार नहीं करते कि पहले-का खाया हुआ भोजन हजम होचुका है या कि नहीं? परिणाम जिसका

यह होता है कि खाया-पीया कुछ भी शरीरको नहीं लगता और अनेक प्रकारके अजीर्णादि रोग उत्पन्न हो जाते हैं, जो कभी कभी बड़ी भयकरता धारण कर लेते हैं और प्राण ही लेकर छोड़ते हैं। अंग्रेज लोग प्रायः नियमपूर्वक ठीक और नियत समयपर भोजन करते हैं, अपने डाक्टरोंकी आज्ञाको बड़े आदरके साथ शिरोधार्य करते हैं और बड़े यत्नके साथ स्वास्थ्य-रक्षाके नियमोंका पालन करते हैं, यही वजह है कि उनको रोग बहुत कम सताते हैं और वे प्रायः दृष्ट पुष्ट तथा बलिष्ठ बने रहते हैं। हम लोगोंने वैद्यकशास्त्रमें निष्णात वाग्भट्ट जैसे वैद्यराजोंके वाक्योंकी अवज्ञा की—न उनको पढ़ा और न तदनुसार आचरण किया—और स्वास्थ्यरक्षाके नियमोंसे उपेक्षा धारण की। उसीका यह फल हुआ कि भारतवर्षमें निर्बलताने अपना अड़्डा जमा लिया और हम दिन पर दिन निर्बल तथा निस्तेज होकर प्रायः किसी भी कार्य करनेके योग्य न रहे।

हमारी इस निर्बलताके सक्षेपसे चार कारण कहे जा सकते हैं—पहला पैतृक निर्बलता अर्थात् माता और पिताके शरीरका निर्बल होना, दूसरा स्वास्थ्यरक्षाके नियमोंसे उपेक्षा धारण करना, तीसरा बाल्यावस्थामें अनेक छोटे मागोंसे कच्चे वीर्यका स्खलित होना, और चौथा अच्छी खुराक (Food भोज्य) का न मिलना। इन कारणोंमें यद्यपि पहला कारण, जिसकी उत्पत्ति भी अन्य तीन कारणोंसे ही है, हमारे आधीन नहीं है—अर्थात् माता-पिताकी शारीरिक निर्बलतामें उनकी भावी सन्तान कुछ भी फेर-फार नहीं कर सकती, उनके शरीर में उसका असर अवश्य आता है, परन्तु इससे हमारी प्रायः कुछ हानि नहीं हो सकती यदि हम अन्य तीन कारणोंको अपने पास फटकने न देवे और विधिपूर्वक अच्छे पीष्टिक पदार्थोंका बराबर सेवन करते रहें। ऐसा करनेसे हमारी जन्मसे प्राप्त हुई सब निर्बलता नष्ट हो जावेगी, और हम आगामीके लिये अपनी सन्तानको इस प्रथम कारण-जनित व्यर्थकी पीडासे सुरक्षित रखनेमें समर्थ हो सकेंगे।

दूसरे कारणोंकी बाबत ऊपर संकेत रूपमें बहुत कुछ कहा जा चुका है और यह विषय ऐसा है कि जिस पर बहुत कुछ लिखा जा सकता है। परंतु यहाँपर संक्षेपमें मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि स्वास्थ्य-रक्षाके नियम हम लोगोंको दृढ़ताके साथ पालन करने चाहिये और सर्व-साधारणको उन नियमोंका ज्ञान कराने तथा उन नियमोंका पालन करनेकी प्रेरणा करनेके लिये वैद्यकशास्त्रोंको मथनकर आहार-विहार-सम्बन्धी अत्यंत सरल पुस्तकें तैयार कराकर सर्वसाधारणमें नि स्वार्थ भावसे उनका प्रचार करना चाहिए। यदि वाग्भट्टजीके निम्न श्लोककी छोटी बड़ी टीकाएँ कराकर अथवा अन्य आहार-विहार तथा पूर्ण दिनचर्या-सम्बन्धी पुस्तकें तैयार कराकर स्कूलोंमें भरती कराई जावे तो उनसे बहुत बड़ा उपकार हो सकता है। वह श्लोक यह है—

कालाऽर्थ-कर्मणा योगा हीन-मिथ्या-ऽतिमात्रिका ।

सम्यग्योगश्च विज्ञेयो रोग्याऽऽरोग्यैक कारणम् ॥

इसका सामान्य अर्थ इतना ही है कि—‘कालका हीनयोग, मिथ्यायोग तथा अतियोग, अर्थ (पदार्थ) का हीनयोग, मिथ्या-योग तथा अतियोग, कर्म (क्रियादि) का हीनयोग, मिथ्यायोग तथा अतियोग, ये सब रोगोंके प्रधान कारण हैं, और इन काल, अर्थ तथा कर्मका सम्यक्योग आरोग्यका प्रधान कारण है।’ परन्तु काल, अर्थ और कर्मका वह हीनयोग, मिथ्यायोग, अतियोग और सम्यक्योग क्या है, उसे टीकाओं द्वारा सप्रमाण स्पष्ट करके बतलानेकी जरूरत है, जिससे तद्विषयक ज्ञान विकासको प्राप्त होवे और जनताको सयोग-विरुद्धादिके रूपमें अपनी मिथ्याचर्याका भान हो सके।

तीसरा कारण यद्यपि दूसरे कारणोंकी ही एक शाखा है और उसीकी व्याख्यामें आता है, फिर भी उसपर खासतौरसे दृष्टि रखनेकी जरूरत है। बहुतसे बालक अपनी अज्ञानतासे बचपनकी अत्यंत निन्दनीय खोटी प्रवृत्तियों (Self destroying habits) में फँसकर हमेशाके लिये अपना सर्वनाश कर डालते हैं और फिर सार

उम्र हाथ मल मलकर पड़ताते हैं, इसलिये माता-पिताकी इस विषय-
में बालको पर कड़ी दृष्टि रहनी चाहिये और उनको किसी न किसी
प्रकारसे ऐसी शिक्षा देनेका प्रयत्न करना चाहिये जिससे बालक इस
प्रकारकी खोटी प्रवृत्तियोंमें पड़ने न पावे । अधिकांश माता-पिता इस
और बिल्कुल भी ध्यान नहीं देते और उनकी यह उपेक्षा विचारे
हिताहित-ज्ञान-शून्य बालकोके लिये विषका काम देती है, जिसका
पाप-भार माता पिताओंकी गर्दन पर होता है । अतः माता-पिताओं-
को इस विषयमें बहुत सावधान रहना चाहिये और छोटी अवस्थामें
तो बच्चोका विवाह भूल कर भी नहीं करना चाहिये, बल्कि उनको
कमसे कम २० वर्षकी अवस्था तक ब्रह्मचर्याश्रममें रखना चाहिये,
और यही काल उनके विद्याध्ययनका होना चाहिये । इसके पश्चात्
यह उनकी इच्छा रही कि वे चाहे और विद्याध्ययन करे या विवाह
कराकर गृहस्थाश्रम स्वीकार करे ।

चौथा कारण सबमें प्रधान है, अच्छी खुराकका न मिलना निबं-
लताको उत्तरोत्तर वृद्धिगत करनेवाला है । जब अच्छी खुराक अथवा
उत्तम भोज्य पदार्थोंकी प्राप्ति ही नहीं होगी तो केवल स्वास्थ्य-रक्षा-
के नियमोंके जाननेसे ही क्या लाभ हो सकता है ? वैद्यक-शास्त्र हमें
किसी वस्तुकी उपयोगिता-अनुपयोगिताको बतलाता है, परन्तु किसी
उपयोगी पदार्थकी प्राप्ति करा देना उसका काम नहीं । यह हमारा
काम है कि हम उसका प्रबन्ध करे । इसलिये स्वास्थ्यरक्षाके नियम
भी उस वक्त तक पूरी तौरसे नहीं पल सकते जब तक कि हमारे लिए
अच्छी खुराक मिलने का प्रबन्ध न होवे । वास्तवमें यदि विचार
किया जाय तो मनुष्यके शरीरका सारा खेल उसके भोजन पर निर्भर
है । अच्छे और श्रेष्ठ भोजनसे मनुष्यका शरीर सुन्दर, निरोगी एवं
बलाढ्य बनता है और मनुष्यके हृदयमें उत्तम विचारोंकी सृष्टि होती
है । विपरीत इसके, बुरे अथवा निकृष्ट भोजनसे मनुष्यका शरीर

रोगाक्रान्त एवं निर्बल तैयार होता है और उसमें प्राय छोटे तथा हीन विचार ही उत्पन्न होते हैं। अच्छी खुराक वह वस्तु है कि जिसके प्रभावसे अन्य कारणोंसे उत्पन्न हुई निर्बलताका भी सहज ही में सशोधन हो जाता है। इसीके प्रभावसे रोगोंके आराम होनेमें भी बहुत कुछ सहायता मिलती है।

हम लोग कुछ तो जन्मसे ही निर्बल पैदा हुए, कुछ बचपनकी गलतकारियों—अयोग्य प्रवृत्तियों—एव स्वास्थ्य-रक्षाके नियमोंको न पालन करनेने हमको निर्बल बनाया, और जो कुछ रहा सहा बल था भी, वह अच्छी खुराकके न मिलनेसे समाप्तिको पहुँच गया। हम लोगोंकी सबसे अच्छी खुराक थी घी और दूध, वही हमको प्राप्त नहीं होती। इधर हम लोगोंने गोरस-प्राप्ति और उसके सेवनकी विद्याको भुला दिया उधर धर्म-कर्म-विहीन अथवा मानवतासे रिक्त निर्दय मनुष्योंने घी-दूधकी मैशीन-स्वरूप प्यारी गौओंको बध करना आरम्भ कर दिया और प्रतिदिन अधिकसे अधिक सख्यामें गोवशका विनाश होता रहनेसे घी-दूध इतना अकरा (महँगा) हो गया कि सर्व-साधारणके लिये उसकी प्राप्ति दुर्लभ हो गई। जो घी आजसे कोई १०० वर्ष पहले रुपयेका धडी (५ सेर पक्का) और ७५ वर्ष पहले तीन सेरमें अधिक आता था वही घी आज रुपयेका ३ या ४-छटाक आता है और फिर भी अच्छा शुद्ध नहीं मिलता ❀। इसी प्रकार जो दूध पहले पैसे या डेढ़ पैसे सेर आया करता था वही दूध

❀ मेरे विद्यार्थी जीवन (मन् १८९६ आदि) में, सहारनपुर बोर्डिंग-हाउसमें रहने हुए, मुझे कबल दोरूपये मामिकका घी भेजा जाता था और वह वजनमें प्राय साढ़े तीन सेर पक्का होता था। साथ ही इतना शुद्ध, माफ और सुगन्धित होता था कि उम्र जैसे घीका आज बाजारमें दर्शन भी दुर्लभ हो गया है। यह भारतकी दशाका कितना उलट-फेर है ॥

आज आठ आने, बारह आने अथवा रुपये सेर तक मिलता है और फिर भी उसके खालिस होनेकी कोई गारण्टी नहीं । ऐसी हालतमें पाठकजन स्वयं विचार सकते हैं कि कैसे कोई घी-दूध खा सकता है और कैसे हम लोग पनप सकते हैं ? भारतवर्षमें आजकल शायद मैकडे पीछे दो या तीन मनुष्य ही ऐसे निकलेंगे जिनको घीसे चुपडी रोटी नमीब होती है, शेष मनुष्योंको घी-दूधका दर्शन भी नहीं मिलता और अच्छी तरहमें घी दूधका खाना तो अच्छे अच्छोंको भी नसीब नहीं होता । फिर कहिये यदि भारतमें निर्बलता अपना डेरा अथवा अड्डा न जमावे तो और क्या करे ?

यहाँपर एक बात और भी उल्लेखनीय है और वह यह कि इस महँगीके कारण बहुतमें स्वार्थी-अविवेकी मनुष्य घीमें चर्बी तथा कोकोजम आदि दूसरी वस्तुएँ मिलाने लगे हैं और दूधमें पानी मिला कर अथवा दूधमें मक्खन निकालकर और कोई प्रकारकी पाउडर उममें शामिल करके उसे असली दूधके रूपमें बेचने लगे हैं, जिससे हमारा धर्म-कर्म और आचार-विचार नष्ट होनेके साथ साथ हमारे शरीरमें अनेक प्रकारके नये रोगोंने अपना घर बना लिया है । ऐसे घृणित घी-दूधको खानेवाले शायद यह समझते होंगे कि हम घी-दूध खाते हैं और शायद उनको कभी कभी यह चिन्ता भी होती हो कि घी-दूध खानेपर भी हम दृष्ट-पुष्ट तथा निरोगी क्यों नहीं रहते ? परन्तु यह सब उनकी बड़ी भूल है । उनको समझना चाहिये कि वे वास्तव में घी-दूध नहीं खाते बल्कि एक प्रकारकी विषैली वस्तु खाते हैं जो उनके स्वास्थ्यको बिगाड़कर शरीरमें अनेक प्रकारके रोगोंको उत्पन्न करनेवाली है । एक बार कलकत्तेके किसी व्यापारीका बहीखाता पकड़ा गया था और उससे मालूम हुआ था कि उसने ५००) ६० के साँप चर्बीके लिये खरीद किये थे और उनकी चर्बी घीमें मिलाई गई थी ॥

हा ! हम लोगोंके यह कितने दुर्भाग्यकी बात है कि जिस चर्बीके चापसे ही हमको घृणा आती थी, जिस चर्बीके दर्शनमात्रसे क्रौं (वमन) हो जाती थी और जिस चर्बीके स्पर्शनमात्रसे स्तान करनेकी जरूरत होती थी वही चर्बी घीमें मिलकर हमारे पेटमें पहुँच रही है और पूजन-हवनके लिये पवित्र देवालयेमें जा रही है ॥ इतने पर भी हम लोग हिन्दू तथा जैनी कहलानेका दम भरते हैं, हमको कुछ भी लज्जा अथवा शर्म नहीं आती और न हम इसका कोई सक्रिय प्रतीकार ही करते हैं ॥ जान पड़ता है हमने कभी इस बात पर गम्भीरताके साथ विचार ही नहीं किया कि पहले इतना सस्ता और अच्छा घी-दूध क्यों मिलता था ? यदि हम विचार करते तो हमें यह मालूम हुए बिना न रहता कि पहले प्रायः सभी गृहस्थी लोग दो-दो चार-चार गौएँ रखते थे, बड़े प्रेमके साथ उनका पालन करते थे, गौ-माताओंको अपना जीवनाधार समझते थे और दूध न देने या रोमी होजाने, आदि किसी कारणपर उनको कभी अपनेसे अलग नहीं करते थे, और यदि अलग करनेकी जरूरत ही आ पड़ती थी तो किसी ऐसे भद्र मनुष्यको समर्पण करते थे जो अपनेसे भी अधिक प्रेमके साथ उनको रखने और उनकी प्रतिपालना करनेवाला हो । परिणाम इसका यह होता था कि गौएँ कसाइयोंके हाथमें नहीं जाती थीं, घर-घरमें घी-दूधकी नदियाँ बहती थी और सब लोग आनन्दके साथ अपना जीवन व्यतीत करते थे तथा दृष्ट पुष्ट बने रहते थे । परंतु आजकल हम लोग ऐसे प्रमादी अथवा जॉन्टलमैन हो गये हैं कि हमने गौओंका पालन करना बिल्कुल छोड़ दिया, हमें प्राणोंकी आभारभूल गौओंका रखना ही भार मान्य होता है और हम यह कहकर ही अपना जी ठंडा कर लेते हैं कि “भाय न बच्ची नीद आवे अच्छी !” उसीका यह फल है कि प्रतिदिन हजारों गौओंके गलेपर कुरी फिरती है, घी-दूध हरसे ज्यादा महंगा हो गया और हम लोग शरीरसे कमजोर, कमहिम्मत तथा अनेक प्रकारके रोगोंके

शिकार बनै रहते हैं !! ऐसी अवस्थामें हमलोग कैसे अपनी उन्नति या अपने समाज और देशका सुधार कर सकते हैं ? कदापि नहीं ।

अतः हम भारतवासियोंको बहुत शीघ्र इस ओर ध्यान देकर ऐसा प्रबन्ध करना चाहिये कि जिससे बहुलताके साथ उत्तम घी-दूधकी प्राप्ति होती रहे, और उसके लिये सबसे अच्छा उपाय यही है कि सब लोग पहलेकी तरह अपने घरों पर दो-दो चार-चार गौएँ तथा भैंसे रक्खा करे और कदापि उनको किसी ऐसे अविश्वसनीय मनुष्यके हाथ न बेचे जिससे उनके मारे जानेकी सम्भावना होवे । साथ ही, उनके लिये अच्छी चरागाहों का प्रबन्ध करे और गोचर भूमि छोड़ना हर एक अपना कर्तव्य समझे, जिससे चारे घासका कोई कष्ट न रहे और वे प्रायः जंगलसे ही अपना पेट भरकर घर आया करे । इसके अलावा स्थान स्थान पर ऐसे सुव्यवस्थित और विश्वस्त डेयरी फार्मोंका भी प्रबन्ध होना चाहिये, जिससे साधन-विहीनोको समय पर उचित दामोमें यथेष्टरूपसे शुद्ध घी-दूध मिल जाया करे । यदि हमने शीघ्र ही इस ओर ध्यान न देकर कुछ भी प्रबन्ध न किया और कुछ दिनों और यही हालत चलती रही तो याद रहे कुछ ही वर्षोंमें वह समय भी निकट आजायगा जब दवाईके लिये भी खालिस (शुद्ध) घी-दूध का मिलना दुर्लभ होजायगा और हम लोगों की और भी वह दुर्दशा होगी कि जिससे हमारी तरफ कोई आख उठाकर देखना भी पसन्द नहीं करेगा—हम सब प्रकारसे हीन तथा नगण्य समझे जावेंगे । यदि हम भारतवासी सचमुच ही इन (उपयुक्त) समस्त दुखों और दुर्दशाओंसे छुटकारा चाहते हैं और हममें अपने हित-अहितका कुछ भी विचार अवशेष है तो हमें उक्त चारों प्रकारकी निर्बलताको दूर करनेका शीघ्रसे शीघ्र प्रयत्न करना चाहिये । ज्योंही हम इस निर्बलताको दूर करनेमें सफल होंगे त्योंही हमें फिरसे इस भारतवर्षमें भीम, अर्जुन, महावीर, बुद्ध, राम, कृष्णादि

जैसे वीर पुरुषोंके दर्शन होने लगेंगे और हम सब प्रकारसे अपने मनोरथोंको सिद्ध करनेमें समर्थ हो, सकेंगे॥

॥ यह निबन्ध आजमें कोई १२ वर्ष पहले लिखा गया था और देवबन्द जिला महारनपुरमें प्रकट होने वाले 'कामधेनु' नामक साप्ताहिक पत्रमें ३० भिन्म्वर मन् १९१० में प्रकाशित हुआ था। उस समय घीका भाव रुपयेका प्राय १० छटाक और दूधका तीन आने में-का था। बादको मन् १९८६ में इस वृद्ध आवश्यक 'परिवर्तन' तथा 'परिवर्धन'ों साथ 'अनेकान्त' की मात्रकी किरणमें प्रकाशित किया गया था। उस समय घी-दूधका ही रोगा न था, किन्तु दशमें अन्न तथा दूसरे खाद्य पदार्थोंका भी सकट उपस्थित था। 'अनेकान्त' की उक्त किरणमें ही यह यहाँ उद्धृत किया गया है। आजकी स्थिति और भी ज्यादा खराब है। म्हेगाई उत्तरोत्तर बढ़ रही है। गौण तथा अन्य दुधारु पशु पहले से अधिक मरुया में कट रहै है। जिनमें शुद्ध घी-दूध का अभाव होता जा रहा है। ऐसी स्थितिमें हमें बहुत ही मत्तर्क तथा पावधान होना चाहिये और स्वावलम्बनको गपनाकर सामूहिक प्रयत्नद्वारा उस दोष-पूर्ण परिस्थितिको ही बदल देना चाहिये जिनसे हमारी यह सब दुर्दशा कर रक्खी है और करने को तत्पर है।

जैनियोंमें दयाका अभाव

इस निबन्धका शीर्षक देखते ही पाठक चौंकेगे और कहेंगे कि यह क्या मामला है ? परन्तु नहीं, चौकनेकी बात नहीं है । यदि आप धैर्य और शान्तिके साथ विचार करेंगे, तो आपको स्वयं ही उक्त शीर्षककी स यता सहजमें मालूम हो जायगी ।

इसमें कोई मन्देह नहीं, और न इसमें किसी को कुछ आपत्ति हो सकती है कि जैनधर्म ही दया धर्मका सर्वोत्तम रीतिसे प्रतिपादन करनेवाला है । इसी धर्ममें जीवोंकी जातियाँ, जीवोंके भेद-प्रभेद और उनके उत्पत्ति-स्थान आदि बहुत विस्तारके साथ वर्णन किये गये हैं, जिनके जाने बिना वास्तवमें दया धर्मका पालन नहीं हो सकता । जैनियोंके इस सर्वश्रेष्ठ अहिंसा धर्मकी बहुतसे भिन्न धर्मावलम्बी निष्पक्ष विद्वानोंने मुक्तकंठसे प्रशंसा की है और इस धर्मका बहुत कुछ आभार और उपकार मानते हुए इस बातको स्वीकार किया है कि, जिस समय इस भारत भूमि पर वैदिक धर्मका अधिक प्रचार था उस समय यहाँ पर घोर रूपसे पशुवध होता था—बेवारे मूक पशु मास-लोलुपी वा अधश्चर्यालु मनुष्योंके द्वारा धर्मके व्याजसे यज्ञोंमें होमे जाते थे, घर-घरमें रुधिर और माँसकी कीचड़ मचती थी, लोग इतने निर्दय, स्वार्थपरायण और विवेकशून्य हो गये थे कि मनुष्यो तकको यज्ञमें हवन करते हुए उनका हृदय नहीं

काँपता था । यह जैनधर्मके प्रचारका ही माहात्म्य है कि अब भारत-का कोई भी धर्म उक्त घोर पापको करनेका अनुमोदन नहीं करता है । वैदिक धर्मके शास्त्रोंमें भी अहिंसा वा दया धर्मका उपदेश प्रक्षिप्त हो गया है और इस तरह जैनधर्मके प्रभावसे अहिंसा भारतकी सर्व-प्रिय वस्तु बन गई है ।

सुप्रसिद्ध ब्राह्मण विद्वान् ५० बालगगाधर तिलकने बड़ोदा जैन कान्फेन्समें ३० नवम्बर सन् १९०४ को एक सारगर्भित व्याख्यान दिया था । उसमें उन्होंने कहा था—

‘जैनियोंके ‘अहिंसा परमो धर्म’ इस उदार सिद्धान्तने ब्राह्मण धर्मपर चिर स्मरणीय छाप (मुहर) मारी है । यज्ञ यागादिकोमें पशुओंका वध होकर जो यज्ञार्थ पशु-हिंसा की जाती थी वह आजकल नहीं होती है, यही एक बड़ी भारी छाप जैनधर्मने ब्राह्मण धर्म पर मारी है । पूर्वकालमें यज्ञके लिये असंख्य पशुओंकी हिंसा की जाती थी । इसके प्रमाण कालिदासके मेघदूत काव्यसे ॐ तथा और भी अनेक ग्रन्थोंसे मिलते हैं । रन्तिदेव नामके राजाने जो यज्ञ किया था, उसमें इतना प्रचुर पशुवध हुआ था कि नदीका जल खूनसे लाल हो गया था । उसी समयसे उस नदीका नाम चर्मरवती (चम्बल) प्रसिद्ध है । पशुवधसे स्वर्ग मिलता है, इस विश्वासके विषयमें उक्त कथा साक्षी है । इस घोर हिंसाकी ब्राह्मणधर्मसे विदाई हो जानेका श्रेय जैनधर्मके हिस्सेमें है । ब्राह्मण और हिन्दूधर्ममें मास-भक्षण और मदिरापान बन्द हो गया, “ यह भी जैनधर्मका प्रभाव है । अहिंसाकी और

ॐ मेघदूतके ‘आराध्यैन शरवणभव’ आदि ४७वें श्लोककी सजीवनी टीकामें इस बातका खुलासा यों किया गया है—

पुरा किल राज्ञो रन्तिदेवस्य (दशपुरपतेर्महाराज्यस्य) गवाल-म्मेष्वेकत्र संभूताद्रक्तनिष्पन्दाच्चर्मराशे काचिन्नदी सस्पन्दे । सा चर्मरवतीत्याख्यायते इति ।

दयाकी विशेष प्रीतिसे लोगोके हृदय हिंसाके दुष्कर्मोंसे दुखने लगे और उन्होंने आदेशवश स्पष्ट कह दिया कि, जिस वेदमें हिंसाकी आज्ञा है वह वेद हमकी मान्य नहीं, जो देव हिंसासे प्रसन्न होते हैं उनकी हमको आवश्यकता नहीं, और जिन ग्रन्थोमें हिंसाका विधान हो, वे हमसे दूर रहें। दया और अहिंसाकी ऐसी ही प्रशसनीय प्रीतिसे जैनधर्मको उत्पन्न किया है, स्थिर रक्खा है और इसीसे वह चिर-काल तक स्थिर रहेगा। इस अहिंसाधर्मकी छाप जब ब्राह्मणधर्म-पर पड़ी और हिन्दुओंको अहिंसा पालनकी आवश्यकता हुई तब यज्ञमें पिष्टपशुका (आटेके पशुका) विधान किया गया ॥ ”

श्रीयुत प० मणीलाल नभू माई द्विवेदी बी ए ने ‘सिद्धान्तसार’ नामक पुस्तकमें लिखा है—

“आश्चर्यकी बात है कि आज जो गौ बहुत पवित्र गिनी जाती है, उसका प्राचीन समयमें यज्ञके लिये मारनेका रिवाज था। ब्राह्मणोंके धर्मको, वेदमार्गको और यज्ञकी हिंसाको खरा धक्का इसी (जैन) धर्मने लगाया है, बुद्धके धर्मको अहिंसाका आग्रह नहीं था। उसने केवल वेदमार्गको ही अस्वीकृत किया था। परन्तु जैन धर्मने महा दयारूप-प्रेमरूप धर्मका प्रचार किया।”

इसी प्रकार विलसन कालेज बम्बईके सस्कृत प्रोफेसर श्रीयुत भडकमकर महोदयने अपने एक व्याख्यानमें जैनधर्मके विषयमें जो कुछ कहा है उसका सार यह है —

“यह स्पष्ट है कि बौद्ध कालमें यज्ञ-यागादिक काय बड़ी क्रूरता से होते थे और यज्ञमें पशुओंका हवन किया जाता था, और यह भी पता लगता है कि उस समय इन क्रूर कर्मोंकी ओरसे लोगो-को विरक्त करनेका भी उद्योग होता था। जिसका फल यह हुआ कि जीवोंके प्रतिनिधि स्वरूप दूसरे पदार्थ हवन करके यज्ञ-क्रिया सम्पादन

करनेकी चर्चा होने लगी और कुछ कालके अनन्तर तो यह जीव-हिंसा एक प्रकारसे बन्द ही हो गई थी। इस श्रेयका अधिकारी जैन-धर्म था। उसके दयामय विचारोंका इतना प्रभाव पड़ा था कि उससे वैदिक धर्मको अपना स्वरूप बदलना पड़ा था और उसे अपनेमे जीवदयाको बलात् स्थान देना पड़ा था। अतएव 'जिन' शब्दका जो जयशील वा विजयवान् अर्थ होता है तदनुसार जैनधर्मने लोगोपर प्राचीन कालसे विजय प्राप्त किया है और वह आगे भी करेगा, इसमे सन्देह नहीं है।"

इन सब कथनोंसे यह नतीजा निकलता है कि जैनधर्मही अहिंसा और दयाधर्मका आद्यप्रवर्तक और मूलनायक है। अहिंसा और दयाका असली प्राकृतिक स्वरूप सिवाय जैनधर्मके और किसी भी धर्ममे प्रायः नहीं पाया जाता है। वास्तवमे हमारे पूर्वज बड़े ही दयालु थे। उनका हृदय बड़ा ही विस्तीर्ण और उदार था। दूसरोंका हित करना ही वे अपना मुख्य कर्तव्य समझते थे। उनकी दयालुता, उनकी उदारता केवल अपने घर, अपने कुटुम्ब और अपनी जाति तक ही सकुचित न थी, बल्कि सारे विश्वके नर-नारियो, जैनो-अजैनो और पशु-पक्षियो तक नि स्वार्थ भावसे फैली हुई थी। वे महानुभाव यदि किसी प्राणीको मिथ्यात्वदशा व पाप अथवा दुःखावस्थामे देखते थे तो तुरन्त उनका हृदय दयासे भीग जाता था और जिस-तिस प्रकार वे उसका मिथ्यात्व, पाप अथवा दुःख दूर कानेका यत्न करते थे। इसीसे उनको सुख-शान्तिका प्राप्त होता था। हजारो मिथ्यात्वयोका मिथ्यात्व और लाखो पापियोका पाप छुड़ाकर उनको सच्चे धर्मकी शरणमे लाना तथा सच्चा मार्ग बताना उन्हीका काम था। उन्ही धर्मवीरो और सत्पुरुषोंका यह प्रभाव है, जो भिन्न धर्मावलम्बी (अन्यमती) विद्वान् भी आज जैनियोके दयामय धर्मकी छाप अपने ऊपर स्वीकार करते हैं।

परन्तु जब हम जैनियोकी वर्तमान दशाको देखते हैं तो हमको

बड़ा दुःख तथा शोक होता है और निःसकोच-भावसे कहना पड़ता है कि आजकलके जैनियोंमें प्रायः दयाधर्मका अभाव हो गया है। जैनी प्रायः इतने हीन, स्वार्थी और संकीर्णहृदय बन गये हैं कि, स्वप्नेमें भी कभी दूसरोका उपकार करनेकी तरफ़ इनके हृदयमें नहीं उठती है, जैनियोंके सामने ही कोई किसीको सताओ, किसीका दिल दुखाओ, अन्याय करो, अन्याचार करो और कैसा ही पापका काम क्यों न करो, परन्तु इससे उन्हें क्या ? जैनियोंके हृदय पर इससे कुछ भी चोट नहीं लगती है। लौकिक स्वार्थने इन लोगोको इतना अधा बना दिया है कि दूसरोके दुःखको ये दुःख ही नहीं समझते हैं, दुखियोंके दुःखमें अपनी सहानुभूति दर्शाना और समवेदना प्रगट करना तो मानो इनकी प्रकृतिके विरुद्ध ही हो गया है। शायद इस प्रकारकी उदासीनताको ही ये लोग वीतरागता मान बैठे हो और इसी सुगम रीतिसे इन्होंने वीतराग पदवीका सर्टिफिकेट मिलना सम्भर रक्खा हो। अफसोस ! और शोक ! जो लोग सबसे ऊँचे चढ़े थे, वे आज ऐसे नीचे आ पड़े। आज जैनियोने अपना कर्तव्य भुलाकर अपने वश-गौरव को मिटा दिया। जैनियोकी वर्तमान हालतको देख कर कौन कह सकता है कि कभी जैनी भी ऐसे परोपकारी और दयावान् थे कि, जो जीवमात्रका कल्याण करनेके लिये सदैव आकुलित रहते थे और उनके रोम-रोम और नस नसमें प्रतिक्षण परोपकारमय उत्साह की दामिनि दमकती थी। कौन समझ सकता है कि इनके पूज्य ऐसे स्वार्थत्यागी, उदारचेता, समदृष्टि और निनिमित्त बन्धु हो गये हैं कि जिन्होंने भील, चण्डाल, स्तेच्छ और पापीसे पापी मनुष्य ही को नहीं, बल्कि सिंह, व्याघ्र, शूकर, कूकर गृध्र आदि पशु पक्षियो तक पर दया करके उनको धर्मकी शिक्षा दी थी और उनको जैनधर्म धारण करा कर कल्याणके मार्ग पर लगाया था।

जैनियोके अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामीके समवशरणमें

पशु-पक्षी भी धर्मोपदेश सुननेके लिए आते थे। समवसरणकी बारह सप्ताहोंमें पशु-पक्षियोंकी भी एक सभा थी, जिनको महावीर जिनेन्द्र धर्मका उपदेश देते थे। जैनियोंकी वर्तमान ८४ खापे इस बातको प्रगट कर रही हैं कि जैन महर्षि कैसे दयालु निःसीम परीपकारी और धर्मप्रचारक थे कि, जिन्होंने नीच ऊँच किसीभी वर्णके मनुष्यको जैनी बनानेसे नहीं छोड़ा और किसी भी जीवका हित करनेसे मुँह नहीं मोड़ा।

जिन परीपकारी महात्मा श्रीअकलकदेवने मृतमास-भोजी बौद्ध-सम्प्रदायको बादमे परास्त कर राजा हिमशीतल-सहित हजारो बौद्धोंको जैनी बनाया, उनको आज जैनी अपना पूज्य गुरु मानते हैं और अपनेको उनका अनुयायी बतलाते हैं। परन्तु उनको ऐसा मानते और बतलाते हुए कुछ लज्जा नहीं आती है। क्या जैनियोंकी तरफसे श्री अकलकदेवके अनुयायीपनका सूचक कोई प्रयत्न जारी है? गुरुकी अनुकूलता-प्रदर्शक कोई काम हो रहा है? और किसी भी मनुष्यको जैनधर्मका श्रद्धानी बनाने या सर्व साधारणमे जैनधर्मका प्रचार करनेकी कोई खास चेष्टा की जाती है? यदि यह सब कुछ भी नहीं, तो फिर ऐसे अनुयायीपनसे क्या? खाली गाल बजाने, शेखी मारने और अपनेको उच्च धर्मानुयायी प्रगट करनेसे कुछ भी नतीजा नहीं है। निस्सन्देह 'अकलकस्तोत्र' के "नाहकारवशीकृतेन मनसा" इत्यादि वाक्यमें श्री अकलकदेवकी जिस कारुण्य-बुद्धिका उल्लेख है, उसका आज जैनियोमे अभाव है। जैनी इस बातको

॥ यह पूरा वाक्य इस प्रकार है —

नाऽहकार-वशीकृतेन मनसा न द्वेषिणा केवल

नैरात्म्य प्रतिपद्य नश्यति जने कारुण्यबुद्ध्या मया

राज्ञ श्रीहिमशीतलस्य सदसि प्रायो विदग्धात्मना ।

बौद्धौघान् सकलान्विजित्य स घट पादेन विस्फालित ॥

जानते और मानते हैं कि मिथ्यात्व (अतत्त्वश्रद्धान) के समान और कोई इस जीवात्माका अहित और अनिष्ट करनेवाला विनिष्ट शत्रु नहीं है। इसी अतत्त्वश्रद्धानके कारण यह जीव संसारमें नाना प्रकार के कष्ट, दुःख और सन्ताप भोगता हुआ चतुर्गतिमें भ्रमण करता फिरता है। न कही इसको शान्ति मिलती है, न कही सुखकी प्राप्ति होती है। वे प्रत्यक्ष इस बातका अनुभव भी कर रहे हैं कि इसी मिथ्याश्रद्धानके कारण संसारमें घोर पापोंकी प्रवृत्ति हो रही है और जगतके जीव अपने पापकर्मोंके फलस्वरूप नाना प्रकारकी दुःखावस्थामें घिरे हुए सविलाप कष्ट भोग रहे हैं। परन्तु फिर भी उन करुणा-पात्रोंपर इन जैनियोंको तनिकभी करुणा नहीं आती है। जैनी किसीभी जीवका मिथ्यात्वादि छुड़ाकर उसको सम्यक् श्रद्धानी, सम्यक्ज्ञानी और सम्यगाचरणी बनानेका कुछ भी प्रयत्न नहीं करते हैं, इससे अधिक कठोर चित्तवृत्ति और क्या हो सकती है? अफसोस! जैनी लोग अपने घरोंमें चिल्ला चिल्लाकर यह बात कहते हैं कि जैनधर्म ही जगतके जीवोंका उद्धार करनेवाला है, परन्तु फिर भी वे किसीको जैनधर्मसे अपना उद्धार करनेका अवसर नहीं देते हैं। न तो वे दूसरोंको जैनधर्म बतलाते हैं, न सर्वदेशोंकी सर्वभाषाओंमें अनेक रीतियों और युक्तियोंसे अपने धर्म-ग्रन्थोंको प्रकाशित करके, सर्व साधारणके लिये जैनधर्मकी शिक्षा प्राप्त करनेका मार्ग सुगम करते हैं। इससे प्रगट है कि इनके हृदयोंमें दयाका संचार नहीं है और इसीलिए यह कहना बिल्कुल सत्य है कि आजकल जैनियोंमें दयाका प्रायः अभाव है।

कथन हमारे बहुतसे भोले जैनी केवल हरी और कन्दमूलका त्याग करनेसे ही अपनेको दयावान् समझते हैं। परन्तु यदि हमें उनका यह लोक-प्रचारसे प्रेरित हुआ प्रक्रम त्याग केवल बाह्यसम्बर और लोकद्विखावाके सिक्के और कुछ भी अर्थ नहीं रखता। बस जिन लोगोंको पंचेन्द्रिय प्राणियों पर दया नहीं आती, पापियोंका

पाप, अज्ञानियोका अज्ञान और मिथ्यावियोका मिथ्यात्व छुड़ानेमे जिनकी प्रवृत्ति नहीं होती, जो सप्तव्यसन और पचपापोका त्याग नहीं करते, जो अपने भाईयोको सताने और दुःख देनेमे आगा-पोछा नहीं सोचते और जिनके हृदय छल-कपट, ईर्ष्या-द्वेष, अन्याय-द्रोह और बैर-विरोधसे परिपूर्ण हैं, उनके दिलोमे दृष्टिमे भी न आनेवाले एकेन्द्रिय जीवोकी रक्षाका भाव होना कब कोई अनुमान कर सकता है ? कदापि नहीं । इसलिए जिन भाईयोका ऐसा खयाल हो भी, उनको अपना खयाल बदल देना चाहिये और लोक-प्रवाहमे न बह कर बाह्याडम्बर और बनावटको छोड़कर अन्त शुद्धिकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिये और अपने दोषोका सशोधन-पूर्वक सच्ची दयाको हृदयमे स्थान देकर जिनधर्मकी महिमा प्रकट करनी चाहिए । इसीमे जाति और देशका कल्याण है और इसीसे जैनी अपने उस कलकको दूर करनेमे समर्थ हो सकते हैं जो अपने पूज्य पुरुषोकी पवित्र कीर्ति और नामको बट्टा लगानेसे उनके मस्तकपर चढ़ा है ।

आशा है हमारे धर्मोपकारी, धर्मवीर और जैनधर्मके सच्चे प्रेमी अब अपनी गाढ निद्राको त्यागकर अपने कर्तव्यकी ओर भुकेगे, अपने भाईयोकी हालत सुधारेगे, उनका अज्ञान-प्रमाद दूर करेगे, उनके हृदयोमे कारुण्य-जलका स्रोत बहाएँगे उनसे परोपकार-व्रत धारण कराएँगे और जहाँतक बनेगा पापियों अज्ञानियों और मिथ्यादृष्टियों पर दया करके उनका पाप, अज्ञान और मिथ्यात्व छुड़ाएँगे । साथ ही श्री अकलकदेव सरीखी 'कारुण्यबुद्धि' को हृदयमे धारण कर स्वजाति-विजाति, देशी-विदेशी, आर्य-म्लेच्छ और जैनी-अजैनी सब ही प्राणियोको जिनवचनामृतका पान कराकर—जैनधर्मकी शरण में लाकर—उनका हित-साधन करेगे और इस प्रकार जैनधर्मके लुप्त-प्राय गौरवको पुनः उज्जीवित करनेमे समर्थ होंगे ।

जिन-पूजाधिकार-मीमांसा

उत्थानिका

जो मनुष्य जिन मतको मानता है—जिस धर्मका श्रद्धालु और अनुयायी है—वह उसी मत वा धर्मके पूज्य और उपास्य देवताओंकी पूजा-उपासना करता है। परन्तु आजकलके कुछ जैनियोंका खयाल इस सिद्धान्तके विरुद्ध है। उनकी समझमें प्रत्येक जैनधर्मानुयायीको (जैनीको) जिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेका अधिकार नहीं है। उनकी कल्पनाके अनुसार बहुतसे लोग जिनेन्द्रदेवके पूजकोकी श्रेणीमें अवस्थान नहीं पाते। चाहे वे लोग अन्यमतके देवी-देवताओंकी पूजा और उपासना भले ही करें, पर जिनेन्द्रदेवकी पूजा और उपासनासे अपनेको कृतार्थ नहीं कर सकते ❀। शायद उनका ऐसा श्रद्धान हो कि ऐसे लोगोंके पूजन करनेसे महान् पापका बन्ध होता है और वह पाप शास्त्रोक्त नियमोंका उलघन करके सक्रामक रोगकी तरह अड़ौ-सियो-पड़ौसियो, मिलने-जुलनेवालों और खासकर सजातियोंको पिचलता फिरता है। परन्तु यह केवल उनका भ्रम है और आज

❀ इसी प्रकारके विचारोंसे खातौली (जिला मुजफ्फरनगर) के दस्सा और बीसा जैनियोंके मुकद्दमेका जन्म हुआ और ऐसे ही प्रौढ विचारोंसे सर्धना (जिला मेरठ) के जिनमदिरोको करीब करीब तीन साल तक ताला लगा रहा ॥

इसी भ्रमको दूर करने अर्थात् श्रीजिनेन्द्रदेवके पूजनका किस किसको अधिकार है, इस विषयकी मीमासा और विवेचना करनेके लिये यह निबन्ध लिखा जाता है ।

पूजन-सिद्धान्त

* जैनधर्मका यह सिद्धान्त है कि यह आत्मा जो अनादि कर्ममलसे मलिन हो रहा और बिभावपरिणतिरूप परिणाम रहा है, वही उन्नति करते करते कर्ममलको दूर करके परमात्मा बन जाता है । आत्मासे भिन्न और पृथक् कोई एक ईश्वर या परमात्मा नहीं है । आत्माकी परमविशुद्ध अवस्थाका नाम ही परमात्मा है — अरहत जिनेन्द्र, जिन-देव, तीर्थंकर, सिद्ध, सार्व, सर्वज्ञ, वीतराग, परमेष्ठि, परमज्योति, शुद्ध, बुद्ध, निरजन, निर्विकार, आप्त, ईश्वर परब्रह्म, इत्यादि उसी परमात्मा या परमात्मपदके नामान्तर हैं—या दूसरे शब्दोंमें यो कहिये कि परमात्मा आत्मीय अनन्त गुराणोंका समुदाय है । उसके अनन्त गुराणोंकी अपेक्षा अनन्त नाम हैं । वह परमात्मा परम वीतरागी और शान्तस्वरूप है, उसको किसीसे राग या द्वेष नहीं है, किसीकी स्तुति, भक्ति और पूजासे वह प्रसन्न नहीं होता और न किसीकी निन्दा, अवज्ञा या कटु शब्दोंसे अप्रसन्न होता है, धनिक श्रीमानों, विद्वानों और उच्च श्रेणी या वरुणोंके मनुष्योंको वह प्रेमकी दृष्टिसे नहीं देखता और न निर्धन-कगालों, मूर्खों तथा, निम्नश्रेणीके मनुष्योंको घृणाकी दृष्टिसे अवलोकन करता है, न सम्प्रदृष्टि उसके कृपापात्र हैं और न सिध्यादृष्टि उसके कोपभाजन, बहू परमानन्दमय और कृदकृत्य है सांसारिक भगवत्से उसका कोई प्रयोजन नहीं । इसलिये जैनोंकी उपासना, भक्ति और पूजा हिन्दू मुसलमान और ईसाइयोंकी तरह परमात्माको प्रसन्न करनेके लिये नहीं होती । उसका एक दूसरा ही उद्देश्य है जिसके कारण वे ऐसा करना अपना कर्तव्य समझते हैं और वह संक्षिप्तरूपसे इस प्रकार है :—

‘यह जीवात्मा स्वभावसे ही अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त-सुख और अनन्तवीर्यादि अनन्त-शक्तियोंका आधार है । परन्तु अनादि-कर्ममलसे मलिन होनेके कारण इसकी वे समस्त शक्तियाँ आच्छादित हैं—कर्मोंके पटलसे वेष्टित हैं—और यह आत्मा ससारमें इतना लिप्त और मोह-जालमें इतना फँसा हुआ है कि उन शक्तियों-का विकास होना तो दूर रहा, उनका स्मरण तक भी इसको नहीं होता । कर्मके किंवित् क्षयोपशमसे जो कुछ थोड़ा बहुत ज्ञानादि-लाम होता है, यह जीव उतनेमें ही सन्तुष्ट होकर उसीको अपना स्वरूप समझने लगता है । इन्हीं ससारी जीवोंमेंसे जो जीव अपनी आत्म-निधिकी सुधि पाकर घातुभेदीके सदृश प्रशस्त ध्यानाग्निके बलसे, इस समस्त कर्ममलको दूर कर देता है, उसमें आत्माकी वे सम्पूर्ण स्वाभाविक शक्तियाँ सर्वतोभावसे विकसित हो जाती हैं और तब वह आत्मा स्वच्छ और निर्मल होकर परमात्मदशाको प्राप्त हो जाता है तथा ‘परमात्मा’ कहलाता है । केवलज्ञान (सर्वज्ञता) की प्राप्ति होनेके पश्चात् जबतक देहका सम्बन्ध बाकी रहता है, तब तक उस परमात्माको सकलपरमात्मा (जीवन्मुक्त) या अरहत कहते हैं, और जब देहका सम्बन्ध भी छूट जाता है और मुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है तब वही सकलपरमात्मा निष्कलपरमात्मा (विदेहमुक्त) या सिद्ध नामसे विभूषित होता है । इस प्रकार अवस्थाभेदसे परमात्माके दो भेद कहे जाते हैं । वह परमात्मा अपनी जीवन्मुक्तावस्थामे अपनी दिव्यवाणीके द्वारा ससारी जीवोंको उनकी आत्माका स्वरूप और उसकी प्राप्तिका उपाय बतलाता है अर्थात् उनकी आत्मनिधि क्या है, कहाँ है, किस किस प्रकारके कर्मपटलोसे आच्छादित है, किस किस उपायसे वे कर्मपटल इस आत्मासे जुदा हो सकते हैं, संसारके अन्य समस्त पदार्थोंसे इस आत्माका क्या सम्बन्ध है, दुःखका, सुखका और संसारका स्वरूप क्या है; कैसे दुःखकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति हो सकती है, इत्यादि समस्त बातोंका विस्तारके

साथ सम्यक् प्रकार निरूपण करता है, जिससे अनादि अविद्याप्रसित संसारी जीवोंको अपने कल्याणका मार्ग सूझता है और अपना हित-साधन करनेमें उनकी प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार परमात्माके द्वारा जगतका निःसीम उपकार होता है। इसी कारण परमात्माके सार्व, परमहितोपदेशक, परमहितैषी और निर्निमित्तबन्धु इत्यादि भी नाम हैं। इस महोपकारके बदलेमें हम (संसारी जीव) परमात्माके प्रति जितना आदर-सत्कार प्रदर्शित करें और जो कुछ भी कृतज्ञता प्रगट करें वह सब तुच्छ है। दूसरे जब आत्माकी परम स्वच्छ और निर्मल अवस्थाका नाम ही परमात्मा है और उस अवस्थाको प्राप्त करना अर्थात् परमात्मा बनना सब आत्माओंका अभीष्ट है, तब आत्मस्वरूपकी या दूसरे शब्दोंमें परमात्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिये परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना करना हमारा परम कर्तव्य है। परमात्माका ध्यान, परमात्माके अलौकिकचरित्रका विचार और परमात्माकी ध्यानावस्थाका चिन्तन ही हमको अपनी आत्माकी याद दिलाता है—अपनी भूली हुई निधिकी स्मृति कराता है। परमात्माका भजन और स्तवन ही हमारे लिये अपनी आत्माका अनुभवन है। आत्मोन्मत्तिमें अग्रसर होनेके लिये परमात्मा ही हमारा आदर्श है। आत्मीय-गुणोंकी प्राप्तिके लिये हम उसी आदर्शको अपने सम्मुख रखकर अपने चरित्रका गठन करते हैं। अपने आदर्श-पुरुषके गुणोंमें भक्ति और अनुरागका होना स्वाभाविक और जरूरी है। बिना अनुरागके किसी भी गुणकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जो जिस गुणका आदर-सत्कार करता है अथवा जिस गुणसे प्रेम रखता है, वह उस गुणके गुणीका भी अवश्य आदरसत्कार करता है और उससे प्रेम रखता है, क्योंकि गुणीके आश्रय बिना कहीं भी गुण नहीं होता। आदर-सत्काररूप प्रयत्नका नाम ही पूजन है। इसलिये परमात्माके प्रति

ॐ इन्ही कारणोंसे अन्य वीतरागी साधु और महात्मा भी,

समस्त कारणोंसे हमारा परमपूज्य उपास्य देव है और द्रव्यदृष्टिसे समस्त आत्माओंके परस्पर समान होनेके कारण वह परमात्मा सभी ससारी जीवोंका समान-भावसे पूज्य है । यही कारण है कि परमात्माके 'त्रैलोक्यपूज्य' और 'जगत्पूज्य' इत्यादि नाम भी कहे जाते हैं । परमात्माका पूजन करने, परमात्माके गुणोंमें अनुराग बढ़ाने और परमात्माका भजन और चिन्तन करनेसे इस जीवात्मा-को पापोंसे बचनेके साथ साथ महत्पुण्योपार्जन होता है । जो जीव परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना नहीं करता, वह अपने आत्मीय गुणोंसे पराङ्मुख और अपने आत्मलाभसे वंचित रहता है—इतना ही नहीं, किन्तु वह कृतघ्नताके दोषसे भी दूषित होता है ।

अतः परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना करना सबके लिये उपादेय और जरूरी है ।

परमात्मा अपनी जीवन्मुक्तावस्था अर्थात् अर्हन्त-अवस्थामें सदा और सर्वत्र विद्यमान नहीं रहता, इस कारण परमात्माके स्मरणार्थ और परमात्माके प्रति आदर-सत्काररूप प्रवर्तनके आलम्बनस्वरूप उसकी अर्हन्त अवस्थाकी भूति बनाई जाती है । वह भूति परमात्माके वीतरागता, शान्तता और ध्यानमुद्रा आदि गुणोंका प्रतिबिम्ब होती है । उसमें स्थापनानिक्षेपसे मन्त्रोद्धार परमात्माकी प्रतिष्ठा की जाती

जिनमें आत्माकी कुछ शक्तियाँ विकसित हुई हैं और जिन्होंने अपने उपदेश, आचरण और शास्त्रनिर्माणसे हमारा उपकार किया है, वे सब हमारे पूज्य हैं ।

अहसान फरामोशी या किये हुए उपकारको भूल जाना कृतघ्नता है ।
“अभिमतफलसिद्धिरभ्युपायः सुबोध प्रभवति स च शास्त्रान्तस्य चोत्पत्ति-
राप्तात् । इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धेर्न हि कृतमुपकार
साधवो विस्मरन्ति ॥”

—गोम्मटसार-टीका

है। उसके पूजनेका भी समस्त वही उद्देश्य है, जो ऊपर वर्णन किया गया है, क्योंकि मूर्तिके पूजनसे घातु-पाषाणका पूजना अभिप्रेत (इष्ट) नहीं है, बल्कि मूर्तिके द्वारा परमात्माहीकी पूजा, भक्ति और उपासना की जाती है। इसीलिये इस मूर्तिपूजनके जिनपूजन, देवार्चन, जिनार्चा, देवपूजा इत्यादि नाम कहे जाते हैं और इसीलिये इस पूजनको साक्षात् जिनदेवके पूजनतुल्य वर्णन किया है। यथा —

भक्त्याऽर्हत्प्रातिमा पूज्या कृत्रिमाऽकृत्रिमा सदा ।

यतस्तद्गुणसकल्पात्प्रत्यहं पूजितो जिन ॥

— धर्ममग्रहश्रावकाचार अ०६, श्लोक ४२

परमात्माकी इस परमशान्त और वीतरागमूर्तिके पूजनमें एक बड़ी भारी खूबी और महत्वकी बात यह है कि जो ससारी जीव ससारके मायाजाल और गृहस्थीके प्रपचमें अधिक फँसे हुए हैं, जिनके चित्त अति चंचल है और जिनका आत्मा इतना बलाढ्य नहीं है कि जो केवल शास्त्रोंमें परमात्माका वर्णन सुनकर एकदम बिना किसी नकशी के परमात्मस्वरूपका नकशा (चित्र) अपने हृदयमें खींच सके या परमात्मस्वरूपका ध्यान कर सके, वे भी उस मूर्तिके द्वारा परमात्मस्वरूपका कुछ ध्यान और चिन्तन करनेमें समर्थ हो जाते हैं और उसीसे आगामी दुखों और पापोंकी निवृत्तिपूर्वक अपने आत्मस्वरूपकी प्राप्तिमें अग्रसर होते हैं।

जब कोई चित्रकार चित्र खींचनेका अभ्यास करता है तब वह सबसे प्रथम सुगम और सादा चित्रोंपरसे, उनको देखदेखकर, अपना चित्र खींचनेका अभ्यास बढ़ाता है, एकदम किसी कठिन, गहन और गम्भीर चित्रको वह नहीं खींच सकता। जब उसका अभ्यास बढ़ जाता है तब कठिन, गहन और रंगीन चित्रोंको भी सुन्दरताके साथ बनाने लगता है और छोटे चित्रको बड़ा और बड़ेको छोटा भी करने लगता है। आगे जब अभ्यास करते करते वह चित्र-विद्यामें पूरी तौरसे निपुण और निष्णात हो जाता है, तब वह चलती-फिरती,

दोड़ती-भागती वस्तुओंका भी चित्र बड़ी सफाईके साथ बातकी बातमें खींचकर रख देता है और चित्र-नायकको न देखकर, केवल व्यवस्था और हाल ही मालूम करके उसका साक्षात् जीता-जागता चित्र भी अंकित कर देता है। उसी प्रकार यह संसारी जीव भी एकदम परमात्मस्वरूपका ध्यान नहीं कर सकता अर्थात् परमात्माका फोटो अपने हृदयपर नहीं खींच सकता, वह परमात्माकी परम वीतराग और शान्त मूर्तिपरसे ही अपने अभ्यासको बढ़ाता है। मूर्तिके निरन्तर दर्शनादि अभ्याससे जब उस मूर्तिकी वीतरागछवि और ध्यान-मुद्रासे वह परिचित हो जाता है, तब शनैः शनैः एकान्तमें बैठकर उस मूर्तिका फोटो अपने हृदयमें खींचने लगता है और फिर कुछ देर तक उसको स्थिर रखनेके लिये भी समर्थ होने लगता है। ऐसा करने पर उसका मनोबल और आत्मबल बढ़ जाता है और वह फिर इस योग्य हो जाता है कि उस मूर्तिके मूर्तिमान् श्रीअरहतदेवका समवसरणादि विभूति-सहित साक्षात् चित्र अपने हृदयमें खींचने लगता है। इस प्रकारके ध्यानका नाम रूपस्थध्यान है और यह ध्यान प्रायः मुनि-अवस्थामें ही होता है।

आत्मीय बलके इतना उन्नत हो जानेकी अवस्थामें फिर उसको धातु-पाषाणकी मूर्तिके पूजनादिकी या दूसरे शब्दोंमें यो कहिये कि परमात्माके ध्यानादिके लिये मूर्तिका अवलम्बन लेनेकी जरूरत बाकी नहीं रहती, बल्कि वह रूपस्थध्यानके अभ्यासमें परिपक्व होकर और अधिक उन्नति करता है और साक्षात् सिद्धोंका चित्र भी खींचने लगता है, जिसको रूपातीतध्यान कहते हैं। इस प्रकार ध्यानके बलसे वह अपनी आत्मासे कर्ममलको छाटता रहता है और फिर उन्नतिके सोपानपर चढ़ता हुआ शुद्धध्यान लगाकर समस्त कर्मोंको क्षय कर देता है और इस प्रकार आत्मत्वको प्राप्त कर लेता है। अभिप्राय इसका यह है कि मूर्तिपूजन आत्मदर्शनका प्रथम सोपान है और उसकी आवश्यकता प्रथमावस्था (गृहस्था-

वस्था) में ही होती है। बल्कि दूसरे शब्दोंमें यो कहना चाहिये कि जितना जितना कोई नीचे दर्जेमें है, उतना उतना ही जियादा उसको मूर्ति पूजनकी या मूर्तिका अवलम्बन लेनेकी जरूरत है। यही कारण है कि हमारे आचार्योंने गृहस्थोंके लिये इसकी खास जरूरत रखी है और नित्य पूजन करना गृहस्थोंका मुख्य धर्म वर्णन किया है।

सर्वसाधारणाऽधिकार

भगवज्जिनसेनाचार्यने श्रीआदिपुराणमें लिखा है -

दान पूजा च शील च दिने पर्वण्युपोषितम् ।

धर्मश्चतुर्विध सोऽयमाग्नातो गृहमेधिनाम् ॥ ४१-१०४

अर्थात्—दान, पूजन, व्रतोंका पालन (व्रतानुपालन शील) और पर्वके दिन उपवास करना, यह चार प्रकारका गृहस्थोंका धर्म है।

अमितगतिश्रावकाचारमें श्रीअमितगति आचार्यने भी ऐसा ही वर्णन किया है। यथा —

दान पूजा जिनै शीलमुपवामश्चतुर्विध ।

श्रावकाणां मतो धर्म संसारारण्यपावक ॥ ६-१

श्रीपद्मनन्दि आचार्य, पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकामे, श्रावकधर्मका वर्णन करते हुए लिखते हैं—

देवपूजा गुरुपास्ति स्वाध्याय सयमस्तप ।

दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्मणि दिने दिने ॥ ६-७

अर्थात्—देवपूजा, गुरुसेवा, स्वाध्याय, सयम, तप और दान, ये षट् कर्म गृहस्थोंको प्रतिदिन करने योग्य हैं। भावार्थ—धार्मिकदृष्टिसे गृहस्थोंके ये सर्वसाधारण नित्यकर्म हैं।

श्रीसोमदेवसूरि भी यशस्तिलकमें वर्णित उपासकाध्ययनमें इन्हीं षट् कर्मोंका, प्राय इन्हीं (उपयुल्लिखित) शब्दोंमें गृहस्थोंको उपदेश देते हैं —

देवसेवा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः सयमस्तपः ।

दानं चेति गृहस्थानां षट्कर्माणि दिने दिने ॥ ४६-७

गृहस्थोंके लिये पूजनकी आवश्यकताको प्रगट करते हुए श्री-पद्मनन्दि आचार्य फिर लिखते हैं—

ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न ।

निष्फल जीवितं तेषां तेषां धिक् च गृहाभसम् ॥ ६-१५

अर्थात्—जो जिनेन्द्रका दर्शन, पूजन और स्तवन नहीं करते हैं उनका जीवन निष्फल है और उनके गृहस्थाश्रमको धिक्कार है । इसी आवश्यकताको अनुभव करते हुए श्री मकलकीर्ति आचार्य सुभाषितावलीमें यहाँ तक लिखते हैं—

पूजा बिना न कुर्वन्त भोगसौख्यादिक कदा ।

अर्थात्—गृहस्थोंको बिना पूजनके कदापि भोग और उपभोगादिक नहीं करना चाहिये । सबसे पहले पूजन करके फिर अन्य कार्य करना चाहिये ।

श्रीधर्मसम्प्रदायकाचार्य, गृहस्थाश्रमका स्वरूप वर्णन करते हुए, लिखा है—

इज्या वार्त्ता तपो दान स्वाध्यायः सयमस्तथा ।

ये षट्कर्माणि कुर्वन्त्यन्वह ते गृहिणो मता ॥ ६-२६

अर्थात्—इज्या (पूजन), वार्त्ता (कृषिवाणिज्यादि जीवनोपाय) तप, दान, स्वाध्याय, और सयम, इन छह कर्मोंको जो प्रतिदिन करते हैं वे गृहस्थ कहलाते हैं । भावार्थ—धार्मिक और लौकिक, उभयदृष्टिसे ये गृहस्थोंके छह नित्यकर्म हैं । गुरुपास्ति जो ऊपर वर्णन की गई है वह इज्याके अन्तर्गत होनेसे यहाँ पृथक् नहीं कही गई ।

भगवज्जिनसेनाचार्य आदिपुराणके पर्व ३८ में निम्नलिखित श्लोको-द्वारा यह सूचित करते हैं कि ये इज्या, वार्त्ता आदि कर्म उपासक सूत्रके अनुसार गृहस्थोंके षट्कर्म हैं । आर्यषट्कर्मरूप प्रवर्त्तना ही गृहस्थोंकी कुलधर्म है, जिसे कुलधर्म भी कहते हैं—

इज्यां वार्तां च दक्षिं च स्वाध्यायं संयमं तपः ।

श्रतोपासकसूत्रत्वात् स तेभ्यः समुपादिशत् ॥२४॥

विशुद्धा वृत्तिरस्यार्यषट्कर्मनुप्रवर्त्तनम् ।

गृहिणा कुलचर्येष्टा कुलधर्मोऽप्यसौ मतः ॥१४४॥

श्रीचामुण्डरायने चारित्रसारमे और विद्वद्वर ५० आशाधरजीने सागारधर्मामृतमे भी इन्ही षट्कर्मोंका वर्णन किया है । इन षट्कर्मोंमें दान और पूजन, ये दो कर्म सबसे मुख्य हैं । इस विषयमे पं० आशाधरजी सागारधर्मामृत(१-१५) मे लिखते हैं—

दान-यजन-प्रधानो ज्ञानसुधा श्रावकः पिपासुः स्यात् ।

अर्थात्—दान और पूजन, ये दो कर्म जिसके मुख्य हैं और ज्ञानाऽमृतका पान करनेके लिये जो निरन्तर उत्सुक रहता है वह श्रावक है । भावार्थ—श्रावक वह है जो कृषि-वाणिज्यादिको गौण करके दान और पूजन, इन दो कर्मोंको नित्य सम्पादन करता है और शास्त्राध्ययन भी करता है ।

स्वामी कुन्दकुन्दाचार्य, रयणसार ग्रन्थमे, इससे भी बढ़कर साफ तौरपर यहाँतक लिखते हैं कि बिना दान और पूजनके कोई श्रावक हो ही नहीं सकता या दूसरे शब्दोंमे यो कहिये कि ऐसा कोई श्रावक ही नहीं होसकता जिसको दान और पूजन न करना चाहिये ।

दाणं पूजा मुख्ख सावयधम्मो ए सावगो तेण बिणा ।

भाण्णम्मथण मुख्ख जइधम्मो त बिणा सोवि ॥ १०॥

अर्थात्—दान देना और पूजन करना, यह श्रावकका मुख्य धर्म है । इसके बिना कोई श्रावक नहीं कहला सकता और ध्यान अध्ययन करना यह मुनिका मुख्य धर्म है । जो इससे रहित है, वह मुनि ही नहीं है । भावार्थ—मुनियोंके ध्यानाध्ययनकी तरह, दान देना और पूजन करना ये दो कर्म श्रावकोंके सर्व साधारण मुख्य धर्म और नित्यके कर्त्तव्य कर्म हैं ।

ऊपरके वाक्योंसे भी जब यह स्पष्ट है कि पूजन करना गृहस्थ

का धर्म तथा नित्य और आवश्यक कर्म है—बिना पूजनके मनुष्यजन्म निष्फल और गृहस्थाश्रम धिक्कारका पात्र है और बिना पूजनके कोई गृहस्थ या श्रावक नाम ही नहीं पा सकता, तब प्रत्येक गृहस्थ जैनीको नियमपूर्वक अवश्य ही नित्यपूजन करना चाहिये, चाहे वह अग्रवाल हो, खंडेलवाल हो या परवार आदि अन्य किसी जातिका, चाहे स्त्री हो या पुरुष, चाहे व्रती हो या अव्रती; चाहे बीसा हो या दस्सा और चाहे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य हो या क्षूद्र, सबको पूजन करना चाहिये। सभी गृहस्थ जैनी हैं, सभी श्रावक हैं, अतः सभी पूजनके अधिकारी हैं।

श्रीतीर्थंकर भगवानकी अर्थात् जिस अर्हन्त परमात्माकी मूर्ति बनाकर हम पूजते हैं उसके समवसरणमें भी, क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या व्रती, क्या अव्रती क्या ऊँच और क्या नीच, सभी प्रकारके मनुष्य जाकर साक्षात् भगवानका पूजन करते हैं। और मनुष्य ही नहीं, समवसरणमें पचेन्द्रिय तिर्यंच तक भी जाते हैं—समवसरणकी बारह सभाओंमें उनकी भी एक सभा होती है, वे भी अपनी शक्तिके अनुसार जिनदेवका पूजन करते हैं। पूजन-फलप्राप्तिके विषयमें एक मेढककी कथा सर्वत्र जैनशास्त्रोंमें प्रसिद्ध है। पुण्यस्रव-कथाकोश, महावीरपुराण, धर्मसंग्रहभावकाचार आदि अनेक ग्रन्थोंमें यह कथा विस्तारके साथ लिखी है और बहुतसे ग्रन्थोंमें इसका निम्न-लिखित प्रकारसे उल्लेखमात्र किया है। यथा —

अर्हत्वरणसपर्या महातुभाव महात्मनाभवदत् ।

भेक. प्रमोदमत्तः कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥ रत्नकरड १२०

यथाशक्ति यजेतार्हद्देव नित्यमहादिभिः ।

संकल्पतोऽर्पितं यथा भेकवत्स्वर्मेहीयते ॥ सागारघ० २-२४

कथाका सारांश यह है कि जिस समय राजगृह नगरमें विपुला-ञ्चल पर्वतपर हमारे अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहावीर स्वामीका समवसरण आया और उसके सुसमाचारसे हर्षोल्लसित होकर महाराजा

श्रेष्ठिक अमन्द भेरीबजवाते हुए परिजन और पुरजन सहित श्रीवीर-जितेन्द्रकी पूजा और वन्दनाको चले, उस समय एक मेढक भी, जो नागवृक्ष श्रेष्ठीकी बाबड़ीमें रहता था और जिसको अपने पूर्वजन्मकी स्त्री अवदत्तको देखकर जातिस्मरण हो गया था, श्रीजितेन्द्रदेवकी पूजाके लिये मुखमें एक कमल दबाकर उछलता और कूदता हुआ नगरके लोगोंके साथ समवसरणकी ओर चल दिया । मार्गमें महाराजा श्रेष्ठिकके हाथीके पैर तले आकर वह मेढक मर गया और पूजनके इस सकल्प और उद्यमके प्रभावसे, मरकर औघर्म स्वर्गमें महद्दिक देव हुआ । फिर वह देव समवसरणमें आया और श्रीगणेशदेवके द्वारा उसका चरित्र लोगोको मालूम हुआ । इससे प्रगट है कि समवसरणादिमें जाकर तिर्यच भी पूजन करते और पूजनके उत्तम फलको प्राप्त होते हैं ।

समवसरणको छोड़कर और भी बहुतसे स्थानों पर तिर्यचोंके पूजन करनेका कथन पाया जाता है । पुरखास्रब और आराधनासारकथाकोशमें लिखा है कि धाराशिव नगरमें एक बबी थी, जिसमें श्रीपार्श्वनाथ स्वामीकी रत्नमयी प्रतिमा एक मजूषेमें रखी हुई थी । एक हाथी, जिसको जातिस्मरण होगया था, प्रतिदिन तालाबसे अपनी सूँडमें पानी भरकर लाता और उस बँबीकी तीन प्रदक्षिणा देकर वह पानी उसपर छोड़ता और फिर एक कमलका फूल चढ़ाकर पूजन करता और मस्तक नचाता था । इस प्रकार वह हाथी श्रावकधर्मको पालता हुआ प्रतिदिन उस प्रतिमाका पूजन करता था । जब राजा करकडुको यह समाचार मालूम हुआ, तब उसने उस बँबीको खुदवाया और उसमेंसे वह प्रतिमा निकली । प्रतिमाके निकलने पर हाथीने सन्यास धारण किया और अन्तमें वह हाथी मरकर सहस्रारस्वर्गमें देव हुआ । इसी प्रकार तिर्यचोंके पूजन-सबधमें और भी अनेक कथाएँ हैं । जब तिर्यच भी पूजन करते और पूजनके उत्तम फलको प्राप्त होते हैं, तब ऐसा कौन मनुष्य हो

सकता है कि जिसको पूजन न करना चाहिये और जो भक्तपूर्वक जिनेन्द्रदेवका पूजन करके उत्तम फलको प्राप्त न हो ? अभिप्राय यह है कि, आत्महितचिन्तक सभी प्राणियोंके लिये पूजन करना श्रेयस्कर है । इसलिये गृहस्थोको अपना कर्तव्य समझकर अवश्य ही नित्यपूजन करना चाहिये ।

पूजनके भेद

पूजन कई प्रकारका होता है । आदिपुराण, सागारधर्मसूत्र, धर्मसंग्रहआवकाचार, चारित्रसार आदि ग्रन्थोंमें मिस्व^१, अष्टान्हिक^२, ऐन्द्रध्वज^३, चतुर्मुख^४, और कल्पद्रुम^५, इसप्रकार पूजनके

१ नित्यपूजनका स्वरूप आगे विस्तारके साथ वर्णन किया गया है ।
२-३ जिनार्चा क्रियते भव्यैर्या नन्दीश्वरपर्वणि ।

अष्टान्हिकोऽसौ सेन्द्राद्य^१ माध्या त्वेन्द्रध्वजो मह ॥ सागारधर्म०
अर्थात्—नन्दीश्वर पर्वमें (आषाढ, कार्तिक और फाल्गुण इन तीन महीनोंके अन्तिम आठ आठ दिनोंमें) जो पूजन किया जाता है, उसको अष्टान्हिक पूजन कहते हैं और इन्द्रादिकदेव मिलकर जो पूजन करते हैं, उसको 'ऐन्द्रध्वज' पूजन कहते हैं ।

४ महामुकुटबद्धैस्तु क्रियमाणो महामह ।

चतुर्मुख स विज्ञेय सर्वतोभद्र इत्यपि ॥—आदिपुराण
भक्त्या मुकुटबद्धैर्या जिनपूजा विधीयते

तदाख्या सर्वतोभद्र-चतुर्मुख-महामहा ॥—सागारध०

अर्थात्—मुकुटबद्ध (मांडलिक) राजाओंके द्वारा जो पूजन किया जाता है, उसके नाम 'चतुर्मुख', 'सर्वतोभद्र' और 'महामह' है ।

५ दत्त्वा किमिच्छक दान सप्ताब्दिभिर्य प्रवर्त्यते ।

कल्पवृक्षमह सोऽयं जगदाशाप्रपूरण ॥—आदिपुराण

किमिच्छकेन दानेन जगदाशा प्रपूर्य य ।

पांच भेद वर्णन किये हैं । वसुनन्दिश्रावकाचार और धर्मसंग्रह-
श्रावकाचार नामके ग्रन्थोंमें प्रकारान्तरसे नाम^१, स्थापना^२, द्रव्य^३,

चक्रिभिः क्रियते सोऽर्हद्वज कल्पद्रुमो मत ॥—सागारध०

अर्थात्—याचकोको उनकी इच्छानुसार दान देकर जगतकी आशा को पूर्ण करते हुए चक्रवर्त्ति सम्राट द्वारा जो जिनेन्द्रका पूजन किया जाता है, उसको 'कल्पद्रुम' पूजन कहते हैं ।

१ उच्चारिऊण गाम, अरुहाईण विसुद्धदेसम्मि ।

पुष्पाईणि खिविजति विण्णैया गामपूजा सा ॥—वसुनन्दिश्रा०

अर्थात्—अर्हतादिकका नाम उच्चारण करके किसी शुद्ध स्थानमें जो पुष्पादिकक्षेपण किये जाते हैं, उसको नामपूजन कहते हैं ।

२ तदाकार वा अतदाकार वस्तुमें जिनेन्द्रादिके गुणोंका आरोपण और सकल्प करके जो पूजन किया जाता है, उसको स्थापना पूजन कहते हैं । स्थापनाके दो भेद हैं—१ सद्भावस्थापना और १ असद्भावस्थापना । अरहतोंकी प्रतिष्ठाविधिकी 'सद्भावस्थापना' कहते हैं । (स्थापना पूजनका विशेष वर्णन जाननेके लिये देखो वसुनन्दि-श्रावकाचार आदि ग्रन्थ) ।

३ दव्वेण य दव्वस्स य जा पूजा जाण दव्वपूजा मा ।

दव्वेण गधत्तलिलाइपुव्वभणिण्ण कायव्वा ॥

निविहा दव्वे पूजा मच्चित्ताचित्तमिस्सभेण्ण ।

पच्चक्खजिणाईण मच्चित्तपूजा जहाजोग्ग ॥

तेसि च सरीराण दव्वसुदस्स वि अचित्तपूजा मा ।

जा पुण दोण्ह कीरइ गायव्वा मिस्सपूजा मा ॥—वसुनन्दिश्राव०

अर्थात्—द्रव्यसे और द्रव्यकी जो पूजाकी जाती है, उसको द्रव्य-पूजन कहते हैं । जलचदनादिकसे पूजन करनेको द्रव्यसे पूजन करना कहते हैं और द्रव्यकी पूजा सचित्त, अचित्त तथा मिश्रके भेदसे तीन प्रकार है । साक्षात् श्रीजिनेन्द्रदिके पूजनको 'सचित्त द्रव्यपूजन' कहते

क्षेत्र^४, काल^५ और भाव^६, ऐसे छह प्रकारका पूजन भी वर्णित है ।

है । उन जिनेन्द्रादिके शरीरो तथा द्रव्यश्रुतक पूजनको 'अचित्तद्रव्य पूजन' कहते हैं और दोनोके एक साथ पूजन करनेको 'मिश्रद्रव्यपूजन' कहते हैं । द्रव्यपूजनके आगमद्रव्य और नोआगमद्रव्य आदिके भेदसे और भी अनेक भेद है ।

४ जिण जणमणिववणणाणुपत्ति मोक्खमपत्ती ।

णिसिही मुखेत्तपूजा पुव्वविहारोण कायव्वा ॥—वसुनदिशा०

अर्थान्—जिन क्षेत्रोमे जिनेन्द्र भगवानव जन्म-तप-ज्ञान-निर्वाण कल्याणक हुए हैं, उन क्षेत्रोमे जलचदनादिकसे पूजन करनेको 'क्षेत्र-पूजन' कहते हैं ।

५ गर्भादिपचकल्याणमहंता यद्दिनेऽभवन् ।

तथा नन्दीश्वरे रत्नत्रयपर्वणि चाऽर्चनम् ॥

स्नपन क्रियते नाना रसैरिक्षुघृतादिभि ।

तत्र गीतादिमाङ्गल्य कालपूजा भवेदियम् ॥ धर्मसग्रहशा०

अर्थान्—जिन तिथियोमे अरहतोवे गर्भ-जन्मादिक कल्याणक हुए हैं, उनमे तथा नन्दीश्वर और रत्नत्रयादिक पर्वोमे जिनेन्द्रदेवका पूजन, इक्षुरस और दुग्ध-घृतादिकसे अभिषेक तथा गीत, नृत्य और जागरणादि मागलिक कार्य करनेको 'कालपूजन' कहते हैं ।

६ यदन-तचतुष्काद्यविधाय गुणकीर्तनम् ।

त्रिकाल क्रियते देववन्दना भावपूजनम् ॥

परमेष्ठिपदैर्जाप क्रियते यत्स्वशक्ति ।

अथवाऽहंद्गुणस्तोत्र साध्यर्चा भावपूर्विका ॥

पिङ्गस्थ च पदस्थ च रूपस्थ रूपवर्जितम् ।

ध्यायते यत्र तद्विद्धि भावार्चनमनुत्तरम् ॥ —धर्मसग्रहशा०

अर्थान्—जिनेन्द्रके अनन्त-दर्शन, अनन्त-ज्ञान, अनन्त-सुख और अनन्तवीर्यादि गुणोकी भक्तिपूर्वक स्तुति करके जो त्रिकाल देववन्दन

परन्तु संक्षेपसे पूजनके नित्य और नैमित्तिक, ऐसे दो भेद हैं। अन्य समस्त भेदोंका इन्हींमें अन्तर्भाव है। 'अष्टान्हिक' आदिक चार प्रकारका पूजन नैमित्तिक पूजन कहलाता है और नामादिक छह प्रकारके पूजनोंमें कुछ नित्य, कुछ नैमित्तिक और कुछ दोनों प्रकारके होते हैं। प्रतिष्ठा भी नैमित्तिक पूजनका ही एक प्रधान भेद है। तथापि नैमित्तिक पूजनमें बहुतसे ऐसे भी भेद हैं जिनमें पूजनकी विधि प्रायः नित्य पूजनके ही समान होती है और दोनोंके पूजकमें भी कोई भेद नहीं होता, जैसे अष्टान्हिक पूजन और काल पूजनादिक। इसलिये पूजनकी विधि आदिकी मुख्यतासे नित्यपूजन और प्रतिष्ठादिविधान, ऐसे भी दो भेद कहे जाते हैं और इन्हीं भेदोंकी प्रधानतासे पूजकके भी दो ही भेद वर्णन किये गये हैं—एक नित्य पूजन करनेवाला जिसको पूजक कहते हैं और दूसरा प्रतिष्ठा आदि विधान करनेवाला जिसको पूजकाचार्य कहते हैं। जैसा कि पूजासार और धर्मसंग्रहश्रावकाचारके निम्नलिखित श्लोकोसे प्रगट है —

पूजक पूजकाचार्य इति द्वेधा स पूजकः ।

आद्यो नित्यार्चकोऽन्यस्तु प्रतिष्ठादिविधायकः ॥ १६॥

— पूजासार

नित्यपूजा-विधायी यः पूजकः स हि कथ्यते ।

द्वितीयः पूजकाचार्यः प्रतिष्ठादिविधानकृत् ॥ १६—१४२॥

— धर्मसंग्रहश्रावकाचार

चतुर्मुखादिक पूजन तथा प्रतिष्ठादि विधान सदा काल नहीं बन सकते और न सब गृहस्थ जैनियोसे इनका अनुष्ठान हो सकता

की जाती है, उसको तथा शक्तिपूर्वक पंचपरमेष्ठिके जाप वा स्तवन-को और पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानको भावपूजन कहते हैं। (पिंडस्थादिक ध्यानोका स्वरूप ज्ञानार्थवादिक ग्रन्थोंमें विस्तारके साथ वर्णन किया है, वहाँसे ज्ञानना चाहिये ।)

है—क्योंकि कल्पद्रुम पूजन चक्रवर्ति ही कर सकता है, चतुर्मुख पूजन मुकुटवद्ध राजा ही कर सकते हैं, ऐन्द्रध्वज पूजाको इन्द्रादिक देव ही रचा सकते हैं, इसी प्रकार प्रतिष्ठादि विधान भी खास खास मनुष्य ही सम्पादन कर सकते हैं—इसलिये सर्वसाधारण जैनियों-के वास्ते नित्यपूजनकी ही मुख्यता है । ऊपर उल्लेख किये हुए आचार्यों आदिके वाक्योंमें 'दिने दिने' और 'अन्वह' इत्यादि शब्दों-द्वारा नित्यपूजनका ही उपदेश दिया गया है । इसी नित्यपूजन पर मनुष्य, तिर्यंच, स्त्री, पुरुष, नीच, ऊँच, धनी, निर्धनी, व्रती, अव्रती राजा, महाराजा, चक्रवर्ति और देवता, सबका समान अधिकार है अर्थात् सभी नित्यपूजन कर सकते हैं ।

नित्यपूजनको नित्यमह, नित्याऽर्चन और सदाचर्न इत्यादि भी कहते हैं । नित्यपूजनका मुख्य स्वरूप भगवज्जनसेनाचार्यने आदि-पुराणमें इस प्रकार वर्णन किया है —

तत्र नित्यमहो नाम शश्वज्जनगृहं प्रति ।

स्वगृहान्नीयमानार्चा गन्धपुष्पाक्षतादिका ॥

—अ० ३८, श्लो० २७

अर्थात्—प्रतिदिन अपने घरसे जिनमंदिरको गंध, पुष्प, अक्षता-दिक पूजनकी सामग्री ले जाकर जो जितेन्द्रदेवकी पूजा करना है उसको नित्यपूजन कहते हैं । धर्मसंग्रहश्रावकाचारमें भी नित्यपूजनका यही स्वरूप वर्णित है । यथा —

जलाद्यैर्धौतपूताङ्गैर्गृहान्नीतैर्जिनालयम् ।

यदचर्यन्ते जिना युक्ता नित्यपूजाऽभ्यधायि सा ॥

—अ० ६ श्लो० २७

प्रतिदिन क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या बालक, क्या बालिका—सभी गृहस्थ जन अपने अपने घरोंसे जो बादाम, छुहारा, लींग, इलायची या अक्षत (चावल) आदिक लेकर जिनमंदिरको जाते हैं और वहां उस द्रव्यका, जितेन्द्रदेवादिको स्तुतिपूर्वक नामादि उच्चारण करके,

अर्थात्—संध्यावन्दनादिके पश्चात् गृहस्थ, भक्तिपूर्वक जिनेन्द्रादिके पूजनके योग्य द्रव्योंको लेकर, समस्त भव्यर्जोवोंद्वारा पूजित श्रीजिनमन्दिरजी जावे । भावार्थ—गृहस्थोंको जिनमन्दिरमें पूजनके लिये पूजनोचित द्रव्य लेकर जाना चाहिये । परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि बिना द्रव्यके मन्दिरजीमें जाना ही निषिद्ध है, जाना निषिद्ध नहीं है । क्योंकि यदि किसी अवस्थामें द्रव्य उपलब्ध नहीं है तो केवल भावपूजन भी हो सकता है । तथापि गृहस्थोंके लिये द्रव्यसे पूजन करनेकी अधिक मुख्यता है । इसीलिये निम्नपूजनका ऐसा मुख्य स्वरूप वर्णन किया गया है ।

ऊपर नित्यपूजनका जो प्रधान स्वरूप वर्णन किया गया है, उसके अतिरिक्त 'जिनबम्ब और जिनालय बनवाना, जिनमन्दिरके खचके लिये दानपत्रद्वारा ग्राम-गृहादिकका मन्दिरजीके नाम करदेना तथा दान देते समय मुनीश्वरोका पूजन करना, यह सब भी निम्नपूजनमें ही दाखिल (परिगृहीत) है ।' जैसा कि आदिपुराण पर्व ३८ के निम्नलिखित वाक्योंसे प्रगट है —

१ चैत्यचैत्यालयादीनां भक्त्या निर्माणं च यत् ।

ग्रामनीकृत्य दानं च ग्रामादीनां मदाऽर्चनम् ॥२८॥

या च पूजा मुनीन्द्राणां नित्यदानानुषङ्गिणी ।

स च नित्यमहो ज्ञेयो यथाशक्त्युपकथितः ॥२९॥

श्रीनागार्धमासमें भी नित्यपूजनके सम्बन्धमें समग्र ऐसा ही वर्णन पाया जाता है, बल्कि इतना विशेष और मिलता है कि अपने घरपर या मन्दिरजीमें ३ त्रिकालदेववदना—अरहतदेवकी आराधना—

१. इन दोनों श्लोकोंका आशय वही है जो ऊपर अतिरिक्त शब्दके अनन्तर " " में मध्य दिया गया है ।

२. आदिपुराण उक्त श्लोक न २७, २८, २९ के अनुसार ।

३. आदिपुराणमें पूजन ८ अन्य चार भेदोंका वर्णन करनेके अनन्तर

करनेको भी नित्यपूजन कहते हैं। यथा —

प्रोक्ता नित्यमेहरेऽन्वहं निजगृहान्नीतेन गन्धादिना ।

पूजा चैत्यगृहेऽर्हतं स्वविभवक्षत्यादिनामोपणम् ॥

भक्त्या आमगृहादिशासनविधादान त्रिमध्याश्रया ।

सेवा सर्वेऽपि गृहेऽर्चनं च यमिना नित्यप्रदानानुगम् ॥ २-२५

धर्मसंग्रहश्रावकाचारमे भी 'त्रिसध्यं देववन्दनम्' इस पदके द्वारा १६ अधिकारके श्लोक न २६ में, त्रिकाल देववन्दनाको नियमपूजन वर्णन किया है। और त्रिकाल देववन्दना ही क्या, 'बलि, अभिषेक (न्हवन) गीत, नृत्य वादित्र आरती और रथयात्रादिक जो कुछ भी नि य और नैमित्तिकपूजनके विशेष हैं और जिनको भक्त पुरुष सम्पादन करते हैं, उन सबका नि याद पच प्रकारके पूजनमे अन्तर्भाव निर्दिष्ट होनेसे, उनमेंसे जो नि य किये जाते है या नि य किये जानेको है, वे भी नि यपूजन मे समाविष्ट हैं। जैसा कि निम्न-लिखित प्रमाणोंसे प्रगट है —

बलिस्नपननाट्यादि नित्य नैमित्तिक च यत् ।

भक्ता कुर्वन्ति तेष्वेव तद्यथास्य विकल्पयेत् ॥

—सांगान्धर्मा० २-२०

बलिस्नपनमित्यन्यत्रिमध्यासेवया समम् ।

उक्तेष्वेव विकल्पेषु ज्ञेयमन्यच्च तादृशम् ॥

—आदिपुराण ३८-३३

ऊपरके इस कथनसे यह भी स्पष्टरूपसे प्रमाणित होता है कि अपने पूज्यके प्रति आदर-सत्काररूप प्रवर्त्तनका नाम ही पूजन है। पूजा भक्त, उपासना और सेवा इत्यादि शब्द भी प्रायः एकाथवाची है और उसी एक आशय और भावके द्योतक है। इसप्रकार पूजनका

श्लोक न. ३३ मे त्रिकाल-देववन्दनाका वर्णन 'त्रिसध्यासेवया समम्' इस पदके द्वारा किया है।

स्वरूप समझकर किसी भी गृहस्थको नि.यपू-न करवेसे नहीं चूकना चाहिये । सज्जको आनन्द और भक्तके साथ नि.यपूजन अवश्य करना चाहिये ।

शूद्राऽधिकार

यहाँपर, जिनके हृदयमें यह आशका हो कि, शूद्र भी पूजन कर सकते हैं या नहीं ? उनको समझना चाहिये कि जब तिर्यंच भी पूजनके अधिकारी वर्णन किये गये हैं तब शूद्र, जो कि मन्य हैं और तिर्यंचोंसे ऊँचा दर्जा रखते हैं, कैसे पूजनके अधिकारी नहीं हैं ? क्या शूद्र जैनी नहीं हो सकते ? या श्रावकके व्रत धारण नहीं कर सकते ? जब शूद्रोंको यह सब कुछ अधिकार प्राप्त है और वे श्रावक के बारह व्रतोंको धारणकर उँचे दर्जेके श्रावक बन सकते हैं और हमेशासे शूद्र लोग जैनी ही नहीं; किन्तु उँचे दर्जेके श्रावक (क्षुल्लक) तक होते आये हैं, तब उनके लिये पूजनका निषेध कैसे हो सकता है ? श्रीकुन्दकुन्द मुनिराजके 'वचनानुसार, जब बिना पूजनके कोई श्रावक हो ही नहीं सकता, और शूद्र लोग भी श्रावक जरूर होते हैं, तब उनका पूजन का अधिकार म्वन मिद्ध है ।

भगवानके समवसरणमें, जहाँ तिर्यंच भी जाकर पूजन करते हैं, वहाँ जिसप्रकार अन्य मनुष्य जाते हैं उसीप्रकार शूद्रलाग भी जाते हैं और अपनी शक्तिके अनुसार भगवानका पूजन करते हैं । आ.जनसना-चार्यकृत हरिवंशपुराणमें, महावीरस्वामीके समवसरणका वर्णन करते हुए, लिखा है—'समवसरणमें, जब श्रामह वीरस्वामीने मुनधर्म और श्रावकधर्मका उपदेश दिया, तो उसको सुनकर बहुतसे ब्राह्मण क्षात्रिय और वैश्य लोग म्नि होगये और चारों वर्णोंके स्त्रीपुरुषोंने अर्थात् ब्राह्मण, क्षात्रिय वैश्य और शूद्रोंने, श्रावकके बारह व्रत धारण किये । इतना ही नहीं, किन्तु उनकी पवित्रवाणीका यहाँतक प्रभाव पड़ा कि कुछ तिर्यंचोंने भी श्रावकके व्रत धारण किये ।' इससे, पूजा-व-दना और

धर्मधरारणके लिये शूद्रोंका सम्बसरणमें जाना प्रगट है। शूद्रोंके पूजन-सम्बन्धमें बहुतसी कथाएँ प्राप्त हैं। पुण्यास्त्रकथाकोशमें लिखा है कि 'एक माली (शूद्र) की दो कन्याएँ, जिनका नाम कुसुमावती और पुष्पावती था, प्रत्येक एक एक पुष्प जिनमें देरकी देहलीपर चढ़ाया करती थी। एक दिन बरसे पुष्प लाते समय उनको सने काट खाया और वे दोनों कन्याएँ मरकर, इस पूजनके फलसे, सौधर्मस्वर्गमें देवी हुई।' इसी शास्त्रमें एक पशु चरानेवाले नीचकुली ग्वालिका भी कथा लिखी है, जिसने सहस्रकूट चेत्यालयमें जाकर, चुपकेसे नहीं किन्तु राजा, सेठ और मुगुमि नामक मुनिराजकी उपस्थिति (मौजूदगी) में, एक बृहत् कमल श्रीजिनदेवके चरणोंमें चढ़ाया, और इस पूजनके प्रभावसे अगले ही जन्ममें महाप्रतापी राजा बनकर हुआ यह कथा श्रीआराधनासारकथाकोशमें भी लिखी है। इस प्रथमें ग्वालिकी पूजन-विधिका वर्णन इसप्रकार किया है —

तदा गापालकः साऽपि स्थित्वा श्रीमज्जिनाग्रतः ।

'आ' सर्वोत्कृष्ट । मे पद्म महाणेदमिति' स्फुटम् ॥१५॥

उक्त्वा जनेन्द्रपादाब्जोपरि क्षिप्त्वाशु परजम् ।

गतो, मुग्धजनानां च भवेत्सत्कर्म शर्मदम् ॥१६॥

—करकडुकथा

अर्थात्—जब सुगुप्तिमुनिके द्वारा ग्वालिको यह मालूम हो गया कि सबसे उत्कृष्ट जिनदेव ही हैं तब उस ग्वालिके, श्रीजिनेन्द्रदेवके समुख खड़े होकर और यह कहकर कि 'हे सर्वोत्कृष्ट ! मेरे इस कमलको स्वीकार करो' वह कमल श्रीजिनदेवके चरणोंपर चढ़ा दिया और इसके पश्चात् वह ग्वाला मन्दिरसे चला गया। ग्रन्थकार कहते हैं कि मला काम (स कर्म) मूल मनुष्योंको भी सुखका देनेवाला होता है। इसी प्रकार शूद्रोंके पूजन सम्बन्धमें और भी बहुतसी कथाएँ हैं।

कथाओंको छोड़कर जब वर्तमान समयकी ओर देखा जाता है, तब भी यही मालूम होता है कि, आज कल भी बहुतसे स्थानोंपर

बृद्धलोग पूजन करते हैं। जो जैनी बृद्ध हैं या बृद्धोंका कर्म करते हुए जिनको पीढ़ियाँ बीत गईं, वे तो पूजन करते ही हैं, परन्तु बहुतसे ऐसे भी बृद्ध हैं जो प्रगटरूप या व्यवहारमें जैनी न होते या न कहलाते हुए भी किसी प्रतिमा वा तीर्थस्थानके अतिशय (चम कार/परमोहित होने के कारण उन स्थानोपर बराबर पूजन करते हैं—चादनपुर (महावीरजी), केसरियानाथ आदिक अतिशय क्षेत्रों और श्रीसम्मेद-शिखर, गिगनार आदि तीर्थस्थानोपर ऐसे शूद्रपूजकोंकी कमी नहीं है। ऐसे स्थानोपर नीच ऊँच सभी जातियाँ पूजनको आती और पूजन करती हुई देखी जाती हैं। जिन लोगोको चैतके मेलेपर चादनपुर जानेका सुअवसर प्राप्त हुआ है, उन्होंने प्रायश्च देखा होगा अथवा जिनको ऐसा अवसर नहीं मिला वे जाकर देख सकते हैं। एक चैत्र शुक्ला चतुर्दशीसे लेकर ३-४ दिन तक कैसी कैसी नीच जातियोंके मनुष्य और कितने बृद्ध अपनी अपनी भाषाओंमें अनेक प्रकारकी जय बोलते आनंदमें उछलते और कूदते, मंदिरके श्रीमद्वपमें घुस जाते हैं और वहाँपर अपने घरसे लाये हुए द्रव्यको चढ़ाकर तथा प्रदक्षिणा देकर मंदिरसे बाहर निकलते हैं। बल्कि वहाँ तो रथों सवके समय यहाँतक होता है कि मंदिरका व्यासमाली, जो चढ़ी हुई सामग्री लेने-बाला और निर्मात्य भक्षण करनेवाला है, स्वयं बीरभगवानकी प्रतिमाको उठाकर रथमें विराजमान करता है।

यदि बृद्धोका पूजन करना असत्कर्म (बुरा काम) होता और उससे उनको पापबन्ध हुआ करता, तो पशुचरानेवाले नीचकुली ग्वाले को बमलके फूलसे भगवानकी पूजा करनेपर उत्तम फलकी प्राप्ति न होती और मालीकी लड़कियोंको पूजन करनेसे स्वर्ग न मिलता। इसीप्रकार बृद्धोंसे भी नीच पद धारण करनेवाले मेढक जैसे तिर्यंच (जानवर) को पूजनके संकल्प और उद्यम-मात्रसे देवर्गातकी प्राप्ति न होती [क्योंकि जो काम बुरा है उसका संकल्प और उद्यम भी बुरा ही होता है अच्छा नहीं हो सकता] और हाथीको, अपनी सूँडमें

धनी भरकर अभिषेक करने और कमलका फूल चढ़ाकर दाँवीमें स्थित प्रतिमाका नित्यपूजन करनेसे अगले ही जन्ममें मनुष्यमवस्था साथ साथ राजपद और राज्य न मिलता । इससे प्रगट है कि शूद्रोंका पूजन करना असत्कर्म नहीं हो सकता, बल्कि वह सत्कर्म है । आराधनासारकथाबोधमें भी ग्वालेके इस पूजन-कर्मको सत्कर्म ही लिखा है, जैसा कि ऊपर उल्लेख किये हुए श्लोक न १६ के चतुर्थ पदसे प्रगट है ।

इन सब बातोंके अतिरिक्त जैनशास्त्रोंमें शूद्रोंके पूजनके लिए स्पष्ट आज्ञा भी पाई जाती है । धर्मसमूहश्रावकाचारके ६वे अधिकारमें लिखा है —

यजन याजन कर्माऽध्ययनाऽध्यापने तथा ।

दान प्र तप्रदश्चाति षट् कर्माणि द्विजन्मनाम् ॥ २२५॥

यजनाऽध्ययन दान पश्चा त्राण ते पुन ।

जाति-तथैवमेतन् द्विजाने ब्राह्मणादय ॥ २२६॥

अर्थात् ब्राह्मणोंके पूजन करना पूजन कराना, पढ़ना पढ़ाना दान देना, और दान लेना ये छह कर्म हैं । शेष क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीन वर्णोंके पूजन करना पढ़ना और दान देना ये तीन कर्म हैं । और वे ब्राह्मणादिक जाति और तंत्रिके भेदसे दो प्रकारके हैं । इससे साफ प्रगट है कि पूजन करना जिस प्रकार ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्योंका धार्मिक कर्म है उसी प्रकार वह शूद्रोंका भी धार्मिक कर्म है ।

इसी धर्मसमूहश्रावकाचारके ६वें अधिकारके श्लोक न० १४२ में, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, श्रीजनेन्द्रदेवकी पुष्पा करनेवालेके दो भेद वर्णन किये हैं—एक नि यपूजन करनेवाला जिसको पूजक कहते हैं । और दूसरा प्र तपठादि वधान करनेवाला जिसको 'पूजकाचार्य' कहते हैं । इसके पश्चात् दो श्लोकोंमें, ऊँचे दर्जोंके नित्यपूजकको लक्ष्य करके, प्रथम भेद अर्थात् पूजकका स्वस्वम् इस

प्रकार वर्णन किया है :-

ब्राह्मणः क्षत्रियः वैश्यः शूद्रः शीलव्रतान्वितः ।

मत्स्यशौचदृढाचारो हिंसाशयनदूरगः ॥ १४३ ॥

जात्या कुलेन पूतात्मा शुचिर्बन्धुमुहज्जनैः ।

गुरुपदिष्टमन्त्रग युक्तः स्यादेव पूजकः ॥ १४४ ॥

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चारों वर्णोंमेंसे किसी भी वर्णका धारक, जो दिग्विचरति, देशविचरति, अनथदृढवर्तति, सामायक, प्रोषधोपवास, मो-पोपभोगपारमाणु और आर्तयिसवभाग, इसप्रकार सप्तशील व्रतसे युक्त हो, सत्य और शौचका दृढतापूर्वक (निरातचार) आचरण करनेवाला - सत्यवान्, शौचवान् और दृढाचारी हो हिंसा, भ्रूठ, चोरी, कुशील और पारम्ह, इन पाँच अव्रतों (पापों) से रहित हो, जात और कुलसे पवित्र हो, बन्धु-मित्रादिकसे शुद्ध हो और गुरु उपदेशित मन्त्रसे युक्त हो या ऐसे मन्त्रसे जिसका संस्कार हुआ हो, वह उत्तम पूजक कहालाता है ।

इसीप्रकार पूतात्मा ग्रन्थमें भी पूजकके उपर्युक्त दोनों भेदोंका कथन करके, निम्न लिखित दो श्लोकोंमें नि-यपूजकका, उत्कृष्टापेक्षा-से प्रायः समस्त यही स्वरूप वर्णन किया है —

ब्राह्मण क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वाऽऽद्यः मुशालवान् ।

दृढव्रता दृढाचार मत्स्यशौचमन्विता ॥ १७ ॥

कुलेन जात्या सगुहो मित्रबन्धादिभिः शुचिः ।

गुरुपदिष्टमन्त्राढ्यः प्राणिवधादिदूरगः ॥ १८ ॥

ऊपरके इन दोनों ग्रन्थोंके प्रमाणोंसे भली भाँति स्पष्ट है कि, शूद्रोंको भी श्रीजिनेन्द्रदेवके पूजनका अधिकार प्राप्त है और वे भी निष्प-पूजक होते हैं । साथ ही इसके यह भी प्रगट है कि शूद्र लोग सम्भारण पूजक ही नहीं, बल्कि ऊँचे दर्जेके नि-यपूजक भी होते हैं ।

यहाँपर यह प्रश्न उठ सकता है कि, ऊपर जो पूजकका स्वरूप वर्णन किया गया है वह पूजक मात्रका स्वरूप न होकर, ऊँचे दर्जेके

पंच पापोंके त्यागरूप पंच अणुव्रत, इसप्रकार श्रावकके बारह व्रतोंका पूर्णतया पालन दूसरी (व्रत) प्र.तमामें ही होता है और वर्त्तमान जैनयोमे इस प्रतिमाके धारक दो चार त्यागियोंको छोड़कर शायद कोई बिरले ही निकले । इसके सिवाय जैनसिद्धान्तोंसे बड़ा मारी विरोध आता है । क्योंकि जैनशास्त्रोंमें मुख्यरूपसे श्रावकके तीन भेद वर्णन किये हैं:—

१ पाक्षिक, २ नैष्ठिक और ३ साधक । श्रावकधर्म जिसका पक्ष और प्रतिज्ञाका विषय है, श्रावकधर्मको जिसने स्वीकार कर रक्खा है और उसपर आचरण करना भी प्रारम्भ कर दिया है, परन्तु उस धर्मका निर्वाह जिससे यथेष्ट नहीं होता, उस प्रारब्ध देशसयमीको 'पाक्षिक' कहते हैं । जो निरतिचार श्रावकधर्मका निर्वाह करनेमें तत्पर है उसको नैष्ठिक' कहते हैं और जो आत्मध्यानमें तत्पर हुआ समाधि-पूर्वक मरण साधन करता है उसको 'साधक' कहते हैं* । नैष्ठिक श्रावकके दस नक व्रतिक आदिक ११ भेद हैं जिनको ११ प्रतिमा भी कहते हैं दूसरी प्रतिमावाले व्रतिक श्रावकसे पहली प्रतिमावाला और पहिली प्रतिमावालेसे पाक्षिक श्रावक नीचे दर्जेपर होता है । दूसरे शब्दोंमें यो कहिये कि पाक्षिक श्रावक, मूल भेदोंकी अपेक्षा, दर्शनिकसे एक और व्रतिकसे दो दर्जे नीचे होता है अथवा उसको सबसे घटया दर्जेका श्रावक कहते हैं । परन्तु शास्त्रोंमें व्रातकके समान, दर्शनिक हीको नहीं, किन्तु पाक्षिकको भी पूजनका अधिकारी वर्णन किया है, जैसा कि धर्मसमूहश्रावकाचार (अ० ५) में निम्नलिखित श्लोको-द्वारा उनके स्वरूप-कथनसे प्रगट है:—

सम्यग्दृष्ट मातिचारमूलाणुप्रतपालक ।

ॐ "पाक्षिकादिभिदा त्रेधा श्रावकस्तत्र पाक्षिक ।

तद्वर्त्मगृह्यस्तान्निष्ठो नैष्ठिकः साधकः स्वयुक् ।। २० ॥

—सामारधर्मामृत

अर्चदिनिर्गतस्त्वग्रपद कांक्षी हि पाक्षिकः ॥ ४ ॥

पाक्षिकाचारमस्पृश्या निर्मलीकृतदर्शनः ।

विरक्तो भवभोगाभ्यामर्हदादिपदाचक ॥ १४ ॥

मलान्मूलगुणानां निर्मूलयअभिमतमुक्तः ।

न्याय्यां वार्त्ता वपु स्थित्यै दधदर्शनिक्तो मतः ॥ १५ ॥

ऊपरके श्लोकोमें, 'अर्चदिनिर्गत' (पूजनादिमें तत्पर) इस पदसे, पाक्षिकश्रावकके लिये पूजन करना जरूरी रक्खा है। और 'अर्हदादिपदाऽचक' (अर्हन्तादिकके चरणोंका पूजनेवाला) इस पदसे दर्शनिक श्रावकके लिये पूजन करना आवश्यक कर्म बतलाया है। मागारधर्मा-मृतके दूसरे अध्यायमें, जिसका अंतिम काव्य, 'सैष प्राथमकल्पिक' इत्यादि है, पाक्षिकश्रावकका सदाचार वर्णन किया है। उसमें भी, "यजेत देव सेवेत गुरुन्" इत्यादि श्लोको द्वारा, पाक्षिकश्रावकके लिये नियमपूजन करनेका विधान किया है। भगवज्जिनरेनाचार्य भी आदिपुराणमें निम्नलिखित श्लोक-द्वारा सूचित करते हैं कि, पूजन करना प्राथमकल्पिकी (पाक्षिकी) वृत्ति अर्थात् पाक्षिकश्रावकका कर्म वा श्रावकमात्रका प्रथम कर्म है। यथा —

एवविधविधानेन या महेज्या निनेशिनाम् ।

विधिज्ञान्तामृशन्नीज्यां वृत्तिं प्राथमकल्पिकीम् ॥ ३८-३९

यह तो हुई पाक्षिकश्रावककी बात, अब अविग्रनमम्यगृष्टिको लीजिये, अर्थात् ऐसे सम्यगृष्टिको लीजिये जिसके किसी प्रकारका कोई व्रत होना तो दूर रहा व्रत या संयमका आचरण भी अभीतक जिसने प्रारंभ नहीं किया। जैनशास्त्रोंमें ऐसे अव्रतीको भी पूजनका अधिकारी वर्णन किया है। प्रथमानुयोगके ग्रन्थोसे प्र-ट है कि स्वर्गादिकके प्रायः सभी देव, देवागनासहित, समवसरणादिमें जाकर साक्षात् श्रीजिनैन्द्रदेवका पूजन करते हैं, नन्दीश्वर द्वपादिकमें जाकर जिन-बिम्बोंका अर्चन करते हैं और अपने विमानोंके चैद्यालयोंमें नित्यपूजन

करते हैं। जयह जयह शास्त्रोंमें नियमपूर्वक उनके पूजनका विधान पाया जाता है। पर तु वे सब 'अव्रती' ही होते हैं—उनके किसी प्रकारका कोई व्रत नहीं होता। देवोंको छोड़कर अव्रता मनुष्योंके पूजनका भी कथन शास्त्रोंमें स्थान स्थानपर पाया जाता है। समवसरणमें अव्रती मनुष्य भी जाते हैं और जिनवाणीको सुनकर उनमेंसे बहुतसे व्रत ग्रहण करते हैं, जैसा कि ऊपर उल्लेख किये हुए हरिवंशपुराणके कथनसे प्रगट है। महाराजा श्रेणिक भी अव्रती ही थे, जो निरन्तर श्रावराजन्द्रके समवसरणमें जाकर भगवानका साक्षात् पूजन किया करते थे और जिन्होंने अपना राजधानामे स्थान स्थानपर अनेक जिनमंदिर बनवाये थे, जिसका कथन हरिवंशपुराणादिकमें मौजूद है। मागारधर्मामृतमें पूजनके फलका वर्णन करते हुए साफ लिखा है कि —

दृक्पूतमपि गष्टारमर्हन्तोऽभ्युदयप्रियः ।

अयन्त्यष्टपूर्विकया किं पुनर्व्रतभूषणम् ॥ ३२ ॥

अर्थात्—अर्हंतका पूजन करनेवाले अविरतसम्यग्दृष्टिको भी पूजा, धन आज्ञा, ऐश्वर्य, बल और पारजनादिक सम्पदाएँ मैं पहले, ऐसी शीघ्रता करती हुई प्राप्त होती हैं। और जो व्रतसे भूषित है उसका कहना ही क्या ? उसको तो वे सम्पदाएँ और भी विशेषताके साथ प्राप्त होती हैं।

इससे यही सिद्ध हुआ कि—धर्मपराश्रवाकावार और पूजासरणमें वर्णित पूजनके उपर्युक्त स्वरूपको पूजकका लक्षण माननेसे जो व्रती-श्रावक दूसरी प्रतीमाके धारक हो पूजनके अधिकारी ठहरते थे, उसका आगमसे विरोध आता है। इसलिये वह स्वरूप पूजकमात्रका स्वरूप नहीं है, किन्तु ऊँचे दर्जेके निरयपूजक ही स्वरूप है। और इसलिये शूद्र भी ऊँचे दर्जेका निरयपूजक हो सकता है।

यहाँपर इतना और भी अगट कर देना जरूरी है कि, जैन शास्त्रोंमें आचरण-सम्बन्धी कथनशैलीका लक्ष्य प्रायः उत्कृष्ट ही

रक्खा गया मालूम होता है । प्रत्येक ग्रन्थमें उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्यरूप समस्त भेदोका वर्णन नहीं किया गया है । किसी किसी ग्रन्थमें ही यह विशेष मिलता है । अन्यथा, जहाँ तहाँ सामान्यरूपसे उत्कृष्टका ही बखन पाया जाता है । इसके कारणों पर जहाँतक विचार किया जाता है तो यही मालूम होता है कि, प्रथम तो उत्कृष्ट आचरणकी प्रधानता है । दूसरे, समस्त भेद-प्रभेदोका वर्णन करनेसे ग्रन्थका विस्तार बहुत ज्यादा बढ़ता है और इस ग्रन्थ-विस्तारका भय सदा ग्रन्थकर्ताओंको रहता है । क्योंकि विस्तृत ग्रन्थके सम्बन्धमें पाठकोंमें एक प्रकारकी अरुचिका प्रादुर्भाव हो जाता है और सर्व साधारणकी प्रवृत्ति उसके पठन-पाठनमें नहीं होती । तथा ऐसे ग्रन्थका रचना भी कोई आसान काम नहीं है—समस्तविषयोका एक ग्रन्थमें समावेश करना बड़ा ही दुःसाध्य कार्य है । इसके लिये अधिक काल अधिक अनुभव और अधिक परिश्रमकी विशेषरूपसे आवश्यकता है । तीसरे, ग्रन्थोंकी रचना प्रायः ग्रन्थकारोंकी रुचिपर ही निर्भर होती है—कोई ग्रन्थकार सक्षेपप्रिय होते हैं और कोई विस्तार-प्रिय—उनकी इच्छा है कि वे चाहे, अपने ग्रन्थमें, जिस विषयको मुख्य रखें और चाहे जिस विषयको गौण । जिस विषयको ग्रन्थकार अपने ग्रन्थमें मुख्य रखता है उसका प्रायः विस्तारके साथ वर्णन करता है और जिस विषयको गौण रखता है उसका सामान्यरूपसे उत्कृष्टकी अपेक्षा कथन कर देता है । यही कारण है कि कोई विषय एक ग्रन्थमें विस्तारके साथ मिलता है और कोई दूसरे ग्रन्थमें । बाल्कि एक विषयकी भी कोई बात किसी ग्रन्थमें मिलती है और कोई किसी ग्रन्थमें । दृष्टान्तके तौरपर पूजनके विषयहीको लीजिये—स्वामी समन्तभद्राचार्यने, रत्नकरद्वारावकाशमें, 'देवाविदेवचरणे' तथा 'अर्हच्छरणसपर्या' इन पूजनके प्रेरक और पूजन फल-प्रतिपादक दो श्लोकोंके सिवाय इस विषयका कुछ भी वर्णन नहीं किया । श्रीपद्मनन्दिआचार्यने, पद्मनन्दिपंचविंशतिका में, गृहास्थियोंके

लिये पूजनकी खास जरूरत वर्णन की है और उसपर जोर दिया है, परन्तु पूजन और पूजकके भेदका कुछ वर्णन नहीं किया। वसु-नन्दिआचार्यने वसुनन्दिश्रावकाचारमें, भगवज्जिनसेनाचार्यने आदिपुराणमें इसका कुछ कुछ विशेष वर्णन किया है। इसीप्रकार सागारधर्मामृत, धर्ममग्नश्रावकाचार और पूजामार वगैरह ग्रन्थोंमें भी इसका कुछ कुछ विशेष वर्णन पाया जाता है, परन्तु पूरा कथन किसी भी एक ग्रन्थमें नहीं मिलता। कोई बात किसीमें अधिक है और कोई किसीमें। इसीप्रकार म्यारह प्रतिमाओंके कथनको लीजिये, बहुतसे ग्रन्थोंमें इनका कुछ वर्णन नहीं किया, केवल नाम मात्र कथन कर दिया या प्रतिमाका भेद न कहकर सामान्य रूपसे श्रावकके १२-व्रतोंका वर्णन कर दिया है। रत्नकरडश्रावकाचारमें इनका बहुत सामान्यरूपसे कथन किया गया है। वसुनन्दिश्रावकाचारमें उससे कुछ अधिक वर्णन किया गया है। परन्तु सागारधर्मामृतमें अपेक्षाकृत प्रायः अच्छा खुलासा मिलता है। ऐसी ही अवस्था अन्य और भी विषयोंकी समझ लेनी चाहिए।

अब यहाँपर यह प्रश्न उठ सकता है कि, ग्रन्थकार जिस विषय-को गौरव करके उसका सामान्य कथन करता है वह उसका उल्लेखकी अपेक्षासे क्यों कथन करता है, जघन्यकी अपेक्षासे क्यों नहीं करता? इसका उत्तर यह है कि, प्रथम तो उल्लेख आचरणकी प्रधानता है। जबतक उल्लेख दर्जेके आचरणमें अनुराग नहीं होता तबतक नीचे दर्जेके आचरणको आचरण ही नहीं कहते हैं, इससे उसके लिये

॥ सागारधर्मामृतके प्रथम श्लोककी टीकामें लिखा है,—‘यति-धर्मानुरागरहितानामागारिणां देशविरतेरप्यसम्यक्स्वरूपत्वात् । सर्वविरतिलालसः खलु देशविरतिपरिणामः ।’ अर्थात् यतिधर्ममें अनुराग रहित बह्विधियोंका ‘देशव्रत’ भी मिथ्या है। सकलविरतिमें जिसकी लालसा है वही देशविरतिके परिणामका शारक हो सकता है। इससे

साधन अवश्य चाहिये। दूसरे ऊँचे दर्जेके आचरणसे किञ्चित् भी स्थलित होनेसे स्वतः ही नीचे दर्जेका आचरण हो जाता है। ससारी जीवोंकी प्रवृत्ति और उनके संस्कार ही प्रायः उनको नीचेकी ओर ले जाते हैं। उसके लिये नियमित रूपसे किसी विशेष उपदेशकी जरूरत नहीं। तीसरे, ऊँचे दर्जेको छोड़कर अक्रमरूपसे नीचे दर्जेका ही उपदेश देनेवालेको जैनशासनमें दुर्बुद्धि और दडनीय कहा है, जैसा कि श्री अमृतचंद्र आचार्यके निम्न लिखित वाक्योंसे ध्वनित है—

यो मुनिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमिति ।

तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शित निग्रहस्थानम् ॥ १८॥

अक्रमकथनेन यत् प्रोक्तमहमानऽनिदूग्मपि शिष्यः ।

अपदेशपि सप्रवृत्त प्रनारितो भवति तेन दुर्मतिना ॥ १९॥

—पुरुषार्थ दिव्युपाय

यह शासन-दड भी संक्षेप और सामान्य लिखनेवालोंको उत्कृष्टकी अपेक्षासे कथन करनेमें कुछ कम प्रेरक नहीं है। इन्हीं समस्त कारणोंसे आचरण-सबधी कथनशैलीका प्रायः उत्कृष्टाऽपेक्षासे होना पाया जाता है। किसी किसी ग्रन्थमें तो यह उत्कृष्टता यहाँतक बढ़ी हुई है कि साधारण पूजकका स्वरूप वर्णन करना तो दूर रहा, उँचे दर्जेके नित्यपूजकका भी स्वरूप वर्णन नहीं किया है, बल्कि पूजकाचार्यका ही स्वरूप लिखा है। जैसा कि बसुनन्दिश्रावकाचार्यमें, नित्यपूजकका स्वरूप न लिखकर पूजकाचार्य (प्रातःपूजकाचार्य) का ही स्वरूप लिखा है। इसीप्रकार एकमधिभट्टागकृत जिनमहिनामें पूजकाचार्यका ही स्वरूप वर्णन किया है। परन्तु इस संहितामें इतनी

भी यही नतीजा निकलता है कि, जघन्य चारित्र्यका धारक भी कोई तबही कहलाया जा सकता है जब ऊँचे दर्जेके आचरणका अनुगामी हो और शक्ति आदिकी न्यूनतासे, उसको धारण न कर सकता हो।

विशिष्टता और है कि, पूजक शब्दसे ही पूजकाचार्यका कथन किया है । यद्यपि 'पूजक' शब्दसे पूजक (नित्यपूजक) और पूजकचार्य (प्रतिष्ठादावधान करनेवाला पूजक) दोनोंका ग्रहण होता है—जैसा कि ऊपर उल्लेख । कथे पूजासार ग्रन्थके, 'पूजक पूजकाचार्य इति द्वौ वा स पूजक,' इस वाक्यसे प्रगट है—तथापि साधारण ज्ञान वाले मनुष्योंको इससे भ्रम होना सम्भव है । अतः यहाँपर यह बतला देना जरूरी है कि उक्त जिनसंज्ञिता में जो पूजकका स्वरूप वर्णन किया है वह वास्तवमें पूजकाचार्यका ही स्वरूप है । वह स्वरूप इस संहिताके तीसरे परिच्छेदमें इसप्रकार दिया है —

अथ वक्ष्यामि भूपाल । शृणु पूजकलक्षणम् ।
लक्षितं भगवद्भयवच्च नखिलगोचरे ॥ १ ॥
त्रैवाणिकोऽभिरूपाङ्ग मय्यदृष्टिगुणवती ।
चतुरः शौचवान्विद्वान् योग्य स्याज्जिनपूजने ॥ २ ॥
न शूद्र स्यान्न दुष्टाष्टर्न पापाचारपाण्डितः ।
न निष्कृष्टक्रियावृत्तिर्नतिकपरिदूषितः ॥ ३ ॥
नाऽधकः क्लो न हानाङ्गा नाऽतिदीर्घो न वामनः ।
नाऽबद्धा न तन्द्रालुर्नाऽतिवृद्धो न बालकः ॥ ४ ॥
नाऽतिबुद्धो न दुष्टात्मा नाऽतमानो न मार्यकः ।
नाऽगुचन विरूपाङ्गा नाऽजानन् जिनमहिताम् ॥ ५ ॥
निषिद्ध पुण्यो देव यश्चेत् त्रिजगत्प्रभुम् ।
राजराष्ट्रावनाश स्यात्कर्तृकारकयोगि ॥ ६ ॥
तस्माद्यत्नतः गृह्णीयात्पूजकं त्रिजगद्गुणम् ।

उक्तलक्षणमेवाऽऽर्यः कदाचिदापि नाऽरम ॥ ७ ॥

यदीन्द्रधुन्दाऽचितपादपंकज जिनेश्वर प्रोक्तगुणः समश्नेयेत् ।

नृश्वराष्ट्रं च सुखास्पदं भवेत् तथैव कर्त्ता च जनश्वकारकः ॥ ८ ॥

साधारण्य इसका यह है कि 'हे राजन् । मैं अब श्रीजिनमहोदयके वचनानुसार पूजकका लक्षण कहता हूँ, उसको तुम सुनो—

जो तीनों वर्णोंमेंसे किसी वर्णका धारक हो रूपवान हो, सम्मदृष्टि हो, पंच अणुव्रतका पालन करनेवाला हो, चतुर हो, शौचवान हो और विद्वान हो वह जिनदेवकी पूजा करनेके योग्य होता है। (परन्तु) ब्रूद, मिथ्यादृष्टि, पापाचारमें प्रवीण, नीचक्रिया तथा नीच कर्म करनेवाला, रोगी अधिक अगवाला, अगहीन, अधिक लम्बे क्रदका, बहुत छोटे क्रदका (वामना), भोला वा मूर्ख निद्रालु या आलसी, अतिवृद्ध बालक, अति लोभी दुष्टात्मा, अतिमानी, मायाचारी, अपवित्र, कुरूप और जिनसहिताको न जाननेवाला पूजन करनेके योग्य नहीं होता है। यदि निषिद्ध पुरुष भगवानका पूजन करे तो राजा और देशका तथा पूजन करनेवाले और करानेवाले दोनोंका नाश होता है। इसलिये पूजन करानेवालेको य नके साथ जिनेन्द्रदेवका पूजक ऊपर कहे हुए गुणोवाला ही ग्रहण करना चाहिये—इसरा नहीं। यदि ऊपर कहे हुए गुणोवाला पूजक इन्द्र समूहसे वदित श्रीजिनदेवके चरणकमलकी पूजा करे तो राजा, देश तथा पूजन करनेवाला और कराने वाला सब सुखके भागी होते हैं।

अब यहाँपर विचारणीय यह है कि, यह उपर्युक्त स्वरूप साधारण नित्यपूजकका है या ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकका अथवा पूजकाचार्यका है। साधारण नित्यपूजकका यह स्वरूप हो नहीं सकता, क्योंकि ऐसा माननेपर आगमसे विरोधादिक समस्त वही दोष यहाँ भी पूर्णरूपसे घटित होत है, जो कि धम्मप्रदश्रावकाचार और पूजासारमें वर्णन किये हुए ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकके स्वरूपको नित्यपूजक मात्रका स्वरूप स्वीकार करनेपर विस्तारके साथ ऊपर दिखलाये गये हैं। बल्कि इस स्वरूपमें कुछ बातें उससे भी अधिक हैं, जिनसे और भी अनेक प्रकारकी बाधाएँ उपस्थित होती हैं और जो विस्तार-भयसे यहाँ नहीं लिखी जाती। इस स्वरूपके अनुसार जो जैनी रूपवान् नहीं है, विद्वान् नहीं है, चतुर नहीं है अर्थात् भोला वा मूर्ख है, जो जिनसहिताको नहीं जानता, जिसका कद अधिक लम्बा

या छोटा है, जो बालक है या अतिवृद्ध है, जो पापके काम करना जानता है और जो अतिमानी, मायाचारी तथा लोभी है, वह भी पूजनका अधिकारी नहीं ठहरता। इसको साधारण नित्यपूजकका स्वरूप माननेसे पूजनका मार्ग और भी अधिक इतना तग (सकीर्ण) हो जाता है कि वर्तमान १३-१४ लाख जैनियोंमें शायद कोई बिरला ही जैनी ऐसा निकले जो इन समस्त लक्षणोंसे सुसम्पन्न हो और जो जिनदेवका पूजन करनेके योग्य समझा जावे। वास्तवमें भक्तिपूर्वक जो नित्यपूजन किया जाता है उसके लिये इन बहुतसे विशेषणोंकी आवश्यकता नहीं है, यह ऊपर कहे हुए नित्यपूजन के स्वरूपसे ही प्रगट है। अत आगमसे विरोध आने तथा पूजनसिद्धान्त और नित्यपूजनके स्वरूपसे विरुद्ध पडनेके कारण यह स्वरूप साधारण नित्यपूजकका भी नहीं हो सकता। इसी प्रकार यह स्वरूप ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकका भी नहीं हो सकता। क्योंकि ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकका जो स्वरूप धर्मसमग्रश्रावकाचार और पूजासार ग्रन्थोंमें वर्णन किया है और जिसका कथन ऊपर आ चुका है, उससे इस स्वरूपमें बहुत कुछ विलक्षणता पाई जाती है। यहाँपर अन्य बातोंके सिवा त्रैवर्णिकोंकी ही पूजनका अधिकारी वर्णन किया है, परन्तु ऊपर अनेक प्रमाणोंसे यह सिद्ध किया जा चुका है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चारों ही वर्णोंके मनुष्य पूजन कर सकते हैं और ऊँचे दर्जेके नित्यपूजक हो सकते हैं। इसलिये यह स्वरूप ऊँचे दर्जेके नित्यपूजक तक ही पर्याप्त नहीं होता, बल्कि उसकी सीमासे बहुत आगे बढ़ जाता है।

दूसरे यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि ऊँचा दर्जा हमेशा नीचे दर्जेकी और नीचा दर्जा ऊँचेकी अपेक्षासे ही कहा जाता है। जब एक दर्जेका मुख्यरूपसे कथन किया जाता है तब दूसरा दर्जा गौण होजाता है, परन्तु उसका सर्वथा निषेध नहीं किया जाता। जैसा कि सकलचारित्र (महाव्रत) का वर्णन करते हुए देशचारित्र (अणु-

व्रत) और देशचारित्रका कथन करते समय सकलचारित्र गौण होता है, परन्तु उसका सर्वथा निषेध नहीं किया जाता अर्थात् यह नहीं कहा जाता कि जिसमें महाव्रतीके लक्षण नहीं वह व्रती ही नहीं हो सकता । व्रती वह जरूर हो सकता है, परन्तु महाव्रती नहीं कहला सकता । इससे यह सिद्ध होता है कि यदि ग्रन्थकारमहोदय-के लक्ष्यमें यह स्वरूप ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकका ही होता, तो वे कदापि साधारण (नीचे दर्जेके) नित्यपूजकका सर्वथा निषेध न करते—अर्थात्, यह न कहते कि इन लक्षणोंसे रहित दूसरा कोई पूजक होनेके योग्य ही नहीं या पूजन करनेका अधिकारी नहीं । क्योंकि दूसरा नीचे दर्जेवाला भी पूजक होता है और वह नित्य-पूजन कर सकता है । यह दूसरी बात है कि वह कोई विशेष नैमित्तिक पूजन न कर सकता हो । परन्तु ग्रन्थकारमहोदय 'उक्त-लक्षणमेवार्थ कदाचिदपि नाऽपरम्' इस सप्तम श्लोकके उत्तरार्ध-द्वारा स्पष्टरूपसे उक्त लक्षणरहित दूसरे मनुष्यके पूजकपनेका निषेध करते हैं, बल्कि छठे श्लोकमें यहाँतक लिखते हैं कि यदि निषिद्ध (उक्तलक्षणरहित) पुरुष पूजन कर ले तो राजा, देश, पूजन करने-वाला और करानेवाला सब नाशको प्राप्त हो जावेगे । इससे प्रगट है कि उन्होंने यह स्वरूप ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकको भी लक्ष्य करके नहीं लिखा है । भावार्थ—इस स्वरूपका किसी भी प्रकारके नित्य पूजकके साथ नियमित अथवा अविनाभाव सम्बन्ध न होनेसे, यह किसी भी प्रकारके नित्यपूजकका स्वरूप या लक्षण नहीं है । बल्कि उस नैमित्तिक पूजनविधानके कतसि सम्बन्ध रखता है जिस पूजन-विधानमें पूजन करनेवाला और होता है और उसका करानेवाला अर्थात् उस पूजनविधानके लिये द्रव्यादि खर्च करनेवाला दूसरा होता है । क्योंकि स्वयं उपर्युक्त श्लोकमें आये हुए 'कर्तृकार-कयोः' 'गृहीयान' और 'नथैव कर्त्ता च जनश्च कारकः' इन पदोंसे-भी यह बात पाई जाती है । 'यत्नेन गृहीयात् पूजकं' 'उक्तलक्षण-

मेवार्थः' ये पद साफ़ बतला रहे हैं कि यदि यह वर्णन नित्यपूजकका होता तो यह कहने या प्रेरणा करनेकी जरूरत नहीं थी कि पूजन-विधान करानेवाले को तलाश करके उक्त लक्षणोंवाला ही पूजक (पूजनविधान करनेवाला) ग्रहण करना चाहिये, दूसरा नहीं। इसी प्रकार पूजन-फलवर्णनमें 'कर्तृकारकयो' इत्यादि पदों-द्वारा पूजन करनेवाले और करानेवाले दोनोंका भिन्न भिन्न निर्देश करनेकी भी कोई जरूरत नहीं थी, परन्तु चूँकि ऐसा किया गया है, इससे स्वयं ग्रन्थकारके वाक्योंसे भी प्रगट है कि यह नित्यपूजकका स्वरूप या लक्षण नहीं है। तब यह स्वरूप किसका है? इस प्रश्नके उत्तरमें यही कहना पड़ता है कि पूजकके जो मुख्य दो भेद वर्णन किये गये हैं—एक नित्यपूजन करनेवाला और दूसरा प्रतिष्ठादि विधान करने वाला—उनमेंसे यह स्वरूप प्रतिष्ठादि विधान करनेवाले पूजकका ही हो सकता है, जिसको प्रतिष्ठाचार्य, पूजकाचार्य और इन्द्र भी कहते हैं। प्रतिष्ठादि विधानमें ही प्रायः ऐसा होता है कि विधानका करने वाला तो और होता है और उसका करानेवाला दूसरा। तथा ऐसे ही विधानोंका शुभाशुभ असर कथंचित् राजा, देश, नगर और कराने-वाले आदि पर पड़ता है। प्रतिष्ठा-विधानमें प्रतिमाओंमें मन्त्रद्वारा अर्हतादिककी प्रतिष्ठाकी जाती है। अतः जिस मनुष्यके मन्त्रसामर्थ्यसे प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित होकर पूजने योग्य होती हैं वह कोई साधारण व्यक्ति नहीं हो सकता। वह कोई ऐसा ही प्रभावशाली, माननीय, सर्वगुणसम्पन्न असाधारण व्यक्ति होना चाहिये।

इन सबके अतिरिक्त, पूजकाचार्य या प्रतिष्ठाचार्यका जो स्वरूप धर्मसम्प्रदायकाचार, पूजासार और प्रतिष्ठासारोद्धार आदिक जैन-शास्त्रोंमें स्पष्टरूपसे वर्णन किया गया है उससे इस स्वरूपकी प्रायःसब बात मिलती है, जिससे भले प्रकार निश्चित होता है कि यह स्वरूप प्रतिष्ठादि-विधान करनेवाले पूजक अर्थात् प्रतिष्ठाचार्य या पूजका-चार्यसे ही सम्बन्ध रखता है। यद्यपि इस निबन्धमें पूजकाचार्यया

प्रतिष्ठाचार्यका स्वरूप विवेचनीय नहीं है तथापि प्रसंगवश यहाँपर उसका किंचित् दिग्दर्शन करा देना जरूरी है, जिससे, यह मासूम करके कि दूसरे शास्त्रोंमें भी प्रायः यही स्वरूप प्रतिष्ठाचार्य या पूजकाचार्य का वर्णन किया है, इस विषयमें फिर कोई संदेह बाकी न रहे। सबसे प्रथम धर्मसंग्रहभावका चारको ही लीजिये। इस ग्रन्थके ६ वे अधिकारमें, नित्यपूजकका स्वरूप कथन करनेके अनन्तर, श्लोक न १४५ से १५२ तक आठ श्लोकों में पूजकाचार्यका स्वरूप वर्णन किया है। वे श्लोक इस प्रकार हैं —

इदानीं पूजकाचार्यलक्षण प्रतिपाद्यते ।

ब्राह्मण. क्षत्रियो वैश्यो नानालक्षणलक्षित ॥ १४५ ॥

कुलजात्यादिसशुद्ध सद्गृह्णित्देशसयमी ।

वेत्ता जिनागमस्याऽनालस्य. श्रुतबहुश्रुत ॥ १४६ ॥

ऋजुर्वाग्मी प्रसन्नोऽपि गभीरो घ्ननयान्वित ।

शौचाऽऽचमनसात्साहो दानवान्कर्मकमेठ ॥ १४७ ॥

साङ्गोपाङ्गयुत शुद्धो लक्ष्यलक्षणवित्सुधी ।

स्वदारी ब्रह्मचारी वा नीरोगः सत्क्रियारतः ॥ १४८ ॥

वारिमंत्रव्रतस्नात प्रोषधव्रतधारकः ।

निरभिमानी च मौनी च त्रिसंध्य देववन्दकः ॥ १४९ ॥

भावकाचारपूतात्मा दीक्षाशिक्षागुणान्वितः ।

क्रियाषोडशभिः पूतो ब्रह्मसूत्रादिसंस्कृतः ॥ १५० ॥

न हीनाङ्गो नाऽधिकाङ्गो न प्रलम्बो न वामनः ।

न कुरूपो न मूढात्मा न वृद्धो नातिबालकः ॥ १५१ ॥

न क्रोधादिकषायाढ्यो नार्थार्थी व्यसनी न च ।

नान्त्यास्त्रयो न तावाद्यौ भावकेषु न संयमी ॥ १५२ ॥

इन उपर्युक्त पूजकाचार्यस्वरूपप्रतिपादक श्लोकोंमें जो—“ब्राह्मणः (ब्राह्मण हो), क्षत्रियः (क्षत्रिय हो), वैश्यः (वैश्य हो), नानालक्षणलक्षितः (शरीरसे सुन्दर हो), सद्गृह्णितः (सम्यग्गृह्णित हो), देश-

संयमी (अशुद्धज्ञ हो), जिनागमस्य वेत्ता (जिनसंहिता आदि जैन-शास्त्रोंका जाननेवाला हो), अनालस्य. (आलस्य वा तन्द्रारहित हो), वाग्मी (चतुर हो), विनयान्वितः (मानकषायके अभावके रूप विनय-सहित हो), शौचाभ्यसनसोत्साह (शौच और आचमन करनेमें उत्साहवान् हो), सांगोपांगयुत (ठीक अंगोपांगका धारक हो), शुद्ध (पवित्र हो), लक्ष्यलक्षणवितुषीः (लक्ष्य और लक्षणका जाननेवाला बुद्धिमान् हो), स्वदारी ब्रह्मचारी वा (स्वदारसतीषी हो या अपनी स्त्रीका भी त्यागी हो अर्थात् ब्रह्मचर्याशुश्रूतके जो दो भेद हैं उनमें-से किसी भेदका धारक हो), नीरोग (रोग रहित हो), सक्रियारत (नीची क्रियाके प्रतिकूल उची और श्रेष्ठ क्रिया करनेवाला हो), धारिमंत्रव्रतस्नात (जलस्नान, मंत्रस्नान और व्रतस्नानसे पवित्र हो), निरभिमानी (अभिमानरहित हो), न हीनांगः (अग-हीन न हो) नाऽधिकांग (अधिक अंगका धारक न हो), न प्रलम्बः (लम्बे कदका न हो), न वामनः (छोटे कदका न हो), न कुरूपी (बदभूरत न हो), न मूढात्मा (मूर्ख न हो), न वृद्ध (बूढ़ा न हो), नाऽतिबालक (अति बालक न हो), न क्रोधादिकषायाकृष्ट (क्रोध, मान, माया, लोभ, इन कषायोंमेंसे किसी कषायका धारक न हो), न च व्यसनो (और पापाचारी न हो),—इत्यादि विशेषण-पद आये हैं, उनसे प्रगट है कि उपर्युक्त जिनसंहितामें जो विशेषण पूजकके दिये हैं वे सब यहाँपर साफ तौरसे पूजकाचार्यके वर्णन किये हैं। बल्कि श्लो० न० १५१ तो जिनसंहिताके श्लोक न ४ से प्राय यहाँतक मिलता जुलता है कि एकको दूसरेका रूपान्तर कहना चाहिये। इसीप्रकार निम्नलिखित तीन श्लोकोंमें जो ऐसे पूजकके द्वारा कियेहुए पूजनका फल वर्णन किया है वह भी जिनसंहिताके श्लोक न० ६ और ८ से बिल्कुल मिलता जुलता है।

ईदृगदोषभृदाचार्यः प्रतिष्ठां कुरुतेऽत्र चेत् ।

तदा राष्ट्रं पुरं राज्यं राज्ञाभिः प्रलयं ब्रजेत् ॥ १५३ ॥

कर्ता फलं न चाप्नोति नैव कारयिता ध्रुवम् ।
 ततस्त्वलक्षणाग्रेष्ठः पूजकाचार्य इष्यते ॥ १५४ ॥
 पूर्वोक्तलक्षणैः पूर्णः पूजयेत्परमेश्वरम् ।
 तदा दाता पुरं देशं स्वयं राजा च वर्द्धते ॥ १५५ ॥

अर्थात्—यदि इन दोषोका धारक पूजकाचार्य कहीपर प्रतिष्ठा करावे, तो समझो कि देश, पुर, राज्य तथा राजादिक नाशको प्राप्त होते हैं और प्रतिष्ठा करने और करानेवाला दोनों भी अच्छे फलको प्राप्त नहीं होते, इसलिये उपर्युक्त उत्तम लक्षणोंसे विभूषितही पूजकाचार्य (प्रतिष्ठाचार्य) कहा जाता है। ऊपर जो जो पूजकाचार्यके लक्षण कह आये हैं, यदि उन लक्षणोंसे युक्त पूजक परमेश्वरका पूजन (प्रतिष्ठादि विधान) करे तो उस समय धनका खर्च करनेवाला दाता, पुर, देश तथा राजा ये सब दिनोदिन वृद्धिको प्राप्त होते हैं।

पूजासार ग्रन्थमे भी, नित्य पूजका स्वरूप कथन करनेके अनन्तर श्लोक न० १६ से २८ तक पूजकाचार्यका स्वरूप बर्णन किया गया है। इस स्वरूपमे भी पूजकाचार्यके प्राय वे ही सब विशेषण दिये गये हैं जो कि धर्मसमग्रश्रावकाचारमे वर्णित है और जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। यथा —

“लक्षणोद्भासी^१, जिनागमविशारद, सम्यग्दर्शनसम्पन्नः, देश-सयमभूषित वाग्मी, श्रुतबहुग्रन्थः, अनालस्य, ऋजु, विनयसयुत, पूतात्मा^२, पूतवाग्बुद्धि^३, शौचाचमनतत्पर, सांगोपांगेन सशुद्ध लक्षणलक्ष्यवित्, नोरोगी, ब्रह्मचारी च स्वदारारतिकोऽपि वा, जल-मंत्रव्रतस्नात, निरभिमानी, विचक्षण, सुरुपो, सत्क्रिय, वैश्यादिषु समुद्भव” इत्यादि।

इसी प्रकार प्रतिष्ठासारोद्धार ग्रन्थके प्रथम परिच्छेदमे श्लोक

१ शरीरसे सुन्दर हो २ पापाचारी न हो ३ मच बोलनेवाला हो तथा नीच क्रिया करके आजीविका करनेवाला न हो।

न०१० से १६ तक जो प्रतिष्ठाचार्यका स्वरूप दिया गया है, उसमें भी—
 'कल्याणागः, रुजा हीनः, सकलेन्द्रियः, शुभलक्षणसम्पन्न, सौम्य-
 रूपः, सुदर्शनः, विप्रो वा क्षत्रियो वैश्यः, विकर्मकरणोऽविभक्तः, ब्रह्म-
 चारी गृहस्थो वा, सम्यग्दृष्टिः, निःकषायः, प्रशान्तात्मा, वैश्यादि-
 व्यसनोन्मिक्तः, दृष्टसृष्टक्रिय, विनयान्वितः, शुचिः, प्रतिष्ठावि-
 धिवित्सुधी, महापुराणशास्त्रज्ञः, न चार्थार्थी, न च द्वेष्टि—'

इत्यादि विशेषण पदोंसे प्रतिष्ठाचार्यके प्राय वे ही समस्त विशेषण वर्णन किये गये हैं, जो कि जिनसहितामे पूजकके और धर्म-समग्रश्रावकाचार तथा पूजासार ग्रन्थोमे पूजकाचार्यके वर्णन किये हैं।

यह दूसरी बात है कि किसीने किसी विशेषणको सक्षेपसे वर्णन किया और किसीने विस्तारसे, किसीने एक शब्दमे वर्णन किया और किसीने अनेक शब्दोमे, अथवा किसीने सामान्यतया एकरूपमें वर्णन किया और किसीने उसी विशेषणको शिष्योको अच्छीतरह समझाने-के लिये अनेक विशेषणोमे वर्णन कर दिया, परन्तु आशय सबका एक है, अतः सिद्ध है कि जिनसहितामे जो पूजकका स्वरूप वर्णन किया है वह वास्तवमे प्रतिष्ठादिविधान करनेवाले पूजक अर्थात् पूजकाचार्य या प्रतिष्ठाचार्यका ही है।

इस प्रकार यह सक्षिप्त रूपसे, आचरण-सम्बन्धी कथनशैलीका रहस्य है। धर्मसमग्रश्रावकाचार और पूजासार ग्रन्थमे जो, साधारण-नित्यपूजकका स्वरूप न लिखकर, ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकका ही स्वरूप लिखा गया है उसका भी यही कारण है।

यद्यपि ऊपर यह दिखलाया गया है कि उक्त दोनों ग्रन्थोमे जो पूजकका स्वरूप वर्णन किया गया है वह ऊँचे दर्जेके नित्य पूजकका स्वरूप होनेसे और उसमे शूद्रको भी स्थान दिये जानेसे शूद्र भी ऊँचे दर्जेका नित्यपूजक हो सकता है तथापि इतना और समझ लेना चाहिये कि शूद्र भी उन समस्त गुणोंका पात्र है जो कि, नित्य-पूजकके स्वरूपमें वर्णन किये गये हैं और वह ११ वी प्रतिमाको

धारण करके ऊँचे दर्जेका श्रावक भी हो सकता है, अतः उसके ऊँचे दर्जेके नित्यपूजक हो सकनेमें कोई बाधक भी प्रतीत नहीं होता । वह पूर्णरूपसे नित्यपूजनका अधिकारी है ।

अब जिन लोगीका ऐसा खयाल है कि शूद्रोका उपनीति (यज्ञोपवीतधारण) संस्कार नहीं होता और इसलिये वे पूजनके अधिकारी नहीं हो सकते, उनको समझना चाहिये कि पूजनके किसी खास भेद को छोड़कर आमतौर पर पूजनके लिये यज्ञोपवीत (ब्रह्मसूत्र-जनेऊ) का होना जरूरी नहीं है । स्वर्गादिकके देव और देवागनायें प्रायः सभी जिनेन्द्रदेवका नित्यपूजन करते हैं और खास तौरसे पूजन करनेके अधिकारी वर्णन किये गये हैं, परन्तु उनका यज्ञोपवीत संस्कार नहीं होता । ऐसी ही अवस्था मनुष्य-स्त्रियोकी है । वे भी जगह जगह शास्त्रोमे पूजनकी अधिकारिणी वर्णन की गई हैं—स्त्रियोकी पूजन-सम्बन्धिनी असह्य कथाओसे जैनसाहित्य भरपूर है—उनका भी यज्ञोपवीत-संस्कार नहीं होता । ऊपर उल्लेख की हुई कथाओमे जिन गज-ग्वाल आदिने जिनेन्द्रदेवका पूजन किया है, वे भी यज्ञोपवीत-संस्कारसे संस्कृत (जनेऊके धारक) नहीं थे । इससे प्रगट है कि नित्यपूजकके लिये यज्ञोपवीत-संस्कारसे संस्कृत होना लाजमी और जरूरी नहीं है और न यज्ञोपवीत पूजनका चिन्ह है । बल्कि -ह द्विजोंके व्रतका चिन्ह है; जैसा कि आदिपुराण पर्व ३८-३९-४१मे, भगवज्जिनसेनाचार्यके निम्नलिखित वाक्योसे प्रगट है —

“व्रतचिन्हं दधत्सूत्रम् ...”

‘व्रतसिद्धयर्थमेवाऽहमुपनीतोऽस्मि साम्प्रतम् .’

‘व्रतचिन्हं भवेदस्य सूत्रं मंत्रपुरःसरम् .’

“व्रताचिन्हं च न सूत्रं पवित्रं सूत्रदर्शितम् ।”

“व्रतचिन्हानि सूत्राणि गुणभूमिबिभागतः ।”

वर्तमान प्रवृत्ति (रिवाज) की ओर देखनेसे भी यही मालूम होता

है कि नित्यपूजनके लिये जनेऊका होना जरूरी नहीं समझा जाता, क्योंकि स्थान-स्थानपर नित्यपूजन करनेवाले तो बहुत हैं परन्तु यज्ञोपवीतसंस्कारसे संस्कृत (जनेऊधारक) बिरहो ही जैनी देखनेमें आते हैं। और उनमें भी बहुतसे ऐसे पाये जाते हैं जिन्होंने नाममात्र कन्धे-पर सूत्र (तागा) डाल लिया है, वैसे यज्ञोपवीत संबंधी क्रियाकर्मसे वे कोसो दूर हैं। दक्षिण देशको छोड़कर अन्य देशोंमें तथा खासकर पश्चिमोत्तर प्रदेश अर्थात् युक्तप्रान्त और पंजाबदेशमें तो यज्ञोपवीत-संस्कारकी प्रथा ही, एक प्रकारसे, जैनियोंसे उठ गई है, परन्तु नित्य-पूजन सर्वत्र बराबर होता है। इससे भी प्रगट है कि नित्यपूजनके लिये जनेऊका होना आवश्यक कर्म नहीं है और इसलिये जनेऊका न होना शूद्रोंको नित्यपूजन करनेमें किसी प्रकार भी बाधक नहीं हो सकता। उनको नित्यपूजनका पूरा पूरा अधिकार प्राप्त है।

यह दूसरी बात है कि कोई अस्पृश्य शूद्र, अपनी अस्पृश्यताके कारण, किसी मंदिरमें प्रवेश न कर सके और मूर्तिको न छू सके, परन्तु इससे उसका पूजनाधिकार खंडित नहीं हो जाता। वह अपने घरपर त्रिकाल-देववन्दना कर सकता है, जो पूजनमें दाखिल है। तथा तीर्थस्थानों, अतिशयक्षेत्रों और अन्य ऐसे पर्वतों पर—जहाँ खुले मैदानमें जिनप्रतिमाएँ विराजमान हैं और जहाँ भील चाण्डाल तथा म्लेच्छ तक भी बिना रोकटोक जाते हैं—जाकर दर्शन और पूजन कर सकता है। इसी प्रकार वह बाहरसे भी मंदिरके शिखरादिकमें स्थित प्रतिमाओंका दर्शन और पूजन कर सकता है। प्राचीन समयमें प्रायः जो जिनमंदिर बनवाये जाते थे उनके शिखर या द्वार आदिक अन्य किसी ऐसे उच्च स्थानपर, जहाँ सर्वसाधारणकी दृष्टि पड़ सके, कमसेकम एक जिनप्रतिमा जरूर विराजमान की जाती थी, ताकि (जिससे) वे जातियाँ भी जो अस्पृश्य होनेके कारण, मंदिरमें प्रवेश नहीं कर सकती, बाहरसे ही दर्शनादिक कर सके। यद्यपि आजकल ऐसे मंदिरोंके बनवानेकी वह प्रशंसनीय प्रथा जाती रही है—जिसका

प्रधान कारण जैनियोका क्रमसे ह्रास और इनमेंसे राजसत्ताका सर्वथा लोप हो जाना ही कहा जा सकता है— तथापि दक्षिण देशमें, जहाँ-पर अन्तमें जैनियोका बहुत कुछ चमत्कार रह चुका है और जहाँसे जैनियोका राज्य उठे हुए बहुत अधिक समय भी नहीं हुआ है, इस समय भी ऐसे जिनमंदिर विद्यमान हैं जिनके शिखरादिकमें जिनप्रति-माएँ अंकित हैं।

इस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चारो ही वर्णके सब मनुष्य नित्यपूजनके अधिकारी हैं और खुशीसे नित्यपूजन कर सकते हैं। नित्यपूजनमें उनके लिये यह नियम नहीं है कि वे पूजकके उन समस्त गुणोंको प्राप्त करके ही पूजन कर सकते हो, जो कि धर्म-सम्पद्, श्रावकाचार और पूजासार ग्रन्थोंमें वर्णन किये हैं। बल्कि उनके बिना भी वे पूजन कर सकते हैं और करते हैं। क्योंकि पूजकका जो स्वरूप उक्त ग्रन्थोंमें वर्णन किया है वह ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकका है और जब वह स्वरूप ऊँचे दर्जेके नित्यपूजकका है तब यह स्वतः सिद्ध है कि उस स्वरूपमें वर्णन किये हुए गुणोंमेंसे यदि कोई गुण किसीमें न भी होवे तो भी वह पूजनका अधिकारी और नित्यपूजक हो सकता है। दूसरे शब्दोंमें यो कहिये कि जिनके हिंसा, भूठ, चोरी, कुशील (परस्त्रीसेवन) परिग्रह इन पच पापों या इनमेंसे किसी पापका त्याग नहीं है, जो दिग्विरति आदि सप्तशीलव्रत या उनमेंसे किसी शीलव्रतके धारक नहीं हैं, अथवा जिनका कुल और जाति शुद्ध नहीं है या इसी प्रकार और भी किसी गुणसे जो रहित है, वे भी नित्य-पूजन कर सकते हैं और उनको नित्यपूजनका अधिकार प्राप्त है।

यह दूसरी बात है कि गुणोंकी अपेक्षा उनका दर्जा क्या होगा ? अथवा की फल प्राप्तिमें अपने अपने भावोंकी अपेक्षा उनमें क्या कुछ न्यूनाधिकता (कमी बेसी) होगी ? और वह यहाँपर विवेचनीय नहीं है।

यद्यपि आजकल अधिकांश ऐसे ही गृहस्थ जैनी पूजन करते हुए

देखे जाते हैं जो हिंसादिक पाँच पापोंके त्यागरूप पंचभ्रगुव्रत या दिग्विरति आदि सप्तशीलव्रतके धारक नहीं हैं, तथापि ग्रथमानुयोगके ग्रन्थोंको देखनेसे मालूम होता है कि, ऐसे लोगोंका यह (पूजनका) अधिकार अर्वाचीन नहीं, बल्कि प्राचीन समयसे ही उनको प्राप्त है। जहाँ तहाँ जैनशास्त्रोंमें दिये हुए अनेक उदाहरणोंसे इसकी भले प्रकार पुष्टि होती है। यथा -

लंकाधीश महाराज रावण परस्त्रीसेवनका त्यागी नहीं था, प्रत्युत वह परस्त्रीलम्पट विख्यात है। इसी दुर्वासनासे प्रेरित होकर ही उसने प्रसिद्ध सती सीताका हरण किया था। इस विषयमें उसकी जो कुछ भी प्रतिज्ञा थी वह एतावन्मात्र (केवल इतनी) थी कि, 'जो कोई भी परस्त्री मुझको नहीं इच्छेगी, मैं उससे बलात्कार नहीं करूँगा।' नहीं कह सकते उसने कितनी परस्त्रियोंका-जो किसी भी कारणसे उससे रजामद (सहमत) होगई हो-सतीत्वभग किया होगा अथवा उक्त प्रतिज्ञासे पूर्व कितनी परदारान्त्रोंसे बलात्कार भी किया होगा। इस परस्त्रीसेवनके अतिरिक्त वह हिंसादिक अन्य पापोंका भी त्यागी नहीं था। दिग्विरति आदि सप्तशील व्रतोंके पालनकी तो वहा बात ही कहाँ? परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी, रविषेणाचार्यकृत पद्मपुराणमें अनेक स्थानोंपर ऐसा वर्णन मिलता है कि—'महाराजा रावणने बड़ी भक्तिपूर्वक श्रीजिनेन्द्रदेवका पूजन किया। रावणने अनेक जिनमंदिर बनवाये। वह राजधानीमें रहते हुए अपने राजमन्दिरोंके मध्यमें स्थित श्रीशातिनाथके सुविशाल चैत्यालयमें पूजन किया करता था। बहुरूपिणी विद्याको सिद्ध करनेके लिये बैठनेसे पूर्व तो उसने इस चैत्यालयमें बड़े ही उत्सवके साथ पूजन किया था और अपनी समस्त प्रजाको पूजन करनेकी आज्ञा दी थी। सुदर्शन मेरु और कैलाश पर्वत आदिके जिनमन्दिरोंका उसने पूजन किया और साक्षात् केवली भगवानका भी पूजन किया था।'।

कौरवों की नगरी का राजा सुमुख भी परस्त्रीसेवन का त्यागी नहीं था। उसने कीरक सेठकी स्त्री बनमाझा को अपने घरमें बस लिया था। फिर भी उसने महातपस्वी वरधर्म नामके मुनिराज को बनमा-लासहित आहार दिया और पूजन किया। यह कथा जिनसेवाचार्य-कृत तथा जिनदासब्रह्मचारिकृत दोनों हरिवंश पुराणोंमें लिखी है।

इसी प्रकार और भी सैकड़ों प्राचीन कथाएँ विद्यमान हैं, जिनमें पापियो तथा अकृतियों का पापाचरण कही भी उनके पूजन का प्रतिब-धक नहीं हुआ और न किसी स्थान पर ऐसे लोगोंके इस पूजनकर्म-को अस्तकर्म बतलाया गया। वास्तवमें, यदि विचार किया जाय तो मालूम होगा कि जिनेन्द्रदेव का भावपूर्वक पूजन स्वयं पापों का नाश करनेवाला है, शास्त्रोंमें उसे अनेक जन्मोंके संचित पापों को भी क्षण मात्रमें भस्म कर देनेवाला वर्णन किया है*। इसीसे पापों की निवृ-त्तिपूर्वक इष्ट-सिद्धिके लिये लोग जिनदेव का पूजन करते हैं। फिर पापाचरणियोंके लिये उसका निषेध कैसे हो सकता है? उनके लिये तो ऐसी अवस्थामें, पूजनकी और भी अधिक आवश्यकता प्रतीत होती है। पूजासार ग्रन्थमें साफ ही लिखा है कि —

ब्रह्मघ्नोऽथवा गोघ्नो वा तस्कर सर्वपापकृन् ।

जिनाघ्निगधसम्पर्कान्मुक्तो भवति तत्क्षणम् ॥

अर्थात्—जो ब्रह्महत्या या गोहत्या किये हुए हो, दूसरों का माल चुरानेवाला चोर हो अथवा इससे भी अधिक सम्पूर्ण पापों का करने-वाला भी क्यों न हो, वह भी जिनेन्द्र भगवानके चरणों का भक्तिभाव-पूर्वक चदनादि सुगन्ध द्रव्योंसे पूजन करने पर तत्क्षण उन पापोंसे छुटकारा पानेमें समर्थ होजाता है। इससे साफ तौर पर प्रगट है कि

* जिनपूजा कृता हन्ति पाप नानाभवोद्भवम् ।

बहुकालचिन काष्ठराशि वन्हिमिवाखिलम् ॥६—१०३॥

—धर्मसंग्रहशावकाचार

पापीसे पावा और कलकीसे कलकी मनुष्य भी जीजिमेंदेवका पूजन कर सकता है और भक्तिभावसे जिनदेवका पूजन करके अपने आत्माके कल्याणकी ओर अवसर हो सकता है। इसलिये जिसप्रकार भी बन सके सबको नित्यपूजन करना चाहिये। सभी नित्यपूजनके अधिकारी हैं और इसीलिये ऊपर यह कहा गया था कि इस नित्यपूजनपर मनुष्य, तिर्यंच, स्त्री, पुरुष, नीच, ऊँच, धनी, निर्धनी, व्रती, अव्रती, राजा, महाराजा, चक्रवर्ती और देवता सबका समानाधिकार है। समानाधिकारसे यहाँ कोई यह अर्थ न समझ लेवे कि सब एक साथ मिलकर, एक थालीसे एक सदली या चौकीपर अथवा एक ही स्थानपर पूजन करनेके अधिकारी हैं, किन्तु इसका अर्थ केवल यह है कि सभी पूजनके अधिकारी हैं। वे, एक रसोई या भिन्न भिन्न रसोईयोसे भोजन करनेके समान, आगे पीछे, बाहर भीतर, अलग और शामिल, जैसा अवसर हो और जैसी उनकी योग्यता उनको इजाजत (आज्ञा) दे, पूजन कर सकते हैं।

दस्साधिकार

यद्यपि अब कोई ऐसा मनुष्य या जाति-विशेष नहीं रही जिसके पूजनाधिकारकी मीमांसा की जाय—जैनधर्ममें अद्वा और भक्ति रखनेवाले ऊँच-नीच सभी प्रकारके मनुष्योंको नित्यपूजनका अधिकार प्राप्त है—तथापि इतनेपर भी जिनके हृदयमें इस प्रकारकी कुछ शका अवशेष हो कि दस्से (गोटे) जेनी भी पूजन कर सकते हैं या कि नहीं, उनको इतना और समझ लेना चाहिये कि जैनधर्ममें दस्से और बीसे का कोई भेद नहीं है, न कही पर जैनशास्त्रोंमें दस्से और बीसे शब्दोंका प्रयोग किया गया है।

जिस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चारों वर्णोंसे बाह्य(बाहर) बीसोंका कोई पाँचवाँ वर्ण नहीं है उसी प्रकार दस्सोंका भी कोई भिन्न वर्ण नहीं है। चारों वर्णोंमें ही उनका भी अन्तर्भाव

है। चारों ही वर्णोंके सभी मनुष्योंको पूजनका अधिकार प्राप्त होनेसे उनको भी वह अधिकार प्राप्त है। वैश्य जातिके दस्सोंका वर्ण वैश्य ही होता है। वे वैश्य होनेके कारण शूद्रोंसे ऊँचा दर्जा रखते हैं और शूद्र लोग मनुष्य होनेके कारण तिर्यचोंसे ऊँचा दर्जा रखते हैं। जब शूद्र तो शूद्र, तिर्यच भी पूजनके अधिकारी वर्णन किये गये हैं और तिर्यच भी कैसे ? मेढक जैसे। तब वैश्यजातिके दस्से पूजनके अधिकारी कैसे नहीं ? क्या वे जैनगृहस्थ या श्रावक नहीं होते ? अथवा श्रावकके बारह व्रतोंको धारण नहीं कर सकते ? जब दस्से लोग यह सब कुछ होते हैं और यह सब कुछ अधिकार उनको प्राप्त है, तब वे पूजन के अधिकारसे कैसे वंचित रखे जा सकते हैं ? पूजन करना गृहस्थ जैनियोंका परमावश्यक कर्म है। उसके साथ अप्रवाल, खंडेल-वाल या परवार आदि जातियोंका कोई बन्धन नहीं है—सबके लिये समान उपदेश है—जैसा कि ऊपर उल्लेख किये हुये आचार्योंके वाक्यों से प्रगट है। परमोपकारी आचार्योंने तो ऐसे मनुष्योंको भी पूजनाधिकारसे वंचित नहीं रक्खा जो आकठ पापमे मग्न हैं और पापीसे पापी कहलाते हैं। फिर वैश्य जातिके दस्सोंकी तो बात ही क्या हो सकती है ? श्रीकुन्दकुन्द मुनिराजका तो वचन ही यह है कि बिना पूजनके कोई श्रावक हो ही नहीं सकता। दस्से लोग श्रावक होते ही हैं, इससे उनको पूजनका अधिकार स्वतः सिद्ध है और वे बराबर पूजनके अधिकारी हैं।

शोलापुरमे दस्से जैनियोंके बनाये हुए तीन शिखरबन्द मंदिर और अनेक चैत्यालय मौजूद हैं। ग्वालियरमे भी दस्सोंका एक मंदिर है, सिवनीकी तरफ दस्से भाइयोंके बहुतसे जैनमंदिर हैं। श्रीसम्मेदशिखर शत्रु जय, मागीतु गी और कुन्धलगिरि तीर्थों पर शोलापुर वाले

ॐ वैश्यजातिके दस्सोंको छोटीसरण (श्रेणि) या 'छोटीसेन'के बनिये अथवा 'बिन्नैक्या' भी कहते हैं।

प्रसिद्ध धनिक श्रीमान् हरिभाई देवकराजी दस्साके बनवाये हुए जिन मंदिर हैं। इन समस्त मंदिर और चैत्यालयोंमें दस्सा, बीसा, सभी लोग बराबर पूजन करते हैं।

शोलापुरके प्रसिद्ध विद्वान् सेठ होराचंद नेमिचंदजी आनारेरी मजिस्ट्रेट दस्सा जैनी हैं। उनके घरमें एक चैत्यालय है, जिसमें वे और अन्य भाई सभी पूजन करते हैं। इसी प्रकार अन्य स्थानोंपर भी दस्सा जैनियोंके मंदिर हैं, जिनमें सब लोग पूजन करते हैं। जहाँ उनके पृथक् मंदिर नहीं हैं वहाँ वे प्रायः बीसोंके मंदिरमें ही दर्शन-पूजन करते हैं।

यह दूसरी बात है कि कोई एक द्रव्य या दो द्रव्यसे पूजन करने-को अथवा मंदिरके वस्त्रों और मंदिरके उपकरणोंमें पूजन न करके अन्य वस्त्रादिकोंमें पूजन करनेको पूजन ही न समझता हो, और इसी अभिप्रायके अनुसार कहीं कहींके बीसे अपने मंदिरोंमें दस्सोंको मंदिरके वस्त्र पहनकर और मंदिरके उपकरणोंको लेकर अष्ट द्रव्य-से पूजन न करने देते हो, परन्तु इसको केवल उनकी कल्पना ही कह सकते हैं—शास्त्रोंमें इसका कोई आधार और प्रमाण नहीं है। पूजन-सिद्धान्त और नित्यपूजनके स्वरूपके अनुसार वह पूजन अवश्य है। तीर्थस्थानों और अतिशयक्षेत्रोंकी पूजा-वन्दनाको दस्से-बीसे सभी जाते हैं और सभी अष्टद्रव्यसे पूजन करते हैं।

श्रीतारगाजी तीर्थपर नानचंद पदमसा नामके एक मुनीम हैं जो दस्सा जैनी हैं। वे उक्त तीर्थपर बीसोंके मंदिरोंमें, मंदिरके वस्त्रोंको पहन कर और मंदिरके उपकरणोंको लेकर ही, नित्य अष्ट द्रव्यसे पूजन करते हैं। अन्य स्थानोंपर भी—जहाँके बीसोंमें इस प्रकारकी कल्पना नहीं है—दस्सा जैनी बीसोंके मंदिरमें उसी प्रकार अष्ट द्रव्यादिसे पूजन करते हैं जिसप्रकार कि वे अपने मंदिरोंमें करते हैं। जिनको ऐसे देखनेका अवसर न मिला हो वे दक्षिण देशकी ओर जाकर स्वयं देख सकते हैं। उधर जाने पर उनको ऐसी जैन जातियाँ भी आम तौरपर

पूजन करती हुई मिलेगी जिनमे पुनर्विवाहकी प्रथा भी जारी है ।

इसके अतिरिक्त दस्सा जैनियोने अनेक प्रतिष्ठाएँ भी कराई हैं । एक प्रतिष्ठा शोलापुरके सेठ रावजी नानचन्दने कराई थी । पिछले साल भी दस्सा जैनियोकी दो प्रतिष्ठाएँ हो चुकी हैं । प्रतिष्ठा कराने वाले भगवानकी प्रतिमाके साथ रथादिकमे बैठते हैं और स्वयं भगवानका अष्ट ब्रव्यसे पूजन करते हैं । इसप्रकार प्रवृत्ति भी दस्सोंके पूजनाधिकारका भले प्रकार समर्थन करती है । इसलिये दस्सोंको बीसोंके समान ही पूजनका अधिकार प्राप्त है ।

किसी किसीका कहना है कि अपध्वसज अर्थात् व्यभिचारजातको ही दस्सा कहते हैं और व्यभिचारजात पूजनके अधिकारी नहीं होते, परन्तु ऐसा कहनेमे कोई प्रमाण नहीं है । जब प्रवृत्तिकी ओर देखते हैं तो वह भी इसके विरुद्ध पाई जाती है—जो मनुष्य किसी विधवा स्त्रीको प्रगट रूपसे अपने घरमे डाल लेता है अर्थात् उसके साथ कराओ (धरेजा) कर लेता है वह स्वयं व्यभिचारजात (व्यभिचारसे पैदा हुआ मनुष्य) न होते हुए भी 'दस्सा' समझा जाता है । यदि कोई बीमा किसी नीच जाति (शूद्रादिक) की कन्यासे विवाह कर लेता है तो वह भी आजकल जातिसे च्युत किया जाकर दस्सा या गाटा बनादिया जाता है और उसकी सतान भी दस्सोमे ही परिगणित होती है । इसीप्रकार यदि विधवाके साथ कराओ कर लेनेसे कोई पुत्र पैदा हो और उसका विवाह विधवासे न होकर किसी कन्यासे हो तो विधवा-पुत्रकी सतान 'व्यभिचारजात' न होते हुए भी 'दस्सा' ही कहलाती है । बहुधा वह सतान जो भर्तारके जीवित रहते हुए जारसे उत्पन्न होती है, व्यभिचारजात होते हुए भी, दस्सोंमें शामिल नहीं की जाती । कहीं कहीं पर दस्सेकी कन्यासे विवाहकर लेनेवाले बीसेको भी जातिसे खारिज (च्युत) करके दस्सोमे शामिल कर देते हैं; परन्तु बम्बई और दक्षिण प्रान्तादि बहुतसे स्थानोंमें यह प्रथा नहीं है । वहाँपर दस्सों और बीसोंमे परस्पर विवाह

संबंध होनेसे कोई जातिच्युत नहीं किया जाता। हमारी भारतवर्षीय दिगम्बरजैनमहासभाके समापति, जैनकुलभूषण श्रीमान् सेठ भाणिकचंदजी जे.पी. बम्बईके भाई पानाचंदजीका विवाह भी एक दस्सेकी कन्यासे हुआ था, परन्तु इससे उनपर कोई कलक नहीं आया और कलक आनेकी कोई बात भी न थी। प्राचीन और समीचीन प्रवृत्ति भी, शास्त्रोमे, ऐसी ही देखी जाती है, जिससे ऐसे विवाह सम्बन्धो पर कोई दोषारोपण नहीं हो सकता। अधिक दूर जानेकी जरूरत नहीं है। श्रीनेमिनाथजी तीर्थंकरके चचा वसुदेवजीको ही लीजिये। उन्होंने एक व्यभिचारजातकी पुत्रीसे, जिसका नाम प्रियगुमुन्दरी था, विवाह किया था। प्रियगुमुन्दरीके पिताका अर्थात् उस व्यभिचारजातका नाम एणीपुत्र था। वह एक तापसीकी कन्या ऋषिदत्तासे, जिससे आबस्ती नगरीके राजा शीलायुधने व्यभिचार किया था और उस व्यभिचारसे उक्त कन्याको गर्भ रह गया था, उत्पन्न हुआ था। यह कथा श्रीजिनसेनाचार्यकृत इरिविशपुराणमे लिखी है। इस विवाहसे वसुदेवजी पर, जो बड़े भारी जैनधर्मी थे, कोई कलक नहीं आया। न कही पर वे पूजनाधिकारसे वंचित रक्खे गये। बल्कि उन्होंने श्रीनेमिनाथजीके समवसरणमे जाकर साक्षात् श्रीजिनेन्द्रदेवका पूजन किया है और उनकी उक्त 'प्रियगुमुन्दरी' राणीने जिनदीक्षा धारण^xकी है। इससे प्रगट है कि व्यभिचारजातका ही नाम दस्सा नहीं है और न कोई व्यभिचारजात (अपध्वसज) पूजनाधिकारसे वंचित है। 'शद्राणां तु सधर्माणं सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः'—समस्त अपध्वसज (व्यभिचारसे उत्पन्न हुए मनुष्य) शूद्रोंके समानधर्मी हैं—यह वाक्य यद्यपि मनुस्मृतिका है, परन्तु यदि इस वाक्यको सत्य भी मान लिया जाय और अपध्वसजोको ही दस्से समझ लिया जाय, तो भी वे पूजनाधिकारसे वंचित नहीं हो सकते।

^x व्यभिचारजात भी दस्सा होता है ऐसा कह सकते हैं।

क्योंकि शूद्रोंको साफ़ तौरसे पूजनका अधिकार दिया गया है, जिसका कथन उपर विस्तारके साथ आचुका है। जब शूद्रोंको पूजनका अधिकार प्राप्त है, तब उनके समान धर्मियोको उस अधिकारका प्राप्त होना स्वतः सिद्ध है।

पूजनका अधिकार ही क्या ? जैनशास्त्रोके देखनेसे तो मालूम होता है कि अपध्वसज लोग जिनदीक्षा तक धारण कर सकते हैं, जिसकी अधिकार-प्राप्ति शूद्रोको भी प्रायः नहीं कही जाती। उदाहरणके तौरपर राजा कर्णको ही लीजिये। राजा कर्ण एक कुँवारी कन्यासे व्यभिचार-द्वारा उत्पन्न हुआ था और इसलिये वह अपध्वसज और 'कामीन' कहलाता है। श्रीजिनसेनाचार्यकृत हरिवंश-पुराणमे लिखा है कि महाराजा जरासिंधके मारे जानेपर राजा कर्णने सुदर्शन नामके उद्यानमे जाकर दमवर नामके दिगम्बर मुनिके निकट जिनेश्वरी दीक्षा धारण की। श्रीजिनदास ब्रह्मचारिकृत हरिवंश-पुराणमे भी ऐसा ही लिखा है, जैसा कि उसके निम्नलिखित श्लोकसे प्रगट है —

विजितोऽप्यरिभिः कर्णो निर्विण्णो मोक्षसौख्यदाम् ।

दीक्षा सुदर्शनोद्यानेऽग्रहीद्दमवरान्तिके ॥ २६-२८८ ॥

अर्थात्—शत्रुओंसे विजित होनेपर राजा कर्णको वैराग्य उत्पन्न होगया और तब उन्होने सुदर्शन नामके उद्यानमे जाकर श्रीदमवर नामके मुनिके निकट, मोक्षका सुख प्राप्त करानेवाली, जिनदीक्षा धारण की।

इससे यह भी प्रगट हुआ कि 'अपध्वसज' लोग अपने वर्गको छोडकर 'शूद्र' नहीं हो जाते, बल्कि वे शूद्रोंमे कथंचित् ऊँचा दर्जा रखते हैं और इसलिये दीक्षा धारण कर सकते हैं। ऐसी अवस्थामे उनका पूजनाधिकार और भी निर्विवाद हो जाता है।

यदि थोड़ी देरके लिये व्यभिचारजातको पूजनाधिकारसे वंचित रक्खा जावे तो कुड, गोलक, कामीन और सहोढादिक सभी प्रकारके

व्यभिचारजात पूजनाधिकारसे वंचित रहेंगे। भर्तारके जीवित रहनेपर जो सतान जारसे उत्पन्न होती है वह 'कुंड' कहलाती है। भर्तारके मरे पीछे जो संतान जारसे उत्पन्न होती है उसको 'गोलक' कहते हैं। अपनी माताके घर रहनेवाली कुंवारी कन्यासे व्यभिचार-द्वारा जो सतान उत्पन्न होती है वह 'कानीन' कही जाती है और जो सतान ऐसी कुंवारी कन्याको गर्भ रह जानेके पश्चात् उसका विवाह हो जानेपर उत्पन्न होती है उसको 'सुहोद' कहते हैं। इन चारो भेदोंमेंसे गोलक और कानीनकी परीक्षा (पहचान) तथा प्रायः सुहोदकी परीक्षा भी आसानीसे हो सकती है, परन्तु कुंडसतानकी परीक्षाका और खामकर ऐसी कुंडसतानकी परीक्षाका कोई साधन नहीं है, जो भर्तारके बारहो महीने निकट रहते हुए अर्थात् परदेशमे न होते हुए उत्पन्न हो। कुंडकी माताके सिवा और किसीको यह रहस्य मालूम नहीं हो सकता। बल्कि कभी कभी तो उसको भी इसमें भ्रम होना समभव है—वह भी ठीक ठीक नहीं कह सकती कि यह संतान जारसे उत्पन्न हुई या असली भर्तारसे। व्यभिचारजातको पूजनाधिकारसे वंचित करने पर कुंडसतान भी पूजन नहीं कर सकती, और कुंडसतानकी परीक्षा न हो सकनेसे सदिग्धावस्था उत्पन्न होती है। सदिग्धावस्थामे किसीको भी पूजन करनेका अधिकार नहीं होसकता; इससे पूजन करनेका ही अभाव सिद्ध हो जायगा, यह बड़ी भारी हानि होगी। अतः कोई व्यभिचारजात पूजनाधिकारसे वंचित नहीं होसकता। दूसरे, जब पापीसे पापी मनुष्य भी नित्यपूजन कर सकते हैं तो फिर कोरे व्यभिचारजातकी तो बात ही क्या हो सकती है? वे अवश्य पूजन कर सकते हैं।

वास्तवमे, यदि विचार किया जाय तो, जैनमतके पूजनसिद्धान्त और नित्यपूजनके स्वरूपाऽनुसार, कोई भी मनुष्य नित्यपूजनके अधिकारसे वंचित नहीं रह सकता। जिन लोगोंने परमात्माको रागी, द्वेषी माना है—पूजन और भजनसे परमात्मा प्रसन्न होता है, ऐसा जिन-

का सिद्धान्त है—और जो आत्मासे परमात्मा बनना नहीं मानते, यदि वे लोग शूद्रोको या अन्य नीच मनुष्योको पूजनके अधिकारसे वंचित रखे तो कुछ आश्चर्य नहीं, क्योंकि उनको यह भय हो सकता है कि, कहीं नीचे दर्जेके मनुष्योके पूजन कर लेनेसे या उनको पूजन करने देनेसे परमात्मा कुपित न हो जावे और उन सभीको फिर उसके कोपका प्रसाद न चखना पड़े। परन्तु जैनियोका ऐसा सिद्धान्त नहीं है। जैनी लोग परमात्माको परम वीतरागी शान्तस्वरूप और कर्ममलसे रहित मानते हैं। उनके दृष्ट परमात्मामे राग, द्वेष, मोह और काम-क्रोधादिक दोषोका सर्वथा अभाव है। किसीकी निन्दा-स्तुतिसे उस परमात्मामे कोई विकार उत्पन्न नहीं होता और न उसकी वीतरागता या शान्ततामे किसी भी कारणमे कोई बाधा उपस्थित हो सकती है। इसलिये किसी क्षुद्र या नीचे दर्जेके मनुष्यके पूजन कर लेनेसे परमात्माकी आत्मामे कुछ मलिनता आ जायगी, उसकी प्रतिमा अपूज्य हो जायगी अथवा पूजन करनेवालेको कुछ पाप-बन्ध हो जायगा, इस प्रकारका कोई भय ज्ञानवान् जैनियोके हृदयमे उत्पन्न नहीं हो सकता। जैनियोके यहा इस समय भी चादनपुर (महावीरजी)आदि अनेक स्थानोपर ऐसी प्रतिमाओके प्रत्यक्ष दृष्टान्त मौजूद हैं, जो शूद्र या बहुत नीचे दर्जेके मनुष्योद्वारा भूगर्भसे निकाली गई, स्पर्शी गई, पूजी गई और पूजी जाती है, परन्तु इससे उनके स्वरूपमे कोई परिवर्तन नहीं हुआ, न उनकी पूज्यतामे कोई फर्क (भेद) पड़ा और न जैनसमाजको ही उसके कारण किसी अनिष्टका सामना करना पड़ा, प्रत्युत वे बराबर जैनियोमेही नहीं किन्तु अजैनियोसे भी पूजी जाती हैं और उनके द्वारा सभी पूजकोका हितसाधन होनेके साथ साथ धर्मकी भी अच्छी प्रभावना होती है। अतः जैनसिद्धान्तके अनुसार किसी भी मनुष्यके लिये नित्यपूजनका निषेध नहीं हो सकता। दससा, अपध्वसज या व्यभिचारजात सबको इस पूजनका पूर्ण अधिकार प्राप्त है। यह दूसरी बात है कि—अपने आन्तरिक

द्वेष, आपसी बैमनस्य, धार्मिक भावोंके अभाव और हृदयकी संकीर्णता आदि कारणोंसे—एक जैनी किसी दूसरे जैनीको अपने घर या अपने अधिकृत मंदिरमें ही न आने दे अथवा आने तो दे किन्तु उसके पूजन कार्यमें किसी न किसी प्रकारसे बाधक हो जावे। ऐसी बातोंसे किसी व्यक्तिके पूजनाधिकार पर कोई असर नहीं पड़ सकता। वह व्यक्ति खुशीसे उस मंदिरमें नहीं, तो अन्यत्र पूजन कर सकता है। अथवा स्वयं समर्थ और इस योग्य होने पर अपना दूसरा नवीन मंदिर भी बनवा सकता है। अनेक स्थानोंपर ऐसे भी नवीन मंदिरोंकी सृष्टिका होना पाया जाता है।

यहाँ पर यदि यह कहा जाय कि आगम और सिद्धान्तसे तो दत्तोंको पूजनका अधिकार सिद्ध है और अधिकतर स्थानों पर वे बराबर पूजन करते भी हैं, परन्तु कहीं कहीं दत्तोंको जो पूजनका निषेध किया जाता है वह किसी जातीय अपराधके कारण एक प्रकारका तत्रस्थ जातीय दंड है, तो कहना होगा कि शास्त्रोंकी आज्ञाको उल्लंघन करके धर्मगुरुओंके उद्देश्य-विरुद्ध ऐसा दंडविधान करना कदापि न्यायसंगत और माननीय नहीं हो सकता और न किसी सभ्य जातिकी ओरसे ऐसी आज्ञाका प्रचारित किया जाना समुचित प्रतीत होता है कि 'अमुक मनुष्य धर्मसेवनसे वंचित किया गया और उसकी सतानपरम्परा भी धर्मसेवनसे वंचित रहेगी।'

सासारिक विषयवासनाओंमें फँसे हुए मनुष्य वैसे ही धर्मकार्योंमें शिथिल रहते हैं, उलटा उनको दंड भी ऐसा ही दिया जावे कि वे धर्मके कार्य न करने पावे, यह कहाकी बुद्धिमानी, वत्सलता और जातिहितैषिता होसकती है? सुदूरदर्शी विद्वानोंकी दृष्टिमें ऐसा दंड कदापि आदरणीय नहीं हो सकता। ऐसे मनुष्योंके किसी अपराधके उपलक्षमें तो वही दंड प्रशंसनीय हो सकता है जिससे धर्मसाधन तथा अपने आत्म-सुधारका और अधिक अवसर मिलें और उसके द्वारा वे अपने पापोंका क्षमन या संशोधन कर सकें—न यह कि डूबतेको

और धक्का दिया जावे । बिरादरी या जातिका यह कर्तव्य नहीं है कि वह किसीसे धर्मके कार्य छुड़ाकर उसको पाप-कार्योंके करनेका अवसर देवे ।

इसके सिवा जो धर्माधिकार किसीको स्वाभाविक रीतिसे प्राप्त है उसके छीन लेनेका किसी बिरादरी या पचायतको अधिकार ही क्या है ? बिरादरीके किसी भाईसे यदि बिरादरीके किसी नियमका उल्लंघन हो जावे या कोई अपराध बन जावे तो उसके लिये बिरादरीका केवल इतना ही कर्तव्य हो सकता है कि वह उस भाई पर कुछ आर्थिक दंड कर देवे या उसको अपने अपराधका प्रायश्चित्त लेनेके लिये बाधित करे और जब तक वह अपने अपराधका योग्य प्रायश्चित्त न ले ले तब तक बिरादरी उसको बिरादरीके कामोमें अर्थात् विवाह-शादी आदिक लौकिक कार्योंमें शामिल न करे और न बिरादरी उसके यहाँ ऐसे कार्योंमें सम्मिलित हो । इसी प्रकार वह उससे खाने पीने लेने देने और रिश्तेनातेका सम्बन्ध भी छोड़ सकती है । परन्तु, इससे अधिक, धर्ममें हस्तक्षेप करना बिरादरीके अधिकारसे बाह्य है और किसी बिरादरीके द्वारा ऐसा किये जानेका फलितार्थ यही हो सकता है कि वह बिरादरी, एक प्रकारसे, अपने पूज्य धर्मगुरुओंकी अवज्ञा-अवहेलना करती है ।

जिन लोगो (जैनियो) के हृदयमें ऐसे दृढविधानका विकल्प उत्पन्न हो उनको यह भी समझना चाहिये कि किसीके धर्मसाधनमें बिघ्न करना बड़ा भारी पाप है । अजनासुन्दरीने अपने पूर्वजन्ममें थोड़ेही कालके लिये, जिनप्रतिमाको छिपाकर, अपनी सौतनके दर्शन-पूजनमें अंतराय डाला था । उसका परिणाम यहाँ तक कटुक हुआ कि उसको अपने इस जन्ममें २२ वर्षतक पतिका दुःसह वियोग सहना पड़ा और अनेक सकट तथा आपदाओंका सामना करना पड़ा, जिनका पूर्ण विवरण श्रीपद्मपुराणके देखनेसे मालूम हो सकता है ।

रथणसार ग्रन्थमें श्रीकुन्दकुन्द मुनिराजने लिखा है कि—दूसरों-

के पूजन और दानमें अन्तराय (विघ्न) करनेसे जन्मजन्मान्तरमें क्षय, कुष्ट, भूल, रक्तविकार, भगदर, जलोदर, नेत्रपीडा शिरोवेदना आदिक रोग तथा शीत-उष्णके आताप और (क्योनियोमें) परिभ्रमण आदि अनेक दुःखोंकी प्राप्ति होती है -

स्वयकुट्टमूलमूलो लोयभगदरजलोदरबिस्त्रसिरो ।

सीदुण्डबद्धराइ पूजादाणंतरायकम्मफल ॥ ३३ ॥

इसलिये पापोसे डरना चाहिये और किसीको दडादिक देकर पूजनसे वंचित करना तो दूर रहा, भूल कर भी ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये जिससे दूसरोके पूजनादिक धर्मकार्यमें किसी प्रकारसे कोई बाधा उपस्थित हो। बल्कि—

उपमंहार

उचित तो यह है कि, दूसरोको हरतरहसे धर्मसाधनका अवसर दिया जाय और दूसरोकी हितकामनासे ऐसे अनेक साधन तैयार किये जाय जिनसे सभी मनुष्य जिनेन्द्रदेवके शरणागत हो सकें और जैन-धर्ममें श्रद्धा तथा भक्ति रखते हुए सुखीसे जिनेन्द्रदेवका नित्यपूजनादिक करके अपनी आत्माका कल्याण कर सकें।

इसके लिये जैनियोंको अपने हृदयकी सकीर्णता दूरकर उसको बहुत कुछ उदार बनानेकी जरूरत है। अपने पूर्वजोंके उदार-चरितोंको पढ़कर, जैनियोंको उनसे तद्विषयक शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये और उनके अनुकरणद्वारा अपना और जगतके अन्य जीवोंका हित-साधन करना चाहिए।

भगवांज्जनसेनाचार्यप्रणीत आदिपुराणको देखनेसे मालूम होता है कि आदीश्वर भगवानके सुपुत्र भरत महाराज प्रथम चक्रवर्ती अपनी राजधानी अयोध्यामें रत्नखचित जिनबिम्बोंसे अलंकृत चौबीस चौबीस घटे तय्यार कराकर उनको, नगरके बाहरी दरवाजों और राजमहलोंके तोरणद्वारों तथा अन्य महाद्वारों पर, सोनेकी

जुँजीरोंमें बाँधकर, प्रलम्बित किया था। जिस समय भरतजी इन द्वारों-
मेंसे होकर बाहर निकलते थे या इनमें प्रवेश करते थे उस समय वे
तुरन्त अर्हन्तोका स्मरण करके, इन घटोमें स्थित अर्हत्प्रातमाओंकी
वन्दना और उनका पूजन करते थे। नगरके लोगों तथा अन्य प्रजा-
जनोंने भरतजीके इस कृत्यको बहुत पसन्द किया, वे सब उन घटोका
आदर-सत्कार करने लगे और उसके पश्चात् पुरजनोंने भी अपनी
अपनी शक्ति और विभवके अनुसार उसी प्रकारके घटे अपने अपने
घरोके तोरणद्वारोपर लटकाये ॐ। भरतजीका यह उदारचरित
बड़ा ही चित्तको आकर्षित करनेवाला है और इस (प्रकृत) विषयकी
बहुत कुछ शिक्षा प्रदान करनेवाला है। उनके अन्य उदार और
चरितोका बहुत कुछ परिचय आदिपुराणके देखनेसे मिल सकता
है। इसीप्रकार और भी सैंकड़ों और हजारों महात्माओंका नामोल्लेख

ॐ उपर्युक्त आशयको प्रगट करने वाले आदिपुराण (प- ४१)
के वे आर्षवाक्य इस प्रकार हैं —

निर्मापितास्ततो घटा जिनबिम्बैरलकृता ।
पराध्यैरत्ननिर्माणा सम्बद्धा इमरञ्जुभि ॥ ८७ ॥
लम्बिताश्च बहिर्द्वारि ताश्चतुर्विंशतिप्रमा ।
राजवेश्म-महाद्वार-गोपुरध्वज्यनुक्रमात् ॥ ८८ ॥
यदा किल विनिर्याति प्रविशत्यप्यय प्रभु ।
तदा मौलामलङ्गनाभिरस्य स्याद्वर्हता स्मृति ॥ ८९ ॥
स्मृत्वा ततोऽर्हदर्शानां भक्त्या कृत्वाऽभिवन्दनाम् ।
पूजयत्यभिनिष्क्रामन् प्रविशश्च स पुण्यधी ॥ ९० ॥
रत्नतोरणविन्यासे स्थापितास्ता निधोशिना ।
दृष्ट्वाऽर्हद्वन्दनाहेतोर्लोकोऽप्यासीत्कृतादर ॥ ९३ ॥
पौरैर्जनैरतः स्वेषु वेश्म-तोरण-दामसु ।
यथाविभवमाबद्धा घटास्ताः सपरिच्छदा ॥ ९४ ॥

किया जा सकता है। जैनसाहित्यमें उदारचरित-महात्माओंकी कमी नहीं है। आज कल भी जो अनेक पर्वतोंपर खुले मैदानमें तथा गुफा-ओंमें जिनप्रतिमाएँ विराजमान हैं और दक्षिणादिदेशोमें कहीं कहींपर जिनप्रतिमओंसहित मानस्तभादिक पाये जाते हैं, वे सब जैनपूर्वजोंकी उदार-चित्तवृत्तिके ज्वलन्त दृष्टान्त हैं। उदारचरित-महात्माओंके आश्रित रहनेसे ही यह जैनधर्म अनेकवार विश्वव्यापी हो चुका है। अब भी यदि राष्ट्रधर्मक सेहरा किसी धर्मके सिर बँध सकता है तो वह यही धर्म है जो प्राणीमात्रका शुभचिन्तक है। ऐसे धर्मको पाकर भी हृदयमें इतनी सकीर्णता और स्वार्थपरताका होना, कि एक भाई तो पूजन कर सके और दूसरा भाई पूजन न करने पावे, जैनियोंके लिये बड़ी भारी लज्जाकी बात है। जिन जैनियोंका, 'वसुधैव कुटुम्ब-कम्'× यह खास सिद्धान्त था, क्या वे उसको यहाँ तक भुला बैठे कि अपने महर्धर्मियोंमें भी उसका पालन और वर्त्ताव न करें। जातिभेद या वर्णभेदके कारण आपसमें ईर्ष्या-द्वेष रखना, एक दूसरेको घृणाकी दृष्टिसे अवलोकन करना और अपने लौकिक कार्यों-सबधी कषायको धार्मिक कार्यमें निकालना, ये सब जैनियोंके आत्म-गौरवको नष्ट करनेवाले कार्य हैं। जैनियोंको इनसे बचना चाहिये और समझना चाहिये कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारो वर्ण अपनी अपनी क्रियाओं (वृत्ति)के भेदकी अपेक्षा वर्णन किये गये हैं। वास्तव-में चारों ही वर्ण जैनधर्मको धारण करने एवं जिनदेवकी पूजा-उपा-सना करनेके योग्य हैं और इस सम्बन्धसे जैनधर्मको पालन करते हुए सब आपसमें भाई भाईके समान हैं॥ इसलिये, हृदयकी सकीर्णता-

× ममस्त भूमडल अपना कुटुम्ब है।

॥ विप्र-क्षत्रिय-विट्-शूद्रा प्रोक्ता क्रियाविशेषतः ।

जैनधर्म परा शक्तास्ते सर्वे बान्धवोपमाः ॥

—सोमसेनाचार्य

को त्यागकर धार्मिक कार्योंके अनुष्ठानमें सब जैनियोंको परस्पर बन्धुताका बर्ताव करना चाहिये और आपसमें प्रेम रखते हुए एक दूसरेके धर्मकार्योंमें सहायक होना चाहिये । इसी प्रकार जो लोग जैनधर्मकी शरणमें आवे या आना चाहे, उनको सब प्रकारसे धर्म-साधनमें सहायता देनी चाहिये ।

आशा है हमारे विचारशील निष्पक्ष विद्वान् और परोपकारी भाई इस मीमांसाको पढ़कर सत्यासत्यके निर्णयमें दृढता धारण करेंगे और अपने कर्त्तव्यको समझकर जहाँ कहीं, सुशिक्षाके अभाव और ससर्गदोषके कारण, आगम और धर्मगुरुओंके उद्देश्य-विरुद्ध प्रवृत्ति पाई जावे उसके उठाने और उसके स्थानमें शास्त्रसम्मत समीचीनरीतिका प्रचार करनेमें दत्तचित्त और यत्नशील होंगे ।

जैनियोंका अत्याचार

जो जैनी वनस्पतिकायके जीवोंकी भी रक्षा करते हैं, उनके ऊपर अत्याचारके दोषका आरोपण होते देख बहुतसे पाठक चौकेगे—परन्तु नहीं, चौकनेकी जरूरत नहीं है। वास्तवमें जैनियोंने घोर अत्याचार किया है और वे अब भी कर रहे हैं। हमारे भाइयोंने अभी तक इस ओर लक्ष्य ही नहीं दिया और न कभी एकान्तमें बैठकर इसपर विचारही किया है। यदि जैनियोंके अत्याचारकी मात्रा बढ़ी हुई न होती तो आज जैनियोका इतना पतन कदापि न होता—जैनियोंकी यह दुर्दशा कभी न होती। जैनियोका समस्त अभ्युदय नष्ट होजाना, इनके ज्ञान-विज्ञानका नामशेष रह जाना अपने बल-पराक्रमसे जैनियोका हाथ धो बैठना, अपना राज्य गँवा देना, धर्मसे च्युत और आचारभ्रष्ट हो जाना तथा जैनियोंकी सख्याका दिनपरदिन कम होते जाना और जैनियोका सर्वप्रकारसे नगण्य और निस्तेज हो रहना, यह सब अवश्य ही कुछ अर्थ रखता है—इन सबका कोई प्रधान कारण जरूर है, और वह है 'जैनियोका अत्याचार'।

जिस समय हम जैनसिद्धान्तको देखते हैं, जैनियोंकी कर्म-फिला-सोफीका अध्ययन करते हैं और साथ ही जैनियोंकी यह पतिता-वस्था क्यों ? लौकिक और परमार्थिक दोनों प्रकारकी उन्नतिसे जैनी इतने पीछे क्यों ? इस विषयपर अनुसंधानपूर्वक गंभीर भावसे गहरा

विचार करते हैं तो उस समय हमको मालूम होता है और कहना पड़ता है कि यह सब जैनियोंके अपने ही कर्मोंका फल है। जो जैसा करता है वह वैसा ही फल पाता है। अवश्य ही जैनियोंने कुछ ऐसे काम किये हैं जिनका कटुक फल वे अब तक भुगत रहे हैं। यह कभी हो नहीं सकता कि अत्याचार तो करे दूसरे लोग और फल उसका भोगना पड़े जैनियोंको। जैन फिलासोफी इसको माननेके लिए तैयार नहीं। यदि थोड़ी देरके लिए उस मनुष्यको भी जिस पर अत्याचार किया गया हो, कोई बुरा फल सहन करना हो अथवा किसी आपत्तिका निशाना बनना पड़े, तो कहना होगा कि उसने भी जरूर अपनी चेष्टा या अपने मन-वचनादिकके द्वारा दूसरोके प्रति कोई अत्याचारविशेष किया है और वह बुरा फल उसके ही किसी कर्मविशेषका नतीजा है। यही हालत जैनसमाजकी है। यद्यपि इसमें कोई सदेह नहीं कि पिछले समयमें जैनियों पर थोड़े बहुत अत्याचार जरूर हुए हैं, परन्तु वे अत्याचार जैनियोंकी वर्तमान दशाके कारण नहीं हो सकते। जैनियोंकी वर्तमान अवस्था कदापि उनका फल नहीं है। यदि जैनियोंने उन अत्याचारोंको मनुष्य बनकर सह लिया होता और स्वयं उनसे अधिक अत्याचार न किया होता तो जरूर था कि यह जैनबाग (जैनसमाज दूसरोके अत्याचाररूपी खाद (Manure) से और भी हराभरा और सरसब्ज होता—खूब फलता और फूलता, परन्तु जैनियोंको ऐसी सद्बुद्धि ही उत्पन्न नहीं हुई। उनके विचार प्रायः इतने सकीर्ण और स्वार्थमय रहे हैं कि सदसद्विवेकवती बुद्धि-को उनके पास फटकनेमें भी लज्जा आती थी। अत्याचार और भी अनेक धर्मानुयायियोंको सहन करने पड़े हैं, परन्तु उनमेंसे जिन्होंने अपने कर्तव्यपथको नहीं छोड़ा, अपने सामाजिक सुधारको समझा, उन्नतिके मार्गको पहचाना, अपनी त्रुटियोंको दूर किया, सबको प्रेम-की दृष्टिसे देखा और अपने स्वार्थको गौणकर दूसरोंका हितसाधन किया, वे दुःखके दिन व्यतीत करके आज अपने सत्कर्मोंका सुमधुर

फल भोग रहे हैं। इससे साफ प्रगट है कि जैनियोकी वर्तमान दशा उन अत्याचारोका फल नहीं है जो जैनियों पर हुए, बल्कि उन अत्याचारोका फल है जो जैनियोंने दूसरो पर किये और जो परस्पर जैनियोने एक दूसरे पर किये। सच है, मध्नुयोका अपने ही कर्मोसे पनन और अपने ही कर्मोसे बस्थान होता है। जिन जैनियोके ज्ञान और आचरणकी किसी समय चारो ओर धाक थी, जिनके सर्व-प्राणिप्रेमने अनेकवार जगतको हिला दिया, और जिनका राज्य समुद्र पर्यन्त फैला हुआ था, आज वे ही जैनी बिल्कुल ही रंक बने हुए हैं। यह सब जैनियोके अपने ही कर्मोका फल है। इसके लिए किसीको दोष देना—किसी पर इलजाम लगाना—भूल है। जैनियोकी वर्तमान स्थिति इस बातको बतला रही है कि, उन्होने जरूर कोई भारी अत्याचार किये हैं, तभी उनकी ऐसी शोचनीय दशा हुई है।

जैनियोने एक बड़ा भारी अपराध तो यह किया है कि इन्होने दूसरे लोगोको धर्मसे वंचित रक्खा है। ये खुद ही धर्मरत्नके भडारी और खुद ही उसके सोल प्रोप्राईटर (अकेले ही मालिक) बन बैठे। दूसरे लोगोको—दूसरे समाज-वालो तथा दूसरे देशनिवासियोको—धर्म बतलाना, धर्मके मार्ग पर लगाना तो दूर रहा, इन्होने उलटा उन लोगोसे धर्मको छिपाया है। इनकी अनुदार-दृष्टिमे दूसरे लोग प्रायः बड़ी ही घृणाके पात्र रहे हैं, वे मनुष्य होते हुए भी मनुष्यधर्मके अधिकारी नहीं समझे गये। यद्यपि जैनी अपने मदिरोंमें यह तो बराबर घोषणा करते रहे कि 'मिथ्यात्वके समान इस जीवका कोई शत्रु नहीं है, मिथ्यात्व ही ससारमे परिभ्रमण करानेवाला और समस्त दुखोका मूल कारण है। परन्तु मिथ्यात्वमे फँसे हुए प्राणियोपर इन्हे जरा भी दया नहीं आई, उनकी हालत पर इन्होने जरा भी तरस नहीं खाया और न मिथ्यात्व छुड़ानेका कोई यत्न ही किया। इनका चित्त इतना कठोर हो गया कि दूसरोंके दुख सुखसे इन्होंने कुछ सम्बन्ध ही नहीं रक्खा।

जिस प्रकार कोई दुरात्मा पुत्र अपने स्वार्थमें भ्रष्टा होकर यह चाहता है कि मैं अकेला ही पैतृक-सम्पत्तिका मालिक बन बैठूँ और अपनी इस कामनाको पूरा करनेके लिए वह अपने पिताके समस्त धन पर अधिकार कर लेता है—यदि पिताने कोई बसीयत भी की हो तो उसको छिपानेकी चेष्टा करता है—और अपने उन भाइयोको जो दूरदेशान्तरमें रहनेवाले हैं, जो नाबालिग (अव्युत्पन्न) हैं, जो भोले या मूर्ख हैं, जिनको अन्य प्रकारसे पिताके धनकी कुछ खबर नहीं है अथवा जो निर्बल हैं उन सबको अनेक उपायो-द्वारा पैतृक-सम्पत्तिसे वंचित कर देता है। उसे इस बातका जरा भी दुःख-दर्द नहीं होता कि मेरे भाइयोकी क्या हालत होगी ? उनके दिन कैसे कटेंगे ? और न कभी इस बातका खयाल ही आता है कि मैं अपने भाइयो पर कितना अन्याय और अत्याचार कर रहा हूँ, मेरा व्यवहार कितना अनुचित है, मैं अपने पिताकी आत्माके सम्मुख क्या मुँह दिखाऊँगा। उसके विवेकनेत्र बिल्कुल स्वार्थसे बन्द हो जाते हैं और उसका हृदययंत्र सकुचित होकर अपना कार्य करना छोड़ देता है। ठीक उसी प्रकारकी घटना जैनियोकी हुई है। ये अकेले ही परमपिता श्री महावीरजिनेन्द्रकी सम्पत्तिके अधिकारी बन बैठे। “समस्त जीव परस्पर समान हैं, जैनधर्म आत्माका निजधर्म है, प्राणीमात्र इस धर्मका अधिकारी है, सबको जैनधर्म बतलाना चाहिये और सबको प्रेमकी दृष्टिसे देखते हुए उनके उत्थानका यत्न करना चाहिए।” वीरजिनेन्द्रकी इस बसीयतको—उनके इस पवित्र आदेशको—इन स्वार्थी पुत्रोंने छिपानेकी पूर्णरूपसे चेष्टा की है। इन्होंने अनेक उपाय करके अपने दूसरे भाइयोको धर्मसे कोरा रक्खा, उनकी हालत पर जरा भी रहम नहीं खाया और न कभी अपने इस अन्याय, अत्याचार और अनुचित व्यवहार पर विचार या पश्चात्ताप ही किया है। बल्कि जैनियोका यह अत्याचार बहुत कुछ अंशोंमें उस स्वार्थान्ध-पुत्रके अत्याचारसे भी बड़ा रहा। क्योंकि

किसी अधिकारीको घनादिकसे वंचित रखना, यद्यपि, अत्याचार जरूर है, परन्तु जान-बूझकर किसीको आत्मलाभसे वंचित रखना, यह उससे कहीं बढ़कर अत्याचार है। मेरा तो, इस विषयमें, यहाँ तक खयाल है कि यह अत्याचार किसीको जानसे मार डालनेकी अपेक्षा भी अधिक है। घनादिक पर-पदार्थोंका वियोग इतना दुःखजनक नहीं हो सकता जितना कि आत्मलाभसे वंचित रहना। जो लोग अपनी आत्माको जानते हैं, अपने स्वरूपको पहचानते हैं, धर्म क्या और अधर्म क्या इसका जिन्हें बोध है, उनको घनादिकका वियोग भी इतना कष्टकर नहीं होता जितना कि न जानने और न पहचाननेवालों को होता है। इसलिये दूसरोंको धर्मसे वंचित रखना उनके लिये घोर दुःखोंकी सामग्री तैयार करना है। क्या इस अत्याचारका भी कहीं ठिकाना है? शोक! ऐसा महान् अत्याचार करनेवाले जैनियोंका पाषाणहृदय, दूसरोंके दुःखोंका स्मरण ही नहीं किन्तु प्रत्यक्ष अनुभव करते हुए भी जरा नहीं पसीजा—आत्मलाभसे वंचित पापी और मिथ्यादृष्टि मनुष्य जैनियोंके सन्मुख ही अनेक प्रकारके अनर्थ और पापाचरण करके अपनी आत्माओंका पतन करते रहे, परन्तु जैनियोंको उन पर कुछ भी दया नहीं आई और न दूसरे जीवोंकी रक्षाका ही कुछ खयाल उत्पन्न हुआ।

ससारमें ऐसा व्यवहार है कि यदि कोई अधा मनुष्य कहीं चला जा रहा हो और उसके आगे कुआँ आजाय तो देखनेवाले उस अधेको तुरन्त ही सावधान कर देंगे और अपनी समस्त शक्तियों, उसे कुएँमें गिरनेसे बचाने अथवा गिर जाने पर उसके शीघ्र निकालनेमें, लगा देंगे। यदि कोई मनुष्य अधेके आगे कुआँ देखकर भी चुपचाप बैठा रहे और उसकी रक्षाका कुछ भी उपाय न करे तो वह बहुत पापी और निन्द्य समझा जाता है। किसी कविने कहा भी है—

जब तू देखे आँखसे, अधे आगे कूप ।

तब तेरा चुप बैठना, है निश्चय अधरूप ॥

इसी प्रकार यदि कोई मनुष्य किसीको दिनदहाड़े लूटता हो और दूसरा आदमी उसके इस कृत्यको देखता हुआ भी आनन्दसे हुक्का मुड़गुड़ाता रहे और उसके बचानेकी कुछ भी कोशिश न करे, तो कहना होगा कि वह महा अपराधी है। जैनी लोग इस बातको बराबर स्वीकार करते आए हैं कि मिथ्यादृष्टि लोग अधे होते हैं—उन्हे हित-अहित कुछ भी सूझ नहीं पड़ता, परन्तु जैनियोंके सन्मुख ही लाखों और करोड़ों मिथ्यादृष्टि अतत्त्वश्रद्धारूपी कुँएमें बराबर गिरते रहे तोभी इन सुदृष्टियोंको उनपर जराभी दया न आई। इन्होंने अपने मौनव्रतको भगकर उनके बचाने या निकालनेकी कुछ भी चेष्टा नहीं की। और तो क्या इनके सामनेही बहुतसे इनके भाइयो (जैनियों)-का धर्म-धन लूट लिया गया और वे मिथ्यादृष्टि बना दिये गये, परन्तु फिर भी इनके कठोर चित्तपर कुछ आघात नहीं पहुँचा। ये बराबर अपने आनन्दमें मस्त रहे। कोई जीयो या मरो, इन्होंने उसकी कुछ पर्वाह नहीं की। बल्कि ये लोग उलटा खुश हुए और इन्होंने जान-बूझकर अपने बहुतसे भाइयोंको लुटेरोंके सुपुर्द किया। यदि किसी भाईसे कोई अपराध या खोटा आचरण बन गया तो इन्होंने उसको अपनेमेसे ऐसे निकालकर फेंक दिया जैसा कि दूधमेसे मक्खीको निकाल कर फेंक देते हैं। इन्होंने उसको कुछ भी धीर-दिलासा नहीं दिया, न इन्होंने उसके खोटे आचरणको छुड़ार्कर धर्ममें स्थिर करने की कोशिश की और न प्रायश्चित्त आदिसे शुद्ध करनेका कोई यत्न ही किया। बल्कि उसके साथ बिल्कुल शत्रुओं-सरीखा व्यवहार करना प्रारम्भ कर दिया। नतीजा इसका यह हुआ कि उसको अपनी ससार-यात्राका निर्वाह करनेके लिए दूसरोंका शरण लेना पड़ा और वह हमेशाके लिए जैनियोंसे बिछड़ गया। इससे समझ लीजिए कि जैनियोंने कितना बड़ा अपराध और अत्याचार किया है—कहाँ तक इन्होंने अपने धर्मका उल्लंघन और कहा तक उसके विरुद्ध आचरण किया है।

मनुष्यका यह धर्म नहीं है कि यदि कोई मनुष्य किसी नदी अग्निदेमे मिरतां हो या बहता जाता हो (तो उसको उलटा धक्का दे दिया जावे और यदि वह किनारेके पास भी हो और निकलना भी चाहता हो तो उसको ठोकर मारकर और दूर फेंक दिया जावे, जिससे वह निकलनेके काबिल भी न रहे। बल्कि इसके विपरीत उसको न गिरने देना या हस्तावलम्बन देकर निकालना ही मनुष्य-धर्म कहलाता है। इसीलिए जैनियोंके यहाँ 'स्थितिकरण' धर्मका अग्न रक्खा गया है। (स्वामी समन्तभद्राचार्यने 'रत्नकरड श्रावकाचार'में इसका स्वरूप इस प्रकार वर्णन किया है —

दर्शनाश्चरणाद्वापि चलतां धर्मवत्सलै ।

प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञै स्थितिकरणमुच्यते ॥

अर्थात्—जो लोग किसी कारणवश अपने यथार्थ श्रद्धान तथा चारित्र्यसे डिगते हो, तो धर्मसे प्रेम रखनेवाले पुरुषोंको चाहिये कि उनको फिरसे अपने श्रद्धान और आचरणमें दृढ़ कर दे। यही 'स्थितिकरण' अग्न कहलाता है।

परन्तु शोक ! जैनियोंने यह सब कुछ भुला दिया। गिरतेको सहारा या हस्तावलम्बन देना तो दूर रहा इन्होंने उलटा उसको और जोरका धक्का दिया। श्रद्धान और आचरणसे डिगना तो दूसरी बात, यदि किसीने रूढियों (आधुनिक जैनियोंके सम्यक्चारित्र्य ?) के विरुद्ध जरा भी आचरण किया अथवा उनके विरुद्ध अपना खयाल भी जाहिर किया तो बस उस बेचारे की शमत्त आगई, और वह भट्ट जैनसमाजसे अपना अलग जीवन व्यतीत करनेके लिए मजबूर किया गया। जैनियोंके इस अत्याचारसे हजारों जैनी गाटे दुस्से या विनैकया बन गये, लाखों अन्यमती हो गये, जैनियोंके देखते देखते मुसलमानी जमानेमें लाखों ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जबरदस्त मुसलमान बना लिये गये, और इस जमानेमें तो कितने ही ईसाई बना लिये गये, परन्तु जैनियोंके सगद्विद्व (प्राणाशहृदय

पर इससे कुछ भी चोट नहीं लगी। इन्होंने आज तक भी उन सबों-
के शुद्ध करनेका—अपने बिछुड़े हुए भाइयोंको फिरसे गले लगाने-
का—कोई उपाय नहीं किया। ऐसा कोई अपराध नहीं जिसका
प्रायश्चित्त न हो सके। भगवज्जिनसेनाचार्यके निम्नलिखित वाक्य-
से भी प्रगट है कि—‘यदि किसी मनुष्यके कुलमें किसी भी कारणसे
कभी कोई दूषण लग गया हो तो वह राजा या पंच आदिकी
सम्मतिसे अपनी कुलशुद्धि कर सकता है। और यदि उसके पूर्वज—
जिन्होंने दोष लगाया हो—दीक्षायोग्य कुलमें उत्पन्न हुए हो तो उस
कुलशुद्धि करनेवालेका और उसके पुत्र-पौत्रादिक सतानका यज्ञो-
पवीत-सस्कार भी हो सकता है।’ वह वाक्य इस प्रकार है —

कुतश्चित्कारणाद्यस्य कुल सम्प्राप्तदूषणम् ।

सोऽपि राजादिसम्मत्या शोधयेत्स्व यदा कुलम् ॥

तदास्योपनयार्हत्वं पुत्रपौत्रादिसततौ ।

न निषिद्ध हि दीक्षाहं कुले चेदस्य पूर्वजाः ॥

—आदिपुराण, पर्व ४०

इससे दसों और हिन्दूसे मुसलमान या ईसाई बने हुए मनुष्यों-
की शुद्धिका खासा अधिकार पाया जाता है। बल्कि शास्त्रोंमें उन
भ्लेच्छोंकी भी शुद्धिका विधान देखा जाता है जो मूलसे ही अशुद्ध हैं।
आदिपुराणमें यह उपदेश स्पष्ट शब्दोंमें दिया गया है कि, ‘प्रजाको
बाधा पहुँचानेवाले अनक्षर (अनपढ़) भ्लेच्छोंको कुलशुद्धि आदिके
द्वारा अपने बना लेने चाहिए। यथा —

स्वदेशेऽनक्षरभ्लेच्छान्प्रजावाधाविधायिनः ।

कुलशुद्धिप्रदानाद्यै स्वसात्कुयर्दुपक्रमैः ॥

—आदिपुराण, पर्व ४२

परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी जैनियोंके संकीर्ण हृदयने महा-
त्माओंके इस उदार और दयामय उपदेशोंकी ग्रहण नहीं किया।
सब की है, सैरभरके पात्रमें मनभर कैसे समा सकता है ? अपात्र

जैनियोंके हाथमें जैनधर्म पड जानेसे ही उन्होंने जैनधर्मका गौरव नहीं समझा और इसलिए दूसरोंपर मनमाना अत्याचार किया है।

मैं कहता हूँ कि दूसरोंको धर्म बतलाने या सिखलानेमें धार्मिक-भाव और परोपकार बुद्धिको जाने दीजिए, जैनियोंने यह भी नहीं समझा कि परिस्थिति कितने महत्वकी चीज है। क्या परिस्थिति कभी उपेक्षणीय हो सकती है? कदापि नहीं। जहाँ चारो ओरका जलवायु दूषित हो वहाँ कदापि आरोग्यता नहीं रह सकती। जहाँ चारो ओर मिथ्या-दृष्टियो और पापाचारियोंका प्राबल्य हो वहाँ जैनी भी अपना सम्यक्त्व और धर्म कायम नहीं रख सकते। यदि जैनियोंने इस परिस्थितिके महत्वको ही समझ लिया होता तब भी वे आत्मरक्षाके लिए ही दूसरोंकी स्थितिका सुधार करना अपना कर्तव्य समझते, अवश्य ही दूसरोंको धर्मकी शिक्षा देनेका प्रयत्न करते और कदापि धर्मप्रचारके कार्यसे उपेक्षित न होते, परन्तु महर्षियों-द्वारा सरक्षित वीरजिनेन्द्रकी सम्पत्तिको पाकर जैनी ऐसे कृपण बने—इनमें चित्तको कठोर करने-वाली ऐसी धार्मिक-कृपणता आई कि दूसरोंको उस सम्पत्तिसे लाभ पहुँचाना तो दूर रहा ये खुद भी उससे कुछ लाभ न उठा सके। याद इस परमोत्कृष्ट जैनधर्मको पाकर जैनी अपना ही कुछ भला करते तो भी एक बात थी, परन्तु कृपणका धन जिस प्रकार दान और भोगमें न लगकर तृतीया गति (नाश) को प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार जैनियोंने जैनधर्म भी तृतीया गतिको पहुँचा दिया—न आप इससे कुछ लाभ उठाया और न दूसरोंको उठाने दिया—और जिस प्रकार बादल सूर्यके प्रकाशको रोक लेते हैं उसी प्रकार इन धार्मिक-कृपणोंने जैनधर्मके प्रकाशको आच्छादित कर दिया !

जैनियोंने जिनवाणी माताके साथ जैसा सलूक किया है उसको याद करके तो हृदय कांपता है और शरीरके रोगटे खड़े हो जाते हैं। इन्होंने माताको उन अधेरी कोठरियोंमें बंद करके रक्खा, जहाँ रोशनी और हवाका गुजर नहीं, उसका अंग चूहोंसे कुतरवाया और दीमको-

को खिलाया; माता गलती है या सड़ती, जीती है या मरती, इसकी इन्होंने कुछ भी पर्वाह नहीं की। हजारों जैनग्रन्थोंकी मिट्टी हो गई, हजारों शास्त्र चूहों और दीमकोंके पेटमें चले गये, लाखों और करोड़ों मनुष्य मातृवियोग दुःखसे पीड़ित रहे, परन्तु इन समस्त दृश्योंसे जैनियोंके वज्रहृदय पर कुछ भी चोट नहीं लगी। माता पर इस प्रकारके अत्याचार करते हुए जैनियोंका हृदय जरा भी कम्पायमान नहीं हुआ और इन्हें कुछ भी लज्जा या शर्म नहीं आई ॥ इन्होंने उलटी यहाँ तक निर्लज्जता धारण की कि अपने इन अत्याचारोंका नाम 'विनय' रख छोड़ा। वास्तवमें इनका नाम विनय नहीं है—ये घोर अत्याचार है—और न ढाई हाथ दूरसे हाथ जोड़ने या चावलके दाने चढ़ा देनेका नाम ही विनय है। जिनवाणीका विनय है—जैनशास्त्रोंका पढ़ना-पढ़ाना, उनके मुताबिक—उनकी शिक्षाओंके अनुसार—चलना और उनका सर्वत्र प्रचार करना। इस वास्तविक विनयसे जैनी प्रायः कोसों दूर रहे और इसलिए इन्होंने माताका घोर अविनय ही नहीं किया, बल्कि कितने ही जैनशास्त्रोंका लोप भी किया है। उसीका फल है जो आज बहुतसे शास्त्र नहीं मिलते। इनकी इस विलक्षण विनयवृत्तिको देखकर ही एक दुःखित हृदय कविने कहा है—

बस्ते बंधे पडे हैं अलूमोफनूनके* ।

चावल चढ़ावे उनको बस इतने है कामके ॥

इसीप्रकार जैनियोंने स्त्रीसमाज पर जो अत्याचार किया है वह भी कुछ कम नहीं है। इन्होंने लड़कियोंको बेचा, धनके लालचसे अपनी सुकुमार बालिकाओंको यमके यजमानोंके गले बाध उन्हें हमेशाके लिये पापमय जीवन व्यतीत करनेको मजबूर किया, अनमेल सम्बन्ध करके स्त्रियोंका जीवन दुःखमय बनाया और उन्हें अनेक प्रकारका दुःख और कष्ट पहुँचाया, पर इन सब अत्याचारोंको रहने दीजिए।

* विद्याओं-विज्ञानों तथा कला-कौशलके।

जैनियोने इन सब अत्याचारोसे बढकर स्त्रीसमाज पर जो भारी अत्याचार किया है उसका नाम है स्त्रीसमाजको अशिक्षित रखना । स्त्रियो और बालिकाओको विद्या न पढाकर जैनियोने उनके साथ बडी ही शत्रुताका व्यवहार किया है । जिस विद्या और ज्ञानके बिना मनुष्य निद्रित, अचेत, पशु और मृतकके तुल्य वर्णन किये गये हैं और जिसके बिना सुख-शांतिकी प्राप्ति नही हो सकती, उसी विद्या और ज्ञानसे, जैनियोने स्त्रियोको वंचित रक्खा, यह इनका कितना बडा अन्याय है । जैनियोने स्त्रियोकी योग्यता और उनकी विद्या-सम्पादन-शक्तिको न समझा हो, ऐसा नही, किन्तु 'लड़कियो पराए घरका धन और पराए घरकी चौदनी हैं, वे हमारे कुछ काम नही आ सकतीं ।' इस स्वार्थमय वासनासे जैनियोने उन्हे विद्यासे विमुख रक्खा है । इस नीच विचारने ही जैनियोको अपनी सतानके प्रति ऐसा निर्दय बनाया और इतना विवेकहीन बनाया कि उन्होने स्त्री-समाजके साथ पशुओ-सदृश व्यवहार किया, उन्हे जडवत् रक्खा, काष्ठपाषाणकी मूर्तियाँ समझा और उन्हे अपनी आ भोगनति करने देना तो दूर रहा, यह भी खबर न होने दी कि ससारमे क्या हो रहा है । क्या यह थोडा अत्याचार है ? नही, इस अत्याचारके करनेमें जैनी मनुष्यताका भी उल्लंघन कर गये । इनसे पशुपक्षी ही अच्छे रहे, जो अपनी नर और मादा दोनो प्रकारकी सतानको समान-दृष्टिसे अवलोकन करते हैं और उससे किसी भी प्रकारके प्रयुप-कारकी वाछा न रखते हुए अपना कर्त्तव्य समझ कर सहर्ष उसका पालन-पोषण करते हैं ।

यहाँ पर मुझे यह लिखते हुए दुःख होता है कि जैनियोका यह अत्याचार केवल स्त्रीसमाजको ही नही भोगना पडा, बल्कि पुरुषोको भी इसका हिस्सेदार बनना पडा है—बालको पर भी इसका नज़ला टपका है । माताओके अशिक्षित रहनेसे—परिस्थितिके बिगड जाने से—वे भी शिक्षासे प्राय विहीन ही रहे हैं । हजारमें दस-पाँचने

अदि मामूली विद्या पढी भी—कुछ अक्षरोका अभ्यास किया भी—तो इसका नाम शिक्षा नहीं है। जैन बालकोको जैसी चाहिए वैसी विद्याएँ नहीं पढ़ाई गईं। यदि उन्हें बराबर विद्याएँ पढ़ाई जाती तो आज उन हजारों विद्याओंका लोप न होता, जिनका उल्लेख जैन-शास्त्रोंमें मिलता है। दिव्य विमानोंकी रचनाको जाने दीजिये, आज कोई जैनी उस मयूरयत्रके बनानेकी विधि भी नहीं जानता, जिसको जीवधरके पिता सयधरने बनाया था और उसमें अपनी गर्भवती स्त्रीको बिठलाकर, गर्भस्थ पुत्रकी रक्षाके लिए, उसे दूर देशान्तरमें पहुँचाया था। इसी प्रकार सैकड़ों विद्याओंका नामोल्लेख किया जा सकता है। जैनियोंने शिक्षा और खासकर स्त्री-शिक्षासे द्वेष रखकर इन समस्त विद्याओंके लोप करनेका पाप अपने सिर लिया है और इसलिए जैनी समस्त जगतके अपराधी है।

जैनियोंका एक भारी अत्याचार और भी है और वह अपनी सतानकी छोटी उम्रमें शादी करना है। इसके विषयमें मुझे कुछ विशेष लिखनेकी जरूरत नहीं है। हाँ, इतना जरूर कहूँगा कि इस राक्षसी कृत्यके द्वारा आज तक लाखों ही नहीं किन्तु करोड़ों दुधमुँही बालिकाएँ विधवा हो चुकी हैं—वैधव्यकी भयकर आँचमें भुन चुकी हैं—, हजारोंने अपने शीलशृंगारको उतार दिया, व्यभिचारका आश्रय लिया दोनों कुलोंको कलकित किया और भ्रूणहत्यामें तक कर डाली। इसके सिवाय, बाल्यावस्थामें स्त्री-पुरुषका ससर्ग हो जानेसे जो शारीरिक और मानसिक निर्बलताएँ इनकी सतानको उत्तरोत्तर प्राप्त हुईं उनका कुछ भी पारावार और हिसाब नहीं है। निर्बल मनुष्यका जीवन बड़ा ही वबाले-जान और सकटमय होता है। रोगोंका उसपर आक्रमण हो जाना तो एक मामूलीसी बात है। जैनियोंके इस अत्याचारसे उनकी सतान बड़ी ही पीड़ित रही। उससे हिम्मत, साहस धैर्य, पुरुषार्थ और वीरता आदि सद्गुणोंकी सृष्टि ही एकदम उठ खड़ी हुई। जैनी निर्बल होकर तन्दुल मच्छकी तरह

घोर सामाजिक पापों का बचन करते रहे और इन पापों से उदयसे आकर जन्म-जन्मान्तरों में इन्हें खूब ही नीचा दिखाया। जैनियों का यह गुड़का गुड़ड़ी का खेल (बाल्यविवाह) बड़ा ही हृदयहावक है। इसने जैनसमाज की जड़ में बड़ा ही कुठाराघात किया है।

इस प्रकार जैनियो ने बहुत बड़े बड़े अत्याचार किये हैं। इनके सिद्धा और जो छोटे-मोटे अत्याचार किये हैं उनकी कुछ गिनती ही नहीं है। जैनियों के इन अत्याचारों से जैनधर्म कितना कलंकित हुआ और जगत में कैसे कैसे अनर्थ फैले इसका कुछ ठिकाना नहीं है। जैनियों के इन सब अत्याचारों ही का फल उनकी वर्तमान दशा है। बल्कि नहीं, जैनियों में इस समय जो कुछ थोड़ी बहुत अच्छी बातें बची-खुची हैं उनका श्रेय स्वामी कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलकदेव, विद्यानन्द और पिद्धसेन आदि परोपकारी आचार्यों तथा अन्य परोपकारी महानुभावों को प्राप्त है। ऐसे जगद्वन्द्वुओं के आश्रित रहने से ही जैनधर्म के अभी तक कुछ चिन्ह अवशेष पाये जाते हैं, अन्यथा आम तौर पर जैनियों के अत्याचार उनकी सत्ता को बिल्कुल लोप करने के लिए काफी थे। जब तक जैनियो ने अत्याचार करना प्रारम्भ नहीं किया था तब तक इनका बराबर डका बजता रहा, ये खूब फलते और फूलते रहे। परन्तु जबसे ये लोग अत्याचारों पर उतर आए तभीसे इनका पतन शुरू हो गया। और आज वह दिन आ गया कि ये लोग पूरी अधोदशा को पहुँच गये हैं। जैनियों के अत्याचार जैनियों को खूब ही फले—इन्होंने अपने किये की खूब सजा पाई। ये लोग दूसरों को धर्म बतलाना नहीं चाहते थे, अब खुद ही उस धर्म से वांचित हो गये, दूसरों को घृणा की दृष्टि से देखते थे, अब खुद ही घृणा के पात्र बन गये, जिस बल, विद्या और ऐश्वर्य पर इन्हें घमड़ था वह सब नष्ट हो गया, ये लोग अपने आपको भले ही जीवित समझते हैं परन्तु जीवित समाजों में अब इनकी गणना नहीं है, इनकी गणना है मरणोन्मुख समाजों में। जैनों लोग अन्धकार में पड़े हुए

सिंसक रहे हैं—वास्तवमें इनकी हालत खड़ी ही कसूराजमक है। जब तक जैनी लोग इन अत्याचारोंको बद करके अपने पूर्व पापोंका प्रायश्चित्त नहीं करेंगे तब तक वे कदापि इस दैवकोपसे विमुक्त नहीं हो सकते,उनका अभ्युत्थान नहीं हो सकता और न उनमें जीवनीशक्तिका फिरसे सचार ही हो सकता है।

आशा है हमारे जैनीभाई इस लेखको पढ़कर अपने अत्याचारोंकी परिभाषा समझेंगे और उनके भयकर परिणामको विचार कर शीघ्र ही उनका प्रायश्चित्त करनेमें दत्तचित्त होंगे।

विवाह-समुद्देश्य

विवाहकी समस्या

बड़े बड़े विद्वानों और आचार्योंका कथन है कि 'स्त्री बिना ज़ज़ीरका—जज़ीर न होते हुए भी—दृढ बन्धन है, स्त्रीसे बढ़कर पुरुषोंके लिए दूसरा कोई बड़ा बन्धन नहीं। यथा —

कलत्र नाम नराणामनिगडमपि दृढ बन्धनमाहु । — सोमदेव ।

न कलत्रात्पर किञ्चिद्बन्धन विद्यते नृणाम् । —शुक्र ।

वस्तुतः विचार करनेपर भी ऐसा ही प्रतीत होता है। स्त्रीका परिग्रह करने पर स्वभावसे ही मनुष्य बहुतसे अशोभे अपना स्वातन्त्र्य—अपनी आजादी—खो बैठता है, तरह तरहकी चिन्ताओं, आपदाओं तथा जिम्मेदारियोंकी दलदलमें फँस जाता है और इस तरह पर बन्धनमें पड़कर एक अच्छा खासा बन्दी बन जाता है। वास्तविक दृष्टिसे बन्धनमें पड़ना कभी इष्ट नहीं हो सकता। बन्धनसे परतन्त्रता आती है और परतन्त्रता या पराधीनतामें कहीं भी असली सुख नहीं है—पैरोमें ज़ज़ीर डालकर खमेसे बाँधा हुआ एक हाथी कभी अपनी इच्छानुसार सुखपूर्वक विहार नहीं कर सकता। इसलिए शास्त्रकारोंने बन्धनको दुःख वर्णन किया है। बन्धनसे छूटने—पूर्ण स्वातन्त्र्य प्राप्त करने—पूरी आजादी हासिल करने—ही का

नाम मुक्ति है। उसीमें वास्तविक सुख है और वही सब जीवोका अन्तिम ध्येय बतलाया जाता है। साथ ही, महान्से महान् आचार्यों-का—धर्मगुरुओंका—यह भी कथन है कि 'मैथुन करना पाप है'—पञ्च पापोंमें उसकी गणना है। अमृतचन्द्रसूरिने, तिलोसे पूर्ण नलीमें तप्त-लोह-शलाकाके प्रवेशका उदाहरण देकर, मैथुनमें पापकी—द्रव्यहिंसाकी—मात्राको और भी अधिकताके साथ प्रदर्शित किया है। यथा —

हिंस्यन्ते तिलनाल्या तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वन ।

बहवो जीवायोनौ^१ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत् ॥

—पुरुषार्थमिद्वयुपाय

परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी, आज एक, कल दूसरा और परसो तीसरा नवयुवक खुशीसे इस स्त्री-बन्धनको स्वीकार करता है, एक अपरिचित व्यक्तिको—एक अजनबी शख्सको—अपना हृदय देता है, कुटुम्बके भरण-पोषणादिकी ममस्त जिम्मेदारियोंको अपने ऊपर लेता है और धनके उपार्जन करने-बढ़ाने-रक्षा करनेके द्वारा तथा रोग-शोकादिकके कारण नित्य नई आनेवाली गृहस्थकी चिन्ताओं और विपत्तियोंमें पड़नेके लिए तैयार होता है। साथही, पत्नी द्वारा बिना किसी मकोचके उसके इस स्त्री-सम्बन्धकी रजि-ष्ट्रीकी जाती है और इस प्रकार विवाह^२-द्वारा दम्पतिको निष्क-

१ वात्स्यायन ऋषिने भी योनिमें जीवोको स्वीकार किया है, जैसा कि सागारधर्मांशमें उद्धृत उसके निम्न वाक्यमें प्रकट है —

रक्तजा कृमयः सूक्ष्मा मृदुमध्यादिशक्तयः ।

जन्मवर्त्मसु कर्हति जनयन्ति तथाविधम् ॥

२ विवाह उस सम्बन्ध-विशेषका ही नाम है जिसके द्वारा, मानव-समाजमें, स्त्री-पुरुषोंको परस्पर काम-क्रीडाका द्रव्यादिकी अपेक्षा र हित स्वतन्त्र और खुला अधिकार प्राप्त होता है।

टुक (बे-रोक-टोक) कास-सेवनकी परवानगी दी जाती है—उसे उनके लिये जायज और विधेय ठहराया जाता है। इसी खुशीमें अनेक प्रकारके बाजे बजते हैं, मागलिक गीत गाये जाते हैं, तरह तरहके उपहार और इनाम बाँटे जाते हैं, बराती-गण नये नये वस्त्र और रंगविरगी पोशाके पहनते हैं और वरके माता-पिता तथा अन्य कुटुम्बी जनोके आनन्दका कुछ पार नहीं रहता। युवती तथा कन्या-पक्षके बन्ध-प्रबन्ध और आमोद-प्रमोदकी भी प्रायः यही सब हालत होती है। नगर भरमें जिधर देखो उधर मूर्तिमान आनन्द ही आनन्द दिखाई देने लगता है। कहा जाता है कि यह सब मागलिक कार्य है, इसे 'विवाहमगल' कहते हैं और इस प्रकारके मगल प्रायः हुआ करते हैं और हमेशासे होते आए हैं।

इन सब बातों पर गहरी दृष्टि डालते हुए एकाग्रताके साथ विचार करनेपर मालूम होता है और कहना पड़ता है कि, विवाहकी समस्या भी बड़ी ही विचित्र है। जो लोग इस समस्याको हल किये बिना, विवाहका ठीक रहस्य समझे बिना और बिना यह मालूम किये कि विवाहका उद्देश्य—शादीकी असली गरज—क्या है, विवाह-बन्धनमें पड़ते हैं—शादी कराने है—वे निःसन्देह बहुत बड़ी गलती करते हैं और विवाहके वास्तविक लाभोंसे वंचित ही रहते हैं। इसीलिए आज इस समस्याको हल करने, विवाहका रहस्य बतलाने और विवाहके समीचीन उद्देश्यको समझानेका प्रयत्न किया जाता है।

विवाह-कर्मकी मूर्ष्टि

जरूरत और उपयोगिता

ससारमें अनादिकालसे यह जीवामा नाना प्रकारके अच्छेसे अच्छे और रमणीय विषयभोगोंको भोगता हुआ चला आया है। जैथुनकी सृष्टि इस जगतमें अनादिसे ही चली आती है। परन्तु

आज तक कभी इन विषय-भोगोंसे किसीको भी तृप्तिकी प्राप्ति नहीं हुई और न हो सकती है। ईन्धन और घृताहुतिसे जिस प्रकार अग्नि तृप्त नहीं होती और घडो पानी पी लेनेसे जिस प्रकार तृषारोगके रोगीकी प्यास नहीं बुझती, उसी प्रकार ससारी जीवकी हालत है। उसे भी इन विषय-भोगोंसे कोई तृप्ति नहीं मिलती। विषयोकी ऐसी हालत होते हुए, आत्मकल्याणार्थी कुछ महात्माओंके हृदयमे यह विचार उत्पन्न हुआ कि, जब विषय-भोगोंसे कुछ तृप्ति नहीं होती और न इनके सेवनसे आत्माका कुछ लाभ होता है, वल्कि उल्टा पापबध जरूर होता है और नाना प्रकारके दुःख तथा कष्ट उठाने पड़ते हैं, तब ऐसे व्यर्थके कामोंमे फँसकर अपने आत्माका अनिष्ट करना कौन बुद्धिमानीकी बात है ? इसलिए उन्होंने विषयोंके सर्वथा त्यागका उपदेश दिया और इस तरह विषयोंके विरोधकी सृष्टि हुई। इस विरोधसे जैन-अजैन सभी ग्रन्थ भरे हुए हैं, जिनमें विषयोका वास्तविक स्वरूप, उनकी अनुपयोगिता (निरर्थकता) और उनसे होनेवाली हानि आदिका हृदय-हारी वर्णन करते हुए उनके त्यागकी प्रेरणा की गई है। साथ ही, ब्रह्मचर्यकी महिमा, उसकी उपयोगिता और उसके द्वारा संपूर्ण सुखोंकी प्राप्ति आदिका वर्णन भी बड़े कौशलके साथ किया गया है। और अन्तमे पूर्ण ब्रह्मचर्यके धारण करने और पालनेकी जोरके साथ प्रेरणा की गई है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करना बहुत ही उत्तम, श्रेष्ठ और कल्याणकारी धर्म है। इसके द्वारा आत्मा उत्तरोत्तर अपनी शक्तियोंको बढ़ाकर कर्मशत्रुओंको निर्मूल करनेके लिये समर्थ हो सकता है। परन्तु कामदेवकी प्रबल शक्तिका मुकाबला करके पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करना खेल नहीं और न हरएक व्यक्तिका काम है, बिरले ही मनुष्य इसको धारण कर सकते हैं। इसके लिये बड़े बलवान आत्माकी जरूरत होती है। निर्बलोका इसमें अधिकार नहीं हो सकता। जैसा कि श्रीगुणचन्द्राचार्यने 'ज्ञानार्णव' में

कहा है —

नारूपसत्त्वेन नि शीलैर्न दीनैर्नाऽहनिर्जितैः ।

स्वप्नेऽपि चरितुं शक्यं ब्रह्मचर्यमिदं नरैः ॥ ११-५ ॥

अर्थात्—ब्रह्मचर्य उन लोगोंसे स्वप्नमे भी आचरण किये जाने-के योग्य नहीं है जो अल्पशक्तिके धारक हैं, शील-रहित हैं, दीन हैं और जिनकी इन्द्रियाँ उनके वशमे नहीं हैं ।

ऐसी हालतमे शरीर और विचार-बल-रहित निर्बल व्यक्तियों-को पूर्ण ब्रह्मचर्यके लिए मजबूर करना कभी न्यायसगत नहीं हो सकता और न उससे कुछ लाभ ही उठाया जा सकता है । इसलिए उनके लिए भी कोई विधान बतलानेकी जरूरत पैदा हुई ।

तृषा-रोगके निर्बल रोगीको, इच्छानुसार घड़ो पानी पिला देनेके समान, पानीका बिल्कुल न देना भी जिस प्रकार हानिकर (नुकसान-देनेवाला) होता है और इसलिए उसके वास्ते कोई हलका पेय (अर्क-शर्बतादि) पदार्थ तजवीज किया जाता है, जिससे उसका रोग शनैः शनैः दूर होजाय, उसी प्रकार कामतृष्णातुर निर्बल आत्माओंको, उनकी इच्छानुसार विषय-सेवन करानेकी तरह, सर्वथा विषयोसे वंचित रखना भी—उनसे पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन कराना भी—अनिष्टकर होता है । और इसलिए उनके लिए 'गृहस्थाश्रम' या 'गृहस्थधर्म' नामका 'लघु पेय' तजवीज किया गया है, जिससे उनकी कामतृष्णा धीरे-धीरे शान्त होजाय ।

इस पेयमे तीन चीजे मिली हुई हैं—धर्म, अर्थ और काम—जिनको 'त्रिवर्ग' भी कहते हैं । काम-सेवन पानीके समान है, धर्म काम-तृष्णाको दूर करनेवाली औषधि है और अर्थ (धन) दोनोंका साधन है—उन्हे यथास्थान (ठीक ठिकाने पर) पहुँचानेवाला है । इन तीनोंकी मात्रा आदिक भी निर्दिष्ट (तजवीज) की गई है, जिससे परस्पर विरोध होकर किसी प्रकारका अनिष्ट न हो सके । अविरोध-रूपसे सेवन किया हुआ ही 'त्रिवर्ग' अभीष्ट फलको देनेवाला हो

सकता है । इसीलिये श्रीवादीमसिंहसूरि-जैसे विद्वानोंने कहा है—
 परस्पराऽविरोधेन त्रिवर्गो यदि सेव्यते ।
 अनर्गलमद सौख्यमपवर्गो ह्यनुक्रमात् ॥

—क्षत्रचूडामणि.

अर्थात्—धर्म, अर्थ और कामका यदि एक दूसरेके साथ विरोध न करके सेवन किया जाय तो उससे सासारिक सुखोंकी प्राप्ति अनिवार्य होती है, और क्रमसे मोक्ष मिलता है ।

काम-सेवनके लिये पुरुषको एक स्त्रीकी और स्त्रीको एक पुरुषकी आवश्यकता होती है । बिना किसी विघ्न-बाधाके निर्दिष्ट रूपसे कामसेवन^१ होता रहे और उसके द्वारा धर्मोपार्थिकी उपयुक्त (यथोचित) मात्रा रोगीके शरीरमें पहुँचती रहे, इसी अभिप्रायसे विवाह कर्मकी सृष्टि की गई है ।

विवाहकर्मको 'दारपरिग्रह' या 'दारकर्म' भी कहते हैं, जो गृहस्थ-धर्मका एक खास अङ्ग है । स्त्री-सहित रहनेका नाम ही 'गृहस्थ' है—जलभागकी जिसमें प्रधानता हो उसीको 'पेय' कहते हैं—वह गृहस्थ ही नहीं जिसके पास स्त्री नहीं^२ । 'गृह' शब्द भी स्त्रीका वाचक है । इसीलिए सोमदेवसूरि आदि विद्वानोंने लिखा है —

गृहिणी गृहमुच्यते न पुन कुड्य-कट-सघात ।—सोमदेव ।

गृहं हि गृहिणीमाहुर्न कुड्य-कट-सहतिम् ।—आशाधर ।

कृनदारपरिग्रहं गृहस्थं गृहशब्दस्य दार-वचनत्वात् ।

—विज्ञानेश्वर ।

१. इस प्रकारके बाधा-रहित काम-सेवनको सोमदेवने 'अनुपहता रति' और आशाधरने 'अविलष्टा रति' लिखा है ।

२. स किं गृहस्थो यस्य नास्ति सत्कलत्रसम्पत्तिः ।

—नीतिवाक्यामृते, सोमदेव.

अर्थात्—आस्तवर्मे 'गृहिणी' (घरवाली) हीका नाम घर है। ईंट, पत्थर, लकड़ी आदिकें समुदायका नाम घर नहीं है। साधारण बोल-चालमें भी 'घर' शब्द स्त्रीके अर्थमें व्यवहृत होता है—इस्तेमाल किया जाता है। जैसे एक शस्त्र कहता है कि मैं घर-सहित आया हूँ, जिसका साफ अभिप्राय यह होता है कि 'मैं अपनी स्त्रीको साथ लाया हूँ'। इन सब बातोंसे गृहस्थके लिये 'गृहिणी' का होना और भी जरूरी पाया जाता है। वह धर्म-संग्रहमें बहुत बड़ी सहायक होती है'। और इसीलिये संसारमें विवाहकी प्रथा प्रचलित हुई है।

किसी खास पेयके निर्दिष्ट हो जाने पर जिस प्रकार रोगीको, उसकी हितकामनासे, दूसरे इच्छानुसार पेयके सेवनका निषेध किया जाता है उसी प्रकार विवाह-द्वारा गृहस्थधर्मके, स्वीकार करने पर, पुरुषसे पर-स्त्रीका और स्त्रीसे पर-पुरुषका त्याग कराया जाता है। विवाहके समय दोनोंको प्रतिज्ञाएँ करनी होती हैं। इस तरह दोनों जीलव्रतको धारण करते हैं, जिसको परदारनिवृत्ति, स्वदारसंतोष, स्वभर्तृसंतुष्टि और लघुब्रह्मचर्यादि नामोंसे पुकारा जाता है। इससे बहुत बड़ा लाभ यह होता है कि संसारमें शान्ति स्थापित होती है, छीना-भपटीकी प्रथा उठ जाती है, वैर-विरोध बढ़ने नहीं पाते और हर शस्त्र बिना किसी रोक-टोकके अपने विषयोको भोग सकता है तथा आनन्दके साथ अपने धर्मादिक कार्योंका सम्पादन कर सकता है। विपरीत इसके, व्यभिचारका प्रचार होनेसे जगतमें अशान्ति फैल जाती, छीनाभपटीकी प्रथा बढ़ जाती, मनुष्योंका जीवन दुःख और आकुलतामय बन जाता और उनका भविष्य बिगड़ जाता। इससे कहना पड़ता है कि विवाहकी यह रीति बहुत ही सोच-विचार कर जारी की गई है। स्त्री हो या पुरुष जो कोई भी विवाहके इस नियमका उल्लंघन करता है—अपने व्रतको तोड़ता है—वह राजसे दंड-

१ नास्ति भार्यात्मनो लोकं सहस्रं धर्मसंग्रहे । — महाभारतः

नीय और प्रजासे धिक्कारका पात्र होता है, चोर-जार-पापी कहलाता है, अपने उद्देश्यसे गिर जाता है और उसे 'जगतका शांति-भग-कर्ता' समझना चाहिए। इस विषयमें सोमप्रभाचार्यने 'सूक्ति-मुक्तावली' में बहुत ही अच्छा लिखा है —

दक्षस्तेन जगत्यकीर्ति-पटहो गोत्रे मषो-कूर्चक-

श्चारित्रस्थ जलाञ्जलिगुण-गणारामस्य दावानलः ।

सकेतः सकलापदा शिषपुर-द्वारे कपाटो दृढः ।

शील येन निजं विलुप्तमखिल त्रैलोक्य-चिन्तामणि ॥

अर्थात्—जिस मनुष्यने अपने 'शीलव्रत' को जो तीन लोकका चिन्तामणि रत्न है, भग कर दिया है उसने जगतमें अपकीर्तिका ढोल बजा दिया है अपने कुलमें स्याहीका पोता फेर दिया है, निर्मल चारित्रिको जलाञ्जलि दे दी है, गुणसमूहरूपी बागीचेमें आग लगा दी है, बहुतसी आपदाओंको बुलानेके लिए इशारा कर दिया है और मजबूत किवाड़ लगाकर अपने मोक्षके दरवाजेको बन्द कर दिया है।

इससे भले प्रकार समझमें आ सकता है कि 'शीलव्रत' को भग करना कितना बड़ा अपराध है।

उद्देश्य-विनिर्देश

अब यहाँ पर यह बतला देना जरूरी है कि, प्यासके रोगीका उद्देश्य 'पानी पीना' नहीं होता। उससे प्यासकी वेदना सही नहीं जाती, इससे मजबूरन (लाचारीसे) उसकी अल्पकालिक शान्तिके लिए जल ग्रहण करता है। उसका उद्देश्य होता है "प्यासका न उत्पन्न होना—तृषारोगका समूल नाश हो जाना"। साथ ही, वह यह भी चाहता है कि मुझमें प्यासको सहन करनेकी शक्ति उत्पन्न हो और उस शक्तिके अनुसार प्यासको सहन करनेकी चेष्टा भी करता है। उसका यह कर्तव्य नहीं होता कि प्यासकी शान्तावस्थामें भी—जिस वक्त प्यास दबी हुई है उस वक्त भी—स्वाहमस्वाह

बिना प्रयोजन भी—पानी पीता रहे या तृषा-वर्धक पदार्थोंको खाकर अपनी प्यास बढ़ा लेवे। इसी तरह गृहस्थका विवाह-द्वारा काम-सेवन करना उद्देश्य न होना चाहिए। काम-तृष्णाकी असह्य वेदना उत्पन्न होने पर—प्राकृतिकरूपसे कामका वेग बढने पर—उसकी अल्पकालिक शांतिके लिए अथवा प्रकृतिकी तात्कालिक पुकारको पूरा करनेके लिये ही उसे सभोग करना चाहिए। “कामकी वेदनाका उत्पन्न न होना, कामतृष्णाका समूल नाश होजाना और कामको जीतने की अपनेमें शक्ति पैदा करना ही” उसका मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। साथ ही, उसे अपनी शक्तिके अनुसार प्रति-पक्ष-भावनाओंसे—विषयोसे ग्लानि और ब्रह्मचर्यसे अनुराग उत्पन्न करानेवाली विचारधाराओंसे—काम पीडाको जीतनेका अभ्यास करना चाहिए। उसका यह कर्तव्य कभी न होना चाहिए कि, कामकी शान्तावस्थामे भी, विनोद आदिके तौरपर, कामक्रीड़ा करता फिरे या कामोद्दीपक पदार्थोंका—सोते हुए कामदेवको जगानेवाले लड्डुओं आदिका—सेवन करके अपनी कामतृष्णाको उत्पन्न करे। जो गृहस्थ ऐसा करता है वह विवाहके उद्देश्यसे गिर जाता है और उसे तरह तरहकी यातनाएँ भोगनी पडती हैं। जरूरत बिना जरूरत अधिक मैथुन करनेसे—वीर्यका दुरुपयोग करनेसे—उसकी शक्ति क्षीण होजाती है। वह अपने बलको यहाँतक खो बैठता है कि बादको (पीछेसे) फिर बहुत कुछ पौष्टिक पदार्थोंका सेवन करने पर भी—अनेकों वेद्यो, हकीमो और डाक्टरोंकी शरणमें जाने-पर भी—उसकी वह शक्ति वापिस नहीं आती और वह नपु सक बन जाता है, जैसा कि श्रीसोमदेवसूरिके इन वाक्योंसे प्रकट हैं।—

निकामं-कामकामात्मा तृतीया प्रकृतिर्भवेत्। (यशस्तिलक)

स्त्रियमतिभजमानो भवत्यवश्यं तृतीया प्रकृतिः। (नीतिवा०)

इसलिए विवाहके उद्देश्यको खूब ध्यानमें रखते हुए, गृहस्थको चाहिए कि वे अपनी कामवासनाको परिमित रखे, इन्द्रियोका

विजय' करना सीखें और 'विरुद्धकाप्रवृत्ति' (बे-कायदे काम-सेवन करनेवाले) न बने। साथ ही, उन्हें 'धर्म' और 'अर्थ' पुरुषार्थों-का योग्य-रीतिसे सम्पादन करते हुए, स्त्रीका सेवन इस तरह पर करना चाहिए जिस तरह पर शरीर और मनका आताप मेटनेके लिए भोजनका सेवन किया जाता है। अन्यथा, अधिक स्त्रीसेवनसे उन्हें अपने धन, धर्म और शरीर तीनोंकी हानि उठानी पड़ेगी। इसी अभिप्रायको लेकर विद्वद्वर पंडित आशाधरजी ने लिखा है —

भजेद्देहमनस्तापशमान्त स्त्रियमम्रघत् ।

क्षोयन्ते खलु धर्मार्थकायास्तदतिसेवया ॥ (सागरधर्मामृत)

सोमदेवसूरिने भी 'यशस्तिलक' और 'नीतिवाक्यामृत' में ऐसा ही प्रतिपादन किया है —

ऐदपर्यमतो मुक्त्वा भोगानाऽऽहारबद्भजेत् ।

देह दाहोपशान्त्यर्थमभिध्यान-विद्वानये ॥ (यशस्तिलक)

न तस्य धनं धर्मः शरीरं वा यस्य स्त्रीष्वत्यासक्ति (नीतिवा०)

वास्तवमें गृहस्थाश्रम एक 'रसायन' है। रसायनके तैयार करने-में किसी औषधिके छूट जानेसे, औषधियोंका वजन कमती बढ़ती हो जानेसे या उनकी प्रक्रिया ठीक न बैठनेसे जिस प्रकार इष्टफल घटित नहीं होता, उसी प्रकार गृहस्थाश्रममें धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंमेंसे किसीके छूट जाने या जानबूझ कर छोड़ दिये जाने पर पुरुषार्थोंकी मात्रामें कमी-बेशी हो जाने पर या और प्रकारसे उनकी प्रक्रिया और सेवन-विधि ठीक न बैठने पर इष्ट-फलकी प्राप्ति नहीं

१ इष्ट-पदार्थमें आसक्तिका और विरुद्धमें प्रवृत्तिका न होना 'इन्द्रिय-जय' कहलाता है, जैसा कि श्रीसोमदेवसूरिके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

इष्टेऽर्थेऽनासक्तिविरुद्धे चाऽप्रवृत्तिरिन्द्रियजय ।

हो सकती। इसलिये विवाह करके गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेवाले पुरुष और स्त्री दोनोंको धर्म, अर्थ और काम तीनों पुरुषार्थोंका 'अविरोधरूपसे' या 'समानरूपसे' सेवन करना चाहिए। 'धर्म' को घात करके दूसरे पुरुषार्थोंका सेवन करनेवाला मनुष्य उस किसान (कृषक) के समान है जो बीज न रखकर अपने खेतकी सब पैदावार (उपज) खा जाता है और अन्तमें दुखी होता है। असलमें सुखी वही कहलाता है जो आगामी सुखका विरोध न करके वर्तमान सुखको भोगता है। 'अर्थ' पुरुषार्थको घात करनेवाला गृहस्थ विपत्तिमें पड़ता है, क्योंकि उसके धर्म और कामका साधन अर्थ ही है ('धर्म-काम-योरर्थमूलत्वात्')। और 'काम' पुरुषार्थको घात करनेवाला गृहस्थ ही नहीं कहला सकता—गृहस्थीमें रहते इन्द्रियविषयोंका सेवन जरूरी है। इसी तरह पर जो गृहस्थ 'केवल काम' पुरुषार्थका ही सेवन करता है उसके धन, धर्म और शरीर तीनों नष्ट हो जाते हैं। उसे इस लोक और परलोकमें सभी जगह कष्ट उठाना पड़ता है। जो 'केवल धन' ही कमाता है, न उसे परोपकारादि धर्मकार्योंमें लगाता है और न अपने विषयभोगोंमें, उसके बराबर कोई मूर्ख नहीं हो सकता, वह केवल बोझा ढोनेवाला है—वह अपने दोनों लोक बिगाड़ता है। और जो 'केवल धर्म ही धर्म' का सेवन करता है वह गृहस्थ नहीं हो सकता, उसे मुनि या साधु कहना चाहिए। इन सब बातोंको ध्यानमें रखकर और इनके पालनके लिए तैयार होकर ही मनुष्योंको 'गृहस्थाश्रम' में प्रवेश करना चाहिए, अर्थात् विवाह कराना चाहिये। तब ही विवाहसे यथेष्ट लाभ—जैसा चाहिए वैसा फायदा—हो सकता है और तब ही उनका गृहस्थाश्रम सुखाश्रम बन सकता है।

ग्राह्य-स्त्री

यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि, विवाहके इस उद्देश्यको पूरा करनेके लिए किस वर्ण या जातिकी स्त्रीसे पाणि-ग्रहण (विवाह) किया जाय ? यह प्रश्न उसी प्रकारका होगा जिस प्रकार 'पेय' के सम्बन्धमें यह पूछा जाय कि उसमें कौनसे कुएँ या नदी आदिका पानी डाला जाय ? और जिस प्रकार उसका उत्तर अधिकसे अधिक इतना ही हो सकता है कि, जिस कुएँ या नदीका पानी पीनेके लिये मिल सकता हो और जिसके पीनेमें किसी प्रकार-की घृणा या सकोच न हो और जो साथ ही शुद्ध-साफ तथा निर्दोष हो, पेयके उद्देश्यमें बाधक न हो, वह सब पानी पीनेके लिए ग्रहण किया जा सकता है। उसी प्रकार यहाँ भी समझ लेना चाहिए। "जिस वर्ण या जातिसे, परस्पर व्यवहारके कारण, स्त्री मिल सकती हो और जिसके सेवनमें किसी प्रकारकी घृणा या सकोच न हो और जो साथ ही शुद्ध-साफ तथा निर्दोष हो, शीलादि गुणोंसे युक्त हो, अगोपागसे दुस्त हो, रोग-रहित हो, पढी लिखी-गुणवती हो और विवाहके उद्देश्यमें किसी प्रकारसे बाधक न होसके वह स्त्री विवाहके लिए ग्राह्य है—ग्रहण किये जाने योग्य है"। इससे अधिक इस विषयमें, सर्वसाधारणकी दृष्टिसे, कोई खास नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता। जैन शास्त्रोंमें भी इस विषयका कोई सार्वकालिक और सार्वदेशिक एक नियम नहीं पाया जाता ❀ । अस्तु ।

❀ 'एक नियम नहीं पाया जाता' इसका कुछ अनुभव पाठकोंको नीचेके अवतरणों तथा प्रमाणोंसे हो जायगा, जो केवल इसे ही अनुभव करानेके एक मात्र उद्देश्यसे दिये जाते हैं। उनसे किसी खास रीति-रिवाजको पुष्ट करना या उसपर चलनेकी प्रेरणा करना यहाँ इष्ट

सबसे प्रधान उद्देश्य

समाज-संगठन

अब विवाहका सबसे प्रधान उद्देश्य बतलाया जाता है, जिसका नाम है 'समाज-संगठन'—अर्थात्, समाजका सुव्यवस्थित, बलाढ्य

नहीं है —

(१) भगवज्जिनसेनाचार्य और श्रीसोमदेवसूरिने आनुलोम्यरूपसे ब्राह्मणोंके लिए चारो, क्षत्रियोंके लिए तीन, और वैश्योंके लिये सिर्फ दो वर्णोंकी स्त्रियोंसे विवाह करनेका विधान किया है—अर्थात् तीनो वर्णोंके लिए शूद्रा स्त्रीसे विवाह करना भी उचित ठहराया है। परन्तु प्रतिलोम-विवाहकी—अपनेसे ऊपरके वर्णकी स्त्रीसे विवाह करनेकी—आज्ञा नहीं दी। जैसा कि उनके निम्न वाक्योंसे प्रकट है—

शूद्रा शूद्रेण वोढव्या नान्या स्वा ता च नैगमः ।

वहेत्स्वा ते च राजन्य स्वा द्विजन्मा क्वचिच्च ता ॥—आदिपुराण
आनुलोम्येन चतुस्त्रिद्विवर्णकन्याभाजना ब्राह्मणक्षत्रियविशः ।

—नीतिवाक्यामृत

(२) 'धर्मसंग्रहश्रावकाचार' में प्रथम तीन वर्णोंके लिये परस्पर विवाह करनेका विधान किया गया है और शूद्रोंके साथ विवाह-सम्बन्धका सर्वथा निषेध किया है। यथा—

परस्पर त्रिवर्णानां विवाह पक्तिभोजन ।

कर्त्तव्यं न च शूद्रैस्तु शूद्राणां शूद्रकै सह ॥

इससे असवर्ण विवाहके साथ साथ प्रतिलोम विवाहकी भी साफ तौरसे ध्वनि निकलती है। और प्रथमानुयोगके ग्रन्थोमें तो प्रतिलोम विवाहके कितने ही उदाहरण पाये जाते हैं। स्वयं राजा श्रेणिकने, जो क्षत्रिय था, अपने पुरोहित सोमशर्मा ब्राह्मणकी पुत्रीसे विवाह किया था ।

और वृद्धिगत होना । समाज व्यक्तियोंसे बनता है—व्यक्तियोंके समुदायका नाम ही समाज है—और व्यक्तियोंका समुदाय तभी बढ़ता है जब कि विवाहसे सतान उत्पन्न हो । इसलिए सतानोत्पा-

(३) दाय-भागके ग्रन्थो अथवा प्रकरणोमे भी असवर्ण विवाहके विधानोका उल्लेख पाया जाता है—उनमे ऐसे विवाहोसे उत्पन्न हुई संततिके लिये विरासतके नियम दिये हैं—और उनके लिये 'अर्हन्नीति' आदि ग्रन्थोको देखना चाहिये, जिनके प्रमाणोको विस्तार-भयसे छोड़ा जाता है । अथवा जैन-ला-कमेटी देहली द्वारा प्रकाशित 'जैन-नीति-संग्रह' को देखना चाहिये जिसमे ऐसे कितन ही प्रकरणोका संग्रह किया गया है ।

जब असवर्ण विवाहो तकका विधान है तब जातियो उपजातियोकी तो कोई गिनती ही नहीं हो सकती—उनकी रूढ़ि तो बहुत पीछे हुई है ।

(४) म्लेच्छो और भीलोकी कन्याओके साथ विवाह होनेके भी बहुतसे उदाहरण शास्त्रोमे मिलते हैं और उनके करनेवाले अच्छे-अच्छे प्रतिष्ठित पुरुष हुए हैं, जैसे तीर्थंकर, चक्रवर्ति, वसुदेव आदि । परंतु आज ऐसे सम्बन्ध गृहित समझे जाते हैं ।

(५) श्रीनेमिनाथके चचा वसुदेवजीने अपने चचाजाद भाई देवसेनकी लडकी 'देवकी' से भी विवाह किया था । और इससे यह प्रकट है कि उस समय गोत्र तो गोत्र एक कुटुम्बमे भी विवाह हो जाना था, जो आजकल हेय समझा जाता है । और कुछ जातियोमे तो आठ-आठ गोत्र टालकर विवाह किया जाता है । वसुदेवजीने 'एणीपुत्र' नामकके 'व्यभिचारजात' की पुत्री 'प्रियगुसुन्दरी' से भी, जिसे आजकलकी भाषामे 'दस्से या गाटेकी लडकी' कहना चाहिये, विवाह किया था । (देखो 'हरिवंशपुराण' ।)

(६) मामा फूफीकी कन्याओसे विवाहका पहले आम दस्तूर था

दन करना भी विवाहका मुख्य उद्देश्य है। जिस मैथुनसे प्रजा या सतान उत्पन्न नहीं होती उसको विद्वानोंने नामका मैथुन, निष्फल मैथुन और धिक्कारयोग्य मैथुन कहा है ('धिग्मैथुनमप्रजम्')।

और उनके उदाहरणोंसे शास्त्र भरे हुए हैं। अब भी कितनी ही जातियोंमें अथवा स्थानोंपर ऐसे विवाह होते हैं और इसीलिये सोम-देवसूरिने लिखा है कि 'देश-कुलापेक्षो मातुल-सम्बन्ध'—अर्थात् मामाकी पुत्रीसे विवाह देश तथा कुलकी अपेक्षा रखता है। अतः वह सार्वदेशिक नहीं है।

(७) आदिपुराणमें, विवाह-विधानोंमें स्वयवर-विधिको सबसे श्रेष्ठ बतलाया है और उसे सनातन मार्ग लिखा है। यथा —

सनातनोऽस्ति मार्गोऽयं श्रुति-स्मृतिषु भाषितः ।

विवाह-विधि-भेदेषु वरिष्ठो हि स्वयवरः ॥

परन्तु स्वयवरमें कन्या अपनी इच्छानुसार वरको वरण करती है। उसमें कुलीन या अकुलीनका कोई विचार अथवा क्रम नहीं होता; जैसा कि ब्रह्मजिनदासकृत हरिवंशपुराणके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

कन्या वृणीते रुचित स्वयवरगता वरः ।

कुलीनमकुलीन वा क्रमो नास्ति स्वयवरे ॥

ऐसी हालतमें विवाहके लिए वर्ण, जाति और कुल-गोत्रका कुछ भी नियम नहीं रहता।

(८) सोमदेवसूरि आदि कितने ही विद्वानोंने, गृहस्थोंके लिये लौकिक और पारलौकिक ऐसे दो प्रकारके धर्मोंका विधान करते हुए लौकिकधर्मको लोकाश्रित—अर्थात् लौकिक जनोकी देशकालानुसारिणी प्रवृत्तिके अधीन—और पारलौकिकको आगमाश्रित अथवा आप्तप्रणीत शास्त्रोंके अधीन बतलाया है। सासारिक व्यवहारोंके लिये आगमका आश्रय लेना भी व्यर्थ ठहराया है। और साथ ही, यह प्रतिपादन किया है कि जैनियोंके लिये वैं संपूर्ण लौकिक विधियाँ प्रमाण हैं—

और इसी लिए प्रायः ऋतुकालमें ही मैथुनका विधान किया गया है ('ऋतौ भार्यामुपेयात्'), जब कि स्त्रीमें गर्भाधानकी योग्यता रहती है और जो स्त्रीको मासिक धर्म हो चुकने पर प्रायः १२ दिन तक रहती है । दूसरे समयोंमें मैथुन करनेसे गर्भ धारण नहीं हो सकता, ऐसा वैद्यकशास्त्रोका मत है । भगवज्जिनसेनाचार्यने आदिपुराणमें, विवाह-विधिका वर्णन करते हुए, साफ तौरसे "संतानके लिए ऋतुकालमेंही" स्त्रीपुरुषोको, यदि वे उस समय रोगादिकके कारण

ग्राह्य हैं—जिनसे उनकी धार्मिक श्रद्धा (सम्यक्त्व) मे कोई बाधा न पड़ती हो और न व्रतोमे ही कोई दूषण लगता हो । यथा—

द्वौ हि धर्मौ गृहस्थाना लौकिक पारलौकिक ।

लोकाश्रयो भवेदाऽऽद्य पर स्यादागमाश्रय ॥

संसार-व्यवहारे तु स्वत सिद्धे वृथागम ।

सर्व एव हि जैनाना प्रमाणं लौकिको विधि

यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषण ॥

—यशस्तिलक

ऐसी हालतमे विवाह-विधिका, जो कि गृहस्थोका एक लौकिक धर्म है और लोकाश्रित होनेसे परिवर्तनशील है, कोई सावकालिक और सार्वदेशिक एक नियम हो ही नहीं सकता । और इसलिये जिन विवाह-विधियोके द्वारा दूसरे वर्णों या जातियो आदिके साथ सम्बन्ध जोड़ा जाता है उनसे यदि जैनियोकी धार्मिक श्रद्धामे कोई बाधा न पड़ती हो और न उनके व्रतोमे कोई दोष लगता हो तो वे सभी विधियाँ जैनियोके लिये एक प्रकारसे उचित और मान्य ठहरती हैं । और इसीलिये 'ग्राह्य-स्त्री'के सम्बन्धमे ऊपर जो कुछ उत्तर दिया गया है वह ठीक और समुचित ही प्रतीत होता है ।

जैनशास्त्रोकी तरह, हिन्दू-धर्मके ग्रन्थोमे भी, सर्व देशो और सर्व समयोंके लिये, ग्राह्य-स्त्री-विषयक कोई एक नियम नहीं पाया जाता ।

या और तीरपर बैसा करनेके लिये असमर्थ न हों और वह समय भी कोई पर्वदि वर्ज्य काल न हो तो, परस्पर काम-सेवन करना लिखा है। यथा --

सतानार्थमृतावेव कामसेवां मिथो भजेत् ।

शक्तिकालव्यपेक्षोऽयं कमोऽशक्तेष्वतोऽन्यथा ॥३८-१३५॥

इसी ग्रन्थके १५ वे पर्वमें उक्त आचार्यमहोदयने ये वाक्य भी दिये हैं --

त्वामाऽऽदिपूरुषं दृष्ट्वा लोकोऽप्येवं प्रवर्त्तताम् ।

महतां मार्गवर्तिन्य प्रजा सुप्रजसो ह्यमूः ॥६१॥

ततः कलत्रमन्त्रेष्ट परिणेतुं मनः कुरु ।

प्रजा-संततिरेव हि नोच्छेत्स्यति विदांवर ॥६२॥

प्रजा-सतत्यविच्छेदे तनुते धर्म-सततिः ।

मनुष्व मानव धर्मं ततो देवैनमच्युत ॥६३॥

देवेनं गृहिणा धर्मं विद्धि-दारपरिग्रहम् ।

सतानरक्षणे यत्नं कार्यो हि गृहमेधिनाम् ॥६४॥

इन वाक्योंमें विवाहकी उस प्रार्थनाका वर्णन है जो युगकी आदि-में नाभिराजाने भगवान् वृषभदेवसे की थी और जिसके अनुसार वृषभदेवने विवाह कराना स्वीकार किया था। प्रार्थनामें बतलाया गया है कि 'विवाह करना गृहस्थोका धर्म है'। गृहस्थोको सतान

१ जैन-विवाह-पद्धतिमें भी लिखा है कि 'अन्य-स्त्रीका त्याग और निजस्त्री-मात्रमें प्रवृत्तिरूप जो यह विवाहकर्म है वह गृहस्थोका धर्म है और सततिका योग्य रीतिसे पालन करनेके लिये अनादि-प्रवाहसे चला आता है। इस गृहस्थ-धर्मका यथेष्ट रीतिसे धारण और पालन होनेपर मुनि-धर्ममें आदर उत्पन्न होता है अथवा यो कहिये कि मुनि-धर्मकी ओर बोगोकी प्रवृत्ति होती है।' यथा --

अन्याङ्गनापरिहृतिर्निजदारवृत्ति-

उत्पन्न करने और उसकी रक्षा करनेमें यत्न करना चाहिए। विवाह के द्वारा प्रजाका सिलसिला बढ न होकर धमका सिलसिला बराबर जारी रहता है। इससे विवाहका साफ उद्देश्य धार्मिक सतानका उत्पन्न करना पाया जाता है। इसी तरह श्रीसोमदेवसूरि और ५० आशाधरजी आदि दूसरे जैन विद्वानोंने भी सतानोत्पादनको विवाहका उद्देश्य बतलाया है। हिन्दू-धर्मके विद्वानोका भी इस विषयमे प्रायः ऐसा ही मत है।

संगठनकी जरूरतका बाह्यदृष्टिसे विचार

अब देखना यह है कि विवाहद्वारा सतान उत्पन्न करके समाज-संगठनकी जरूरत क्यों पैदा होती है ? जरूरत इसलिये होती है कि यह जीवन एक प्रकारका 'युद्ध' है —लौकिक और पारलौकिक

धर्मो गृहस्थजनता-विहितोऽयमास्ते ।

नादिप्रवाह इति सन्तति-पालनार्थ-

मेवं कृतौ मुनिवृषे विहितादरः स्यात् ॥

१ वे भी धार्मिक प्रजाकी अथवा धर्म और प्रजा (सन्तति) दोनोंकी सन्ततिको विवाहका प्रयोजन मानते हैं, जैसा कि याज्ञवल्क्य-स्मृतिके निम्न श्लोक और उसकी 'मिताक्षरा' टीकासे प्रकट है —

लोकानन्त्य दिव प्राप्ति पुत्रपौत्रप्रपौत्रकै ।

यस्मात्तस्मात्स्त्रियः सेव्या. कर्तव्याश्च सुरक्षिता ॥

टीका — लोके आनन्त्य वशस्याविच्छेद दिव प्राप्तिश्च दारसग्रहस्य प्रयोजनम् । कथमित्याह । पुत्र-पौत्र-प्रपौत्रकैर्लोकानन्त्यम्, अग्निहोत्रादिभिश्च स्वर्गप्राप्तिरित्यन्वयः । यस्मान् स्त्रीभ्य एतद्द्वयं भवति तस्मात् स्त्रियः सेव्या उपभोग्या, प्रजार्थम् । रक्षितव्याश्च धर्मार्थम् । तथा चाऽऽपस्तम्बेन धर्मप्रजासपत्तिः प्रयोजनं दारसग्रहस्योक्तं 'धर्मप्रजाम-पन्नेषु दारेषु नान्या कुर्वीत' इति वदता । रति-फलं तु लौकिकमेव ।

या अन्तरंग और बहिरंग दोनों ही दृष्टियोंसे इसे युद्ध समझना चाहिए—और यह संसार 'युद्धक्षेत्र' है। युद्धमें जिस प्रकार अनेक शक्तियोंका मुकाबला करनेके लिये सैन्य-संगठनकी जरूरत होती है उसी प्रकार जीवन-युद्धमें अनेक आपदाओंसे पार पानेके लिए समाज-संगठनकी आवश्यकता है।

हम चारों ओरसे इस ससारमें इतनी आपत्तियों-द्वारा घिरे हुए हैं कि यदि हमारे पास उनसे बचनेका कोई साधन नहीं है तो हम एक दिन क्या, घड़ी भर भी जीवित नहीं रह सकते। बाह्य जगत पर दृष्टि डालनेसे मालूम होता है कि एक शक्ति बड़ी सरगर्मी (तत्परता) के साथ दूसरी शक्ति पर अपना स्वत्व (स्वामित्व) और प्राबल्य स्थापित करना चाहती है, अपने स्वार्थके सामने दूसरी को बिलकुल तुच्छ और नाचीज समझती है, चैतन्य होते हुए भी उससे जड़-जैसा व्यवहार करती है और यदि अवसर मिले तो उसे कुचल डालती है—हडप कर जाती है। रात दिन प्रायः इस प्रकारकी घटनाएँ देखनेमें आती हैं। निर्बलों पर खूब अत्याचार होते हैं। न्यायालय खुले हुए हैं, परन्तु वे सब उनके लिये व्यर्थ हैं। उनकी कोई सुनाई नहीं होती। इसीलिए न कि, उनका कोई रक्षक या सहायक नहीं है, उनमें कौटुम्बिक बल नहीं है, जिस समाजके वे अंग हैं वह सुव्यवस्थित नहीं है, पैसा उनके पास नहीं है, उन्हें कोई साक्षी उपलब्ध नहीं होता—कोई गवाह मयस्सर नहीं आता। जो लोग प्रत्यक्षमें उनपर होते हुए अत्याचारोंको देखते हैं वे भी अत्याचारीके भयसे या अपने स्वार्थमें कुछ बाधा पड़नेके भयसे बेचारे गरीबोंकी कोई मदद नहीं करते, उन्हें 'न्याय-भिक्षा' दिलानेमें समर्थ नहीं होते। और इस तरह बेचारे पारिवारिक और सामाजिक शक्ति-बिहीनोको रात-दिन चुपचाप घोर सकट और दुःख सहन करने पड़ते हैं।

ससारमें अविवेक और स्वार्थकी मात्रा इतनी बड़ी हुई है कि

उसके आगे पापका भय कोई चीज नहीं है। पापके भयसे बहुत ही कम अपराधोकी रोक होती है। ऐसे बहुत ही कम लोग निकलेगे जो पापके भयसे अपराध न करते हो। जो हैं उन्हें सच्चे धर्मात्मा सम्भन्ता चाहिए। बाकी अधिकांश लोग ऐसे ही मिलेंगे जो लोक-भयसे, राज्य-भयसे या परशक्तिके भयसे पापाचरण करते हुए डरते हैं। अन्यथा, उन्हें पापसे कोई घृणा नहीं है वे सब जब मौका मिलता है तब ही उसे कर बैठते हैं।

ऐसी हालतमें समूह बनाकर रहनेकी बहुत ही जरूरत है। समूहमें बहुत बड़ी शक्ति होती है। छोटे छोटे तिनको और कच्चे सूतके धागोंका कुछ भी बल नहीं है, उन्हें हर कोई तोड़-मरोड़ सकता है। परन्तु जब वे मिलकर एक मोटे रस्सेका रूप धारण कर लेते हैं तब बड़े बड़े मस्त हाथी भी उनसे बाधे जा सकते हैं। चीटिया आकार में कितनी छोटी छोटी होती हैं, परन्तु वे अपनी समूहशक्तिसे एक सापको मार लेती हैं। जिनकी समूहशक्ति बड़ी हुई होती है उन पर एकाएक कोई आक्रमण नहीं कर सकता हर एकको उन पर अत्याचार करने या उनके स्वार्थमें बाधा डालनेका साहस नहीं होता, उनके स्वत्वों और अधिकारोकी बहुत कुछ रक्षा होती है। विपरीत इसके, जिनमें समूहशक्ति नहीं होती वे निर्बल कहलाते हैं और निर्बलों पर प्रायः राजा और प्रजा सभीके अत्याचार हुआ करते हैं। छोटी छोटी मछलियाँ सख्यामें अधिक होने पर भी अपनेमें समूहशक्ति नहीं रखती, इसलिये बड़ी बड़ी मछलियाँ या मच्छ उन्हें खा जाते हैं। मधुमक्खियाँ (शहदकी मक्खियाँ) अपनेमें कुछ समूह-शक्ति रखती हैं, इससे हर एकको उनके छत्तेके पास तक जानेका साहस नहीं होता। साधारण मक्खियोंमें वह शक्ति नहीं है, इसलिये उन्हें हर कोई मार गिराता है। इससे केवल व्यक्तियोंकी सख्याके अधिक होनेका नाम 'समूह' या 'समूहशक्ति' नहीं है, बल्कि उनका मिलकर 'एक प्राण' और 'एक उद्देश्य' हो जाना ही समूहशक्ति

कहलाता है।

एक कुटुम्बके किसी व्यक्ति पर जब कोई अत्याचार करता है तो उस कुटुम्बके सभी लोगोको एकदम जोश आजाता है और वे उस अत्याचारीको उसके अत्याचारका मज्जा (फल) चखानेके लिए तैयार हो जाते है, इसीको 'एक प्राण होना' कहते हैं। इसी तरह जब कुटुम्बका कोई मनुष्य कुटुम्बके उद्देश्यके विरुद्ध प्रवर्तता है—अन्यायमार्ग पर चलता है—तो उससे भी कुटुम्बके लोगोके हृदय पर चोट लगती है और वे, शरीरके किसी अंगमे उत्पन्न हुए विकार-के समान, उसका प्रतिशोध करनेके लिये तैयार हो जाते हैं, इसको भी 'एक प्राण होना' कहते है। साथ ही, यह सब उनके 'एक उद्देश्य' होनेको भी सूचित करता है।

इस प्रकार एक प्राण और एक उद्देश्य होकर जितनी भी अधिक व्यक्तियाँ मिलकर एक साथ काम करती हैं उतनी ही अधिक विघ्न-बाधाओंसे सुरक्षित रहकर वे शीघ्र सफल मनोरथ होती हैं। यही समाज-संगठनका मुख्य उद्देश्य है और इसी खास उद्देश्यको लेकर विवाहकी सृष्टि की गई है। इसमे पूरा 'रक्षा-तत्त्व' भरा हुआ है।

एक विवाह होने पर दोनो पक्षकी कितनी शक्तियाँ परस्पर मिलती हैं, एक दूसरेके सुख-दुखमे कितनी सहानुभूति बढ़ती है और कितनी समवेदना प्रकट होती है, इसका अनुभव वे सब लोग भले प्रकार कर सकते हैं जो एक सुव्यवस्थित कुटुम्बमे रहते हो। युद्धमे दो राजशक्तियोके परस्पर मिलनेसे—एक सूत्रमे बँधनेसे—जिस प्रकार आनन्द मनाया जाता है, उसी प्रकार विवाहमे वर और वधू दोनो पक्षकी शक्तियोके मिलापसे आनन्द का पार नहीं रहता। इस सम्मिलित शक्तिसे जीवन-युद्ध अनेक अशोमे सुगम होजाता है। विवाहके द्वारा कुटुम्बोंकी रचना होती है और कुटुम्बोंसे 'समाज' बनता है। कुटुम्बोंके संगठित, बलाढ्य और सुव्यवस्थित होनेपर समाज सहज-मे ही संगठित, बलाढ्य और सुव्यवस्थित होजाता है। और समाजके

संभठित, बलाढ्य और सुव्यवस्थित होने पर उन सब लौकिक तथा धार्मिक स्वत्वोंकी—अधिकारोंकी—पूर्णतया रक्षा होती है, जिनकी रक्षा प्रत्येक व्यक्ति या कुटुम्ब अलग अलग नहीं कर सकता।

दूसरे शब्दोंमें यो कहना चाहिए कि सब कुटुम्ब समाज शरीरके अङ्ग हैं। एक भी अङ्गकी व्यवस्था बिगड़ जानेपर जिस प्रकार शरीरके काममें बाधा पड़ जाती है उसी प्रकार किसी भी कुटुम्बकी व्यवस्था बिगड़ जाने पर समाजके काममें हानि पहुँचती है। और जिस प्रकार सब अङ्गोंके ठीक होनेपर शरीर स्वस्थ और नीरोग होकर भले प्रकार सब कार्योंका सम्पादन करनेमें समर्थ हो सकता है, उसी प्रकार समाज भी सब कुटुम्बोंकी व्यवस्था ठीक होनेपर यथेष्ट रीतिसे धर्म-कर्म आदिकी व्यवस्था कर सकता है और प्रत्येक कुटुम्ब तथा व्यक्ति-के स्वत्वोंकी रक्षा और उसकी आवश्यकताओंकी पूर्तिका समुचित प्रबंध कर सकता है। इससे कहना होगा कि 'समाजका सगठन कुटुम्बोंके सगठनपर अवलम्बित है और कुटुम्बके सगठनका भार कुटुम्बके प्रधान व्यक्तियों पर— गृहिणी और गृहपति' पर—होता है। इसलिए विवाहके इस उद्देश्यको पूरा करनेके लिये विवाहित और विवाहके लिए प्रस्तुत स्त्री-पुरुषोंको इस ओर खास ध्यान देनेकी जरूरत है। उन्हें अपनी जिम्मेदारियोंको खूब समझ लेना चाहिये। उनके द्वारा कोई भी ऐसा काम न होना चाहिए जिससे समाजसगठनमें बाधा पड़ती हो। साथ ही, उन्हें यह भी जान लेना चाहिए कि जबतक परिस्थिति नहीं सुधरेगी—वातावरण ठीक नहीं होगा—तब तक हम अपनी स्थितिको भी जैसा चाहिए वैसा नहीं सुधार सकते। इसलिये समाज-संगठनके अग्रिमप्रायसे—वायुमंडलको सुधारनेकी दृष्टिसे—उन्हें अपने कुटुम्बको सुव्यवस्थित करनेमें कोई बात उठा न रखनी चाहिये। इस प्रकारके प्रयत्नसे सब कुटुम्बोंके सुव्यवस्थित हो जाने पर जो स्वच्छ वायु-धारा बहेगी वह सभीके लिये स्वास्थ्यप्रद होगी और उसमें रहकर सभी लोग अपना कल्याण कर सकेंगे।

प्रत्येक कुटुम्बको 'सुव्यवस्थित और बलाढ्य' बनानेके लिए उसके प्रधान पुरुषोको इन बातोंपर ध्यान रखनेकी खास जरूरत है—

(१) स्वयंसदाचारसे रहना और अपने कुटुम्बियों तथा आश्रितोंको सदाचारके मार्ग पर लगाना । ऐसा कोई काम न करना जिसका समाजपर बुरा असर पड़े ।

(२) अपने बुद्धि-बल शरीर-बल और धन-बलको बराबर बढ़ाते रहना और सदा प्रसन्न चित्त रहनेकी चेष्टा करना ।

(३) सबके दुख-सुखका पूरा खयाल रखना, सबको परस्पर प्रेम तथा विश्वास करना सिखलाना और दुखियोंके दुख दूर करनेका प्रयत्न करना । साथ ही, किसीपर अत्याचार न करना और दूसरोंके द्वारा होते हुए अत्याचारोंको यथाशक्ति रोकना ।

(४) वीर्यका दुरुपयोग न करके प्रायः सन्तानके लिए ही मैथुन करना । किसी व्यसनमें न फँसना और जितेन्द्रिय रहना ।

(५) स्वयं कुसङ्गतिसे बचना और अपने परिवारके लोगोंको बचाते रहना । साथ ही, अपनी सन्ततिका कभी बाल्यावस्थामें विवाह न करना ।

(६) सन्तानकी तथा अन्य कुटुम्बियोंकी शिक्षाका समुचित प्रबन्ध करना, उन्हें धर्मके मार्ग पर लगाना और ऐसी शिक्षा देना जिससे वे परावलम्बी न बनकर प्रायः स्वावलम्बी बनें और देश, धर्म तथा समाजके लिये उपयोगी सिद्ध हो ।

(७) कुटुम्बभरमे एकता, सत्यता, समुदारता दयालुता, गुण-आह-कता, आत्म-निर्भरता और सहनशीलता आदि गुणोंका प्रचार करना । साथ ही, ईर्ष्या, द्वेष और अदेखसका-भाव आदि अवगुणोंको हटाना ।

(८) लूढियोंका दास न बनकर कुरीतियोंको दूर करना और जो कुछ युक्ति तथा प्रमाणसे समुचित और हितरूप जँचे उसीके अनुसार चलना ।

(६) धर्मप्रचार और समाजके उत्थानकी बराबर चिन्ता रखना और धार्मिक कार्योंमें सदैव योग तथा सहायता देते रहना ।

(१०) मितव्ययी (किफ़ायती). बनना, परन्तु कृपण नहीं होना । साथ ही, पूज्यकी पूजाका कभी व्यतिक्रम न करते हुए, बराबर अतिथि-सत्कारमें उद्यमी रहना और उसे यथाशक्ति करना ।

प्रत्येक स्त्री-पुरुषको इन दस बातोंको अपना 'कर्त्तव्य-कर्म' बना, लेना चाहिए, अपने समस्त आचार-व्यवहारका 'सूत्र' समझना चाहिये और विवाहके गठजोड़ेके समय इनकी भी 'गाँठ' बाँध लेनी चाहिए ।

अन्तरङ्ग-दृष्टिसे विचार

यह तो हुआ बाह्य जगतकी दृष्टिसे विचार । अब अन्तरङ्ग जगत पर दृष्टि डालिये । अन्तरङ्ग जगत पर दृष्टि डालनेसे मालूम होता है कि, यह जीवात्मा अनादिकालसे मिथ्यात्व, राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध, मान-मद, माया, लोभ, हास्य, शोक, भय, जुगुप्सा, अज्ञान अदर्शन, अन्तराय और वेदनीय आदि सैकड़ों और हजारों कर्मशत्रुओंसे घिरा हुआ है, जिन सबने इसे बधनमें डालकर पराधीन बना रक्खा है और इसकी अनन्त शक्तियोंका घात कर रक्खा है । इसीलिए यह आत्मा अपने स्वभावसे च्युत होकर विभाव-परिणतिरूप परिणाम रहा है और अनेक योनियोंमें परिभ्रमण करता हुआ नाना प्रकारके दुःख और कष्टोंको भोग रहा है । इसका मुख्य और प्रधान उद्देश्य है 'बन्धनसे छूटकर स्वाधीनता प्राप्त करना' ।

परन्तु बन्धनसे छूटना आसान काम नहीं है । एक राष्ट्र जब दूसरे राष्ट्रकी परतन्त्रतासे अलग होना चाहता है—स्वाधीन बननेकी इच्छा रखता है—तब उसे रातदिन इसविषयमें प्रयत्नशील रहनेकी जरूरत होती है, बड़े बड़े उपायोंकी योजना करनी पड़ती है, घोर सकट सहन करने होते हैं, बन्धनोंमें पड़ना होता है, हानियाँ उठानी

पड़ती हैं, अपने स्वार्थकी बलि देनी होखी है और बहुतसे ऐसे काम भी करने पड़ते हैं जिनका करना उसे इष्ट नहीं होता और न वे उसके उद्देश्य ही होते हैं; परन्तु बिना उनके किये उसे अपने उद्देश्योंमें सफलता प्राप्त नहीं हो सकती, और इसलिये वह उन्हें लाचारीकी दृष्टिसे करता है। साथ ही, वह अपने लक्ष्यसे कभी भ्रष्ट नहीं होता और न दूसरे राष्ट्रकी मोह-मायामें फँसता है। तब कही वह वर्षोंके बाद परतन्त्रताकी बेड़ीसे छूटकर स्वतन्त्रताकी शीतलछायामें निवास करता है। इसी तरह पर उस आत्माको भी, जो कर्मके बन्धनसे छूटना चाहता है, अपनी उद्देश्य-सिद्धिके लिये बड़े बड़े प्रयोग करने होते हैं और नाना प्रकारके कष्ट उठाने पड़ते हैं। उसे बन्ध-मुक्त होनेके लिये बन्धनमें भी पड़ना होता है, कर्मसे छूटनेके लिये कर्म भी करना पड़ता है, हानिसे बचनेके लिए हानि भी उठानी पड़ती है, पापसे सुरक्षित रहनेके लिये पाप भी करना होता है और शत्रुओंसे पिब छुड़ानेके लिये शत्रुओंका आश्रय भी लेना पड़ता है। परन्तु इन सब अवस्थाओंमें होकर जाता हुआ मुमुक्षु आत्मा अपने लक्ष्यसे कभी भ्रष्ट नहीं होता—पुद्गलके अथवा प्रकृतिके मोहजालमें कभी नहीं फँसता। वह कभी बन्धको मुक्ति, कर्मको कर्माभाव हानिको लाभ, पापको धर्म और शत्रुको मित्र स्वीकार नहीं करता। और न कभी इन बन्धादिक अवस्थाओंको इष्ट समझता हुआ उनमें तल्लीन ही होता है। बल्कि उसका प्रेम इन सब अवस्थाओंसे सिर्फ 'कार्यार्थी' होता है। कार्यार्थीका प्रेम कार्यकी हदतक रहता है। कार्यकी समाप्तिपर उसकी भी समाप्ति हो जाती है। इसलिए वह अपने किसी इष्ट प्रयोजनकी साधनाके निमित्त लाचारीसे इन बन्धादिक अवस्थाओंसे क्षणिक प्रेम रखता हुआ भी बराबर निर्बन्ध, निष्कर्म, निर्हानि, निष्पाप और निःशत्रु होनेकी चेष्टा करता रहता है। इस विषयमें उसका यह सिद्धान्त होता है :—

वपकारादमृहीतेन शत्रुणा शत्रुमुद्धरेत् ।

पादलानं करस्येन कंटकेनेव कंटकम् ॥

अर्थात्—हाथमें काँटा लेकर जिस प्रकार पैरका काँटा निकाला जाता है, उसी प्रकार उपकार तथा प्रेमादिकसे एक शत्रुको अपना बनाकर उसके द्वारा दूसरे शत्रुको निर्मूल करना चाहिए। अभिप्राय यह कि, पैरमें लगे हुए काँटिको निकालनेके लिए पैरमें दूसरा काँटा चुमानेकी जरूरत होती है और उस दूसरे काँटिको आदरके साथ हाथमें ग्रहण करते हैं। परन्तु वह दूसरा काँटा वास्तवमें इष्ट नहीं होता—कालान्तरमें वह भी पैरमें चुम सकता है—और न उसका चुमाना ही इष्ट होता है—क्योंकि उससे भी तकलीफ जरूर होती है, फिर भी उस अधिक पीड़ा पहुँचानेवाले पैरके काँटिको निकालनेके लिए यह सब कुछ किया जाता है। और कार्य हो चुकने पर वह दूसरा काँटा भी हाथसे डाल दिया जाता है। इसी सिद्धान्त पर मुमुबु आत्माको बराबर चलना होता है। उसका जानबूझकर किसी बधन में पड़ना, कोई पापका काम करना और किसी शत्रुकी शरणमें जाना दूसरे अधिक कठोर बन्धनसे बचने, घोर पापसे सुरक्षित रहने और प्रबल शत्रुओंसे पिंड छुड़ानेके अभिप्रायसे ही होता है। यद्यपि उसे सम्पूर्ण कर्मशत्रुओंका विजय करना इष्ट होता है, परन्तु साथ ही वह अपनी शक्तिको भी देखता है और इस बातको समझता है कि यदि समस्त शत्रुओंको एकदम चैलेज दे दिया जाय—सबका एक साथ विरोध करके उन्हें युद्धके लिए ललकारा जाय—तो उसे कदापि सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए वह बराबर अपनी शक्तिको बढ़ानेका उद्योग करता रहता है। जब तक उसका बल नहीं बढ़ता तब तक वह अपनी तरफसे आक्रमण नहीं करता, केवल शत्रुओंके आक्रमणकी रोक करता है, कभी कभी उसे टेम्परेरी (अल्पकालिक) संधियाँ भी करनी पड़ती हैं। और जब जिस विषयमें उसका बल बढ़ जाता है तब उसी विषयके शत्रुसे लड़नेके लिए तैयार हो जाता है और उसे नियमसे परास्त कर देता है। इस

तरह वह सम्पूर्ण कर्मोंके बन्धनसे छूटकर मुक्त हो जाता है।

गृहस्थाश्रम भी कर्मबन्धनसे छूटनेके प्रयोगोंमेंसे एक प्रयोग है और स्त्री पुरुष दोनों मुमुक्षु हैं—कर्मबन्धनसे छूटनेके इच्छुक हैं—इसलिए उन्हें भी अपने लक्ष्यसे भ्रष्ट होकर गृहस्थाश्रमकी बन्धादिक अवस्थाओंको अपना स्वरूप न समझ लेना चाहिए, उन्हें सर्वथा इष्ट मानकर उनमें लवलीन न हो जाना चाहिए। बन्धको मुक्ति, कर्मको कर्माभाव, हानिको लाभ, पापको धर्म और शत्रुको मित्र न मान लेना चाहिए। ऐसा मान लेनेसे फिर कर्मका बन्धन न छूट सकेगा। अन्तरंग दृष्टिसे उनका भी प्रेम इन सब अवस्थाओंसे 'कार्यार्थी' होना चाहिए और उन्हें बराबर निबन्ध, निष्कर्म, निर्हीन, निष्कषाय और नि शत्रु होनेकी चेष्टा करते रहना चाहिए। साथ ही, उनका भी वही कटकोन्मूलन-सिद्धान्त होना चाहिए और उन्हें बड़ी सावधानीके साथ उस पर चलना चाहिए। उनका जानबूझकर गृहस्थीके बन्धनोमें पडना, आरम्भादिक पापोंमें फँसना और कामादिक शत्रुओंका शरण लेना नरक-निगोद-तिर्यचादिकके कठोर बधनोंसे बचने, सकल्प तथा अशुभ रागादि-जनित घोर पापोंसे सुरक्षित रहने और अज्ञान-मिथ्यात्वादि प्रबल शत्रुओंसे पिड छुड़ानेके अभिप्रायसे ही होना चाहिए। उन्हें अपने पूर्ण ब्रह्मचर्यादि धर्मों पर लक्ष्य रखते हुए समस्त कर्म शत्रुओंको जीतनेका उद्देश्य रखना चाहिए और उसके लिए बराबर अपना आत्म-बल बढ़ाते रहना चाहिए। आत्माका बल शुभकर्मोंसे बढ़ता है, और अशुभकर्मोंसे घटता है। इसलिए गृहस्थाश्रममें उन्हें अशुभकर्मोंका त्याग करके बराबर शुभकर्मोंका अनुष्ठान करते रहना चाहिए। गृहस्थाश्रममें गृहस्थधर्म-द्वारा आत्माका बल बहुत कुछ बढ़ाया जा सकता है। इसीलिए महर्षियोंने इस गृहस्थाश्रमकी सृष्टि की है। शुभकर्मोंके द्वारा आत्म-बल बढ़ जाने पर गृहस्थोंको, प्रेमपूर्वक ग्रहण किये हुए हाथके काटेके समान, गृहस्थाश्रमका भी त्याग कर देना चाहिए और

फिर उन्हें 'वानप्रस्थ' या 'संन्यस्त' (मुनि) आश्रम धारण करना चाहिए, और इस प्रकार कर्मोंका बल घटाते हुए अन्तके आश्रम द्वारा उन्हें सर्वथा निसर्ल करके बन्धनसे छूट जाना चाहिए । यही मुक्तिकी सुसरत्ता युक्ति है । और इसके उपर्युक्त दिग्दर्शनसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि गृहस्थाश्रम अथवा गृहस्थधर्मका यह प्रणयन कितना अधिक युक्ति और चतुराईको लिये हुए है । और उस पर पूरा पूरा अमल होनेसे मुक्ति कितनी सन्निकट हो जाती है ।

परन्तु इन समस्त आश्रमोंके धर्मका पूरी तौरसे पालन तब ही हो सकता है जब 'समाजका सगठन अच्छा हो' । बिना समाज-सगठनके कोई भी काम यथेष्ट रीतिसे नहीं हो सकता । बाह्यसाधन न होनेसे सब विचार हृदयके हृदयमें ही विलीन हो जाते हैं, बन्ध-मोक्षकी सारी कथनी ग्रन्थोंमें ही रक्खी रह जाती है और अमली सूरत कुछ भी बन नहीं पड़ती । जैनियोंका सामाजिक सगठन बिगड़ जानेसे ही अफसोस । आज वस्तुतः मुनिधर्म उठ गया ॥ और इसीसे जैनियोंकी प्रगति रुक गई । मुनियोंका धर्म प्रायः गृहस्थोंके आश्रय होता है । इसीलिए श्रीपद्मनन्दी आदि आचार्योंने "गृहस्था धर्महे-

१ विवाह-पद्धतिमें भी, भगवान् 'वृषभ' देवका स्तवन करते हुए, यह बतलाया गया है कि 'उन्होंने युगकी आदिमें कल्याणकारी गृहस्थधर्मको प्रवर्तित करके उसके द्वारा युक्तिके साथ निर्वाण-मार्गको प्रवर्तित किया था' । यथा :—

प्रावर्तयज्जन-हितं खलु कर्मभूमौ षट्कर्मणा गृहिवृष परिवर्त्य युक्त्या ।
निर्वाण-मार्गमनवद्यमज स्वयम्भू श्रीनाभिसूनुजिनपो जयतात्स पूज्य ॥

जो लोग विवाहको सर्वथा ससारका कारण मानकर निवृत्तिप्रधान धर्मोंके साथ उसको असम्बद्ध समझते हैं, यह उनकी बड़ी भूल है । उन्होंने विवाहके वास्तविक उद्देश्यको नहीं समझा और न धर्मका रहस्य ही मालूम किया है ।

तबः” “आबका मूलकारणम्” इत्यादि वाक्योंके द्वारा गृहस्थोंको ‘धर्मका हेतु’ और ‘मुनिधर्मका मूल कारण’ बतलाया है। परन्तु गृहस्थाश्रमकी व्यवस्था ठीक न होनेसे—समाजके अव्यवस्थित और निर्बल होनेसे—यह सब कुछ भी नहीं हो सकता। इसलिए अन्तरंग और बहिरंग दोनों दृष्टियोंसे समाज-संगठनकी बहुत बड़ी जरूरत है। इसी खास उद्देश्यको लेकर विवाह होना चाहिए और उसको पूरा करनेके लिये प्रत्येक स्त्री-पुरुषको उन दस कर्तव्योंका पूरी तौर-से पालन करना चाहिये जो कुटुम्बोंको सुव्यवस्थित बनानेके लिए बतलाये गये हैं और जिन पर समाजका संगठन अवलम्बित है। धर्मशास्त्रोंकी दृष्टिसे विवाहके ये ही सब उद्देश्य हैं। अन्य सब छोटी-मोटी बातें इन्हींमें समाजाती हैं।

उद्देश्यसिद्धिके लिये जरूरत

विवाहके इन सब उद्देश्योंको पूरा करने अथवा सिद्ध करनेके

१ ‘मनु’ आदिने भी गृहस्थाश्रमको प्रधानता दी है और लिखा है कि ‘शेष तीनों आश्रमोंका उसीके द्वारा भरण-पोषण होता है और वे उसके आश्रित हैं’। यथा—

सर्वेषामपि चैतेषा वेद-स्मृति-विधानतः ।

गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्विभर्ति हि ॥

तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥ —मनुस्मृतिः

२ श्रीसोमदेवसूरिने, नीतिवाक्यामृतके निम्न वाक्यमें, दारकर्म (विवाह) के जो पाँच फल बतलाये हैं उनमेंसे कोई भी फल ऐसा नहीं है जो इन उद्देश्योंसे भिन्न हो अथवा इनके द्वारा साध्य न हो.—

धर्मसततिरनुपहतारतिगृहवार्तानुबिहितत्वमाभि-

जात्याचारविशुद्धिर्देव-द्विजाऽतिथि-बान्धव-सत्कारा-

नवद्यत्वं दारकर्मणः फलम् ।

लिये और गृहस्थाश्रमका भार समुचित-रीतिसे उठानेके लिये इस बातकी बहुत बड़ी जरूरत है कि 'स्त्री और पुरुष दोनों योग्य हो, समर्थ हो, युवावस्थाको प्राप्त हो और विवाहके उद्देश्यको मले प्रकार समझते हों। बाल्यावस्थासे ही उनके शरीरका सगठन अच्छी रीतिसे हुआ हो, वे छोटे सस्कारोसे दूर रखे गये हो और उनकी शिक्षा-दीक्षाका योग्य प्रबन्ध किया गया हो। साथ ही, विवाह-संस्कार होने तक उन्होंने पूर्ण ब्रह्मचर्य-का पालन किया हो और लौकिक तथा पारमार्थिक ग्रन्थोंका अध्ययन करके उनमें दक्षता प्राप्त की हो—अच्छी लियाकत हासिल की हो।' बिना इन सब बातोंकी पूर्ति हुए विवाहके उद्देश्यका पूरे तौरसे पालन नहीं हो सकता, न गृहस्थाश्रमका भार समुचित-रीतिसे उठाया जा सकता है और न वह गृहस्थाश्रम सुखाश्रम ही बन सकता है'। इसीलिए गृहस्थाश्रमसे पहले आचार्योंने एक दूसरे आश्रमका विधान किया है, जिसका नाम है 'ब्रह्मचारी आश्रम'—अर्थात्, ब्रह्मचारी रहकर विद्याभ्यास करते हुए शारीरिक और मानसिक शक्तियोंको केन्द्रित करना। इस आश्रम

१ मुनि रत्नचदजीने भी 'कर्तव्य-कौमुदी' में लिखा है —

यावन्नार्जयते धनं सुविपुलं दारादिरक्षाकरं

यावन्नैव समाप्यते दृढतरा विद्या कला वाऽश्रिता ।

यावन्नो वपुषो धियश्च रचना प्राप्नोति दाढ्यं परं

तावन्नो सुखदं वदन्ति विबुधा ग्राह्यं गृहस्थाश्रमं ॥

अर्थात्—जब तक इतना प्रचुर धन पैदा न कर लिया जाय अथवा पासमें न हो जिससे अपनी तथा स्त्री-पुत्रादिककी यथेष्ट रक्षा हो सके—घरका खर्च चल सके, जब तक विद्या और कलाका अभ्यास अच्छी तरहसे पूरा न हो जाय और शरीरके अगोकी रचना तथा बुद्धिका विकास अच्छी तरहसे होकर उनमें पूर्ण दृढता न आ जाय तब तक गृहस्थाश्रमका ग्रहण करना सुखदायी नहीं हो सकता, ऐसा बुद्धिमानोंका मत है।

का खास उद्देश्य इन्हीं सब बातोंकी पूर्ति करना है जो विवाहके उद्देश्योंकी पूर्ति तथा गृहस्थाश्रमके पालनके लिये जरूरी हैं। भगव-जिजनसेनाचार्यने, आदिपुराणमें, इन सब आश्रमोंका क्रम इस प्रकार-से वर्णन किया है—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः ।

इत्याश्रमास्तु जैनानामुत्तरोत्तरशुद्धितः ॥३६-१५३॥

अर्थात्—ब्रह्मचारी, गृहस्थ वानप्रस्थ, और भिक्षुक ये जैनियों' के चार आश्रम उत्तरोत्तर शुद्धिको लिये हुए हैं।

इससे प्रकट है कि सब आश्रमोंसे पहला आश्रम 'ब्रह्मचारी आश्रम' रक्खा गया है। यह आश्रम, वास्तवमें, सब आश्रमोंकी नींव जमानेवाला है। जब तक इस आश्रमके द्वारा एक खास अवस्था तक पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए किसी योग्य गुरुके पास विद्याभ्यास नहीं किया जाता है, तब तक किसी भी आश्रमका ठीक तौरसे पालन नहीं हो सकता। इसके बिना वे सब आश्रम बिना नींवके मकानके समान अस्थिर और हानि पहुँचानेवाले होते हैं। इसलिये सबसे पहले बालक बालिकाओंको एक योग्य अवस्था तक पूर्ण ब्रह्मचर्यके साथ रखकर उनकी शिक्षा और शरीरसंगठनका पूरा प्रबन्ध करना चाहिए, और इसके बाद कही उनके विवाहका नाम लिया जाना चाहिए। यही माता-पिताका मुख्य कर्त्तव्य है।

वह 'योग्य अवस्था' बालकोंके लिये २० वर्ष और बालिकाओंके लिये १६ वर्षसे कम न होनी चाहिए। इससे पहले न वीर्य ही परिपक्व होता है और न विद्याभ्यास ही यथेष्ट बन पाता है। सारा ढाँचा कच्चा ही रह जाता है, जिससे आगे गृहस्थाश्रम-धर्म तथा समाज-

१ हिन्दुओंके यहाँ भी ये ही चार आश्रम इसी क्रमसे माने गये हैं:—

ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थो यतिस्तथा ।

एते गृहस्थप्रभवाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥ —मनुस्मृतिः

संगठनको बहुत बड़ी हानि पहुँचती है और स्त्री-पुरुषोंका जीवन भी नीरस तथा दुःखमय बन जाता है। शरीर-शास्त्रके वेत्ता आचार्य वाग्भट्ट लिखते हैं कि, 'पुरुषकी अवस्था पूरे २० वर्षकी और स्त्रीकी अवस्था पूरे १६ वर्षकी हो जाने पर गर्भाशय-मार्ग, रक्त, शुक्र (वीर्य), शरीरस्थ-वायु और हृदय शुद्ध हो जाते हैं—अपना कार्य यथेष्ट रीति-से करने लगते हैं—उस समय परस्पर जो मैथुन किया जाता है उससे बलवान् सन्तान उत्पन्न होती है; और इससे कम अवस्थाओंमें जो मैथुन किया जाता है उससे रोगी, अल्पायु या दीन-दुःखित और भ्राम्यहीन सन्तान पैदा होती है अथवा गर्भ ही नहीं रहता। यथा -

पूर्णषोडशवर्षा स्त्री पूर्णविंशेन सगता ।

शुद्धे गर्भाशये मार्गे रक्ते शुक्लेऽर्निले हृदि ॥

वीर्यबन्तं सुतं सूते ततो न्यूनाऽब्दयोः पुन ।

रोग्यल्पायुरधन्यो वा गर्भो भवति नैव वा ॥

इससे साफ जाहिर है कि 'पुरुषका २० वर्षसे और स्त्रीका १६ वर्षसे कम उम्रमें विवाह न होना चाहिए', ऐसा कम उम्रका विवाह बहुतही हानिकारक होता है और समाजके संगठनको बिगाड़ता है। छोटी उम्रमें विवाह करके बादको जो 'गौना' या 'द्विरागमन' की प्रथा है वह बिल्कुल विवाहके उद्देश्यको धात करनेवाली प्रथा है। सोते हुए सिंहको जगाकर उसे थपकी देनेके समान है। किसी भी माननीय प्राचीन जैनशास्त्रमें उसका उल्लेख या विधान नहीं है। उसके द्वारा व्यर्थ ही दो व्यक्तियोंका जीवन खतरमें (जोखममें) डाला जाता है। इसलिए बुद्धिमानोंके द्वारा यह प्रथा कदापि आदरणीय नहीं हो सकती।

उपसंहार

जो लोग विवाहके इन सब उद्देश्योंको न समझकर, शरीर-शास्त्रके वचनोंको न मानकर अपने बच्चोंका विवाह छोटी उम्रमें

करते हैं वे सिर्फ अपने बच्चोंका ही बुरा नहीं करते—उन्हींके जीवनको नहीं बिगाड़ते—; बल्कि समाजभरका अनिष्ट करते हैं, जगतमें अनेक आपत्तियोंको जन्म देते हैं, और इसलिये उन्हें 'जगतका शान्तिभग-कर्ता' समझना चाहिए। और इसीलिये सच्चे माता पिताओंका यह कर्तव्य होना चाहिए कि वे अपनी संतानके विवाहका नाम उस वक्त लेवे जबकि उसमें विवाहकी संपूर्ण योग्यताएँ आजायँ, जिससे वह विवाहके उद्देश्योंको पूरा करती हुई अपने जीवनको सरस और आनंदमय बना सके। इससे पहले उन्हें बराबर उसकी योग्यताओंको पूरा करनेकी—उसकी शारीरिक तथा मानसिक शक्तियोंको बढ़ानेकी—पूरी चेष्टा करते रहना चाहिए। साथ ही, यह भी समझ लेना चाहिए कि विवाह—जैसे महत्वके कार्यको एक 'खेल' या 'तमाशा' बनाना किसी प्रकार भी उचित नहीं है।

जो लोग विवाहकी संपूर्ण योग्यताओंको प्राप्त किये बिना ही विवाहित हो चुके हैं उनका, अपने लिये, इस समय यही खास कर्तव्य होना चाहिए कि वे प्रस्तुत 'विवाह-समुद्देश्य'को अच्छी तरहसे अध्ययन और मनन करके अपनी प्रवृत्तियोंको जहाँ तक बने, बिल्कुल इसके अनुकूल बना लेवे, अपना लक्ष्य ऊँचा रखे और उन दश कर्तव्योंका यथाशक्ति जरूर पालन करते रहे—उसमें कोई बात उठा न रखे—जो कुटुम्बोंको सुव्यवस्थित और बलाढ्य बनानेके लिये बतलाये गये हैं।

समाजके शुभ-चिन्तकोंको चाहिये कि वे प्रत्येक गृहस्थी और गृहस्थाश्रममें प्रवेशके इच्छुक व्यक्तियों—उसके उम्मीदवारों—तक इस विवाह-समुद्देश्यको पहुँचाएँ शिक्षा-संस्थाओंमें भरती कराएँ और समाजकी प्रवृत्तिको इसके अनुकूल बनानेका जी-जानसे यत्न करे। इसीमें समाजका हित संनिहित है और उसी हितको लक्ष्यमें लेकर यह निबन्ध लिखा गया है।

नौकरोसे पूजन कराना

जैनियोमे दिन पर दिन यह बात बढ़ती जाती है कि मदिरोमें पूजाके लिए नौकर रखे जाते है—श्वेताबर मंदिरोमें तो आमतौर पर अजैन ब्राह्मण इस कामके लिए नियुक्त किये जाते हैं और उन्ही-से जिनेन्द्र भगवान्का पूजन कराया जाता है। पुजारियोके लिए अब समाचारपत्रोमे खुले नोटिस भी आने लगे हैं। समझमें नहीं आता कि जो लोग मंदिर बनवाने, प्रतिष्ठा कराने रथयात्रा निकालने और मदिरोमें अनेक प्रकारकी सजावट आदिके सामान इकट्ठा करने मे हजारो और लाखों रुपये खर्च करते हैं वे फिर इतने भक्तिशून्य और अनुरागरहित क्यों हो जाते हैं, जो अपने पूज्यकी उपासना अर्थात् अपने करनेका काम नौकरोसे कराते हैं? क्या उनमे वस्तुतः अपने पूज्यके प्रति भक्तिका भाव ही नहीं होता और वे जो कुछ करते हैं वह सब लोकदिखावा, नुमायश, रूढिपालन और बाहरी बाहवाही लूटने तथा यशप्राप्तिके लिए ही होता है। कुछ भी हो, सच्चे जैनियोके लिए यह एक बड़े ही कलक और लज्जाकी बात है। लोकमे अपने अतिथियो तथा इष्टजनोकी सेवाके लिए नौकर जरूर नियुक्त किये जाते हैं, जिसका अभिप्राय और उद्देश्य होता है—अतिथियो तथा इष्टजनोको आराम और सुख पहुँचाना, उनकी प्रसन्नता प्राप्त करना और उन्हें अप्रसन्नचित्त न होने देना।

परन्तु यहाँ मामला इससे बिल्कुल ही बिलक्षण है । जिनेन्द्रदेवकी पूजासे जिनेन्द्र भगवान्‌को कुछ सुख या आराम पहुँचाना अभीष्ट नहीं होता—वे स्वतः अनतसुखस्वरूप हैं—और न इससे भगवान्‌की प्रसन्नता या अप्रसन्नताका ही कोई सम्बन्ध है । क्योंकि जिनेन्द्रदेव पूर्ण वीतरागी हैं—उनके आत्मामे राग या द्वेषका अश भी विद्यमान नहीं है—वे किसीकी स्तुति, पूजा तथा भक्तिसे प्रसन्न नहीं होते और न किसीकी निन्दा, अवज्ञा या कटुशब्दों पर अप्रसन्नता लाते हैं । उन्हें किसीकी पूजाकी जरूरत नहीं और न निन्दासे कोई प्रयोजन है । जैसा कि स्वामी समन्तभद्रके निम्न वाक्यसे प्रगत है—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विधान्तवैरे ।

तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्न पुनाति चित्तं दुरिताऽञ्जनैर्भ्यः ॥

—बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र

ऐसी हालतमे कोई वजह मालूम नहीं होती कि जब हमारा स्वयं पूजन करनेके लिए उत्साह नहीं होता तब वह पूजन क्यों किरायेके आदमियों-द्वारा संपादन कराया जाता है । क्या इस विषय-मे हमारे ऊपर किसीका दबाव और जबर है ? अथवा हमे किसीके कुपित हो जानेकी कोई आशका है ? यदि ऐसा कुछ भी नहीं है तो फिर यह व्यर्थका स्वाग क्यों रचा जाता है ? और यदि सचमुच ही पूजन न होनेसे जैनियोंको परमात्माके कुपित हो जानेका कोई भय लगा हुआ है और इसलिए जिस तिस प्रकारके पूजन-द्वारा खुशामद करके हिन्दू, मुसलमान और ईसाइयोंकी तरह परमात्माको राज़ी और प्रसन्न रखनेकी चेष्टा करते हैं तो समझना चाहिए कि वे वास्तवमे जैनी नहीं है, जैनियोंके वेषमे हिन्दू, मुसलमान या ईसाई हैं । उन्होंने परमात्माके स्वरूपको नहीं समझा और न वास्तवमें जैनधर्मके सिद्धांतोंको ही पहचाना है । ऐसे लोगोंको पिछले निबन्ध 'जिनपूजाधिकारमीमासा' मे 'पूजनसिद्धान्त' को पढ़ना और उसे अच्छी तरहसे समझना चाहिए । इसके सिवाय, यदि इस प्रकारके

(किरायेके) आदमियों-द्वारा पूजनकी गरज पुण्य-संपादन करना कही जाय तो वह भी निरी भूल है और उससे भी जैनधर्मके सिद्धान्तोंकी अनभिज्ञता पाई जाती है । जैन सिद्धान्तोंकी दृष्टिसे प्रत्येक प्राणी अपने शुभाऽशुभ भावोंके अनुसार पुण्य और पापका संचय करता है । ऐसा अघेर नहीं है कि शुभ भाव तो कोई करे और उसके फलस्वरूप पुण्यका सम्बन्ध किसी दूसरे ही व्यक्तिके साथ हो जाय । पूजनमें परमात्माके पुण्य-गुणोंके स्मरणसे आत्मामें जो पवित्रता आती और पापोंसे जो कुछ रक्षा होती है उसका लाभ उसी मनुष्यको हो सकता है जो पूजन-द्वारा परमात्माके पुण्य-गुणोंका स्मरण करता है । इसी बातको स्वामी समतभद्रने अपने उपर्युक्त पद्यके उत्तरार्धमें भले प्रकारसे सूचित किया है । इससे स्पष्ट है कि सेवक-द्वारा किये हुए पूजनका फल कभी उसके स्वामीको प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि वह उस पूजनमें परमात्माके पुण्यगुणोंका स्मरणकर्त्ता नहीं है । ऐसी हालतमें नौकरोसे पूजन कराना बिलकुल व्यर्थ है और वह अपने पूज्यके प्रति एक प्रकारसे अनादरका भाव भी प्रगट करता है । तब क्या होना चाहिए ? जैनियोंको स्वयं पूजन करना और पूजनके स्वरूपको समझना चाहिए । अपने पूज्यके प्रति आदर-सत्काररूप प्रवर्त्तनेका नाम पूजन है । उसके लिए अधिक आडम्बरकी जरूरत नहीं है । वह पूज्यके गुणोंमें अनुरागपूर्वक बहुत सीधा सादा और प्राकृतिक होना चाहिए । पूजनमें जितना ही अधिक बनावट, दिखावट और आडम्बरसे काम लिया जायगा उतना ही अधिक वह पूजनके सिद्धान्तसे गिर जायगा । जबसे जैनियोंमें बहुआडम्बरयुक्त पूजन प्रचलित हुआ है तभीसे उन्हें पूजा के लिये नौकर रखनेकी जरूरत पड़ी है । अन्यथा जिनेन्द्र भगवानकी सच्ची और प्राकृतिक पूजाके लिए किरायेके आदमियोंकी कुछ भी जरूरत नहीं है । जैनियोंके प्राचीन साहित्यकी जहाँतक खोज की जाती है, उससे भी यही मालूम होता है, कि पुराने जमानेमें जैनियोंमें वर्तमान-जैसा बहुआड-

म्बरयुक्त पूजन प्रचलित नहीं था। उस समय ग्रहन्तभक्ति, सिद्धभक्ति, आचार्यभक्ति और प्रवचनभक्ति आदि अनेक प्रकारकी भक्तियों-द्वारा, जिनके सस्कृत और प्राकृतके कुछ प्राचीन पाठ अब भी पाये जाते हैं, पूज्यकी पूजा और उपासना की जाती थी। श्रावक लोग मंदिरोंमें जाकर प्रायः जिनेन्द्रप्रतिमाके सम्मुख, खड़े होकर अथवा बैठकर, अनेक प्रकारके समझमें आने योग्य स्तोत्र पढ़ते तथा भक्तिपाठोंका उच्चारण करते थे और परमात्माके गुणोंका स्मरण करते हुए उनमें तल्लीन हो जाते थे। कभी कभी वे ध्यानमुद्रासे बैठकर परमात्माकी मूर्तिको अपने हृदयमन्दिरमें विराजमान करके नि शब्द-रूपसे गुणोंका चिन्तन करते हुए परमात्माकी उपासना किया करते थे। प्रायः यही सब उनका द्रव्य-पूजन था और यही भावपूजन। उस समयके जैन-आचार्य वचन और शरीरको अन्य व्यापारोंसे हटाकर उन्हें अपने पूज्यके प्रति, स्तुतिपाठ करने और अर्जुलि जोड़ने आदि रूपसे, एकाग्र करनेको 'द्रव्यपूजा' और उसी प्रकारसे मनके एकाग्र करनेको 'भावपूजा' मानते थे, जैसा कि श्रीअमृतगति आचार्यके निम्नलिखित वाक्यसे प्रगट है —

वचोविग्रहसंकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते ।

तत्र मानससंकोचो भावपूजा पुरातनै ॥ १२-१२ ॥

—उपासकाचार,

जबसे हिन्दुओंके प्राबल्यद्वारा जैनियों पर हिन्दूधर्मका प्रभाव पड़ा है और उन्होंने हिन्दुओंकी देखादेखी उनकी बहुतसी ऐसी बातोंको अपनेमें स्थान दिया है, जिनका जैनसिद्धान्तोंसे प्रायः कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, तभीसे जैनसमाजमें बहुआडम्बरयुक्त पूजनका प्रवेश प्रारम्भ हुआ है और उसने बढ़ते बढ़ते वर्तमानका रूप धारण किया है, जिसमें बिना पुजारियोंके नौकर रखे नहीं बीतती। आजकल इस पूजनमें भुक्तिको प्राप्त हुए जिनेन्द्र भगवानका आवाहन और विसर्जन भी किया जाता है। उन्हें कुछ मंत्र पढ़कर बुलाया, बिठलाया,

ठहराया और फिर नैवेद्यादिक अर्पण करनेके बाद रखसत किया जाता है—कहा जाता है कि महाराज ! अब आप अपने स्थान पर तशरीफ ले जाएँ और हमारा अपराध क्षमा कीजिए, क्योंकि हम लोग ठीक तौरसे आवाहन, पूजन और विसर्जन करना नहीं जानते । ज़रा सोचनेकी बात है कि, जैनधर्मसे इन सब क्रियाओंका क्या सम्बन्ध है ? जिनसिद्धान्तके अनुसार मुक्त तीर्थंकर अथवा जिनेंद्र भगवान किसीके बुलानेसे नहीं आते, न किसीके कहनेसे कहीं बैठते, ठहरते या नैवेद्यादिक ग्रहण करते हैं, और न किसीके रखसती (विसर्जनात्मक) शब्द उच्चारण करने पर वापिस ही चले जाते हैं । ऐसी हालतमें जैनधर्मसे इन आवाहन और विसर्जनसम्बन्धी क्रियाओंका कोई मेल नहीं है । वास्तवमें ये सब क्रियाये हिन्दूधर्मकी क्रियाये हैं । हिन्दुओंके यहाँ वेदोक्तमे देवताओंका आवाहन और विसर्जन पाया जाता है । वे लोग ऐसा मानते हैं कि देवता लोग बुलानेसे आते, बैठते, ठहरते और अपना यज्ञभाग ग्रहण करके, रखसत करने पर, वापिस चले जाते हैं । इससे हिन्दुओंके यहाँ आवाहन और विसर्जनका यह सब कथन ठीक बन जाता है । परन्तु जैनियोंकी ऐसी मान्यता नहीं है । इसीलिए जैनधर्मसे इनका मेल नहीं मिलता और ये सब क्रियाये बिल्कुल बेजोड़ मालूम होती हैं, इसी प्रकारकी, पूजन सम्बन्धमें और भी बहुतसी क्रियाये हैं जो हिन्दुओंसे उधार लेकर रक्खी गईं अथवा उनके संस्कारोंसे संस्कारित होकर पीछेसे बना ली गई हैं और जिन सबका जैनसिद्धान्तोंसे प्रायः कुछ भी मेल नहीं है । यहाँ इस छोटेसे लेख में उन सब पर विचार नहीं किया जा सकता और न इस समय उनके विचारका अवसर ही प्राप्त है । अवसर मिलने पर उन पर फिर कभी प्रकाश डाला जायगा । परन्तु इतना जरूर कहना होगा कि वर्तमानका पूजन इन्हीं सब क्रियाओंके कारण बिल्कुल अप्राकृतिक तथा आडम्बरयुक्त बन गया है और उससे जैनियोंकी आत्मीय प्रगति, एक प्रकारसे, रुक गई है । यदि सचमुच ही हमारे जैनी भाई अपने परमा-

त्माकी पूजा, भक्ति और उपासना करना चाहते हैं तो उन्हें सब आडम्बरोको छोड़कर पूजनकी अपनी वही पुरानी, प्राकृतिक और सीधी-सादी पद्धति जारी करनी चाहिए, जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है। ऐसा करनेपर पुजारियोंको नौकर रखनेकी भी फिर कुछ जरूरत नहीं रहेगी और आत्मोन्नति-सम्बन्धी वह सब लाभ अपनेको प्राप्त होने लगेगा, जिसको लक्ष्य करके ही मूर्तिपूजाका विधान किया गया है और जिसका परिचय पाठकोको, 'जिनपूजाधिकारमोमासा'के 'पूजन-सिद्धान्त' प्रकरणको पढ़नेसे भले प्रकार मिल सकता है। विपरीत इसके यदि जैनी लोग अपनी वर्तमान पूजनपद्धतिको न बदलनेके कारण नौकरोसे पूजन कराना जारी रखेंगे तो इसमें सदेह नहीं कि वह समय भी शीघ्र निकट आ जायगा जब उन्हें दर्शन, सामायिक, स्वाध्याय, तप, जप, शील, सयम, व्रत, नियम और उपवासादिक सभी धार्मिक कामोके लिये नौकर रखने या उन्हें सर्वथा छोड़ देनेकी जरूरत पड़ने लगेगी। और तब उनका धर्मसे बिल्कुल ही पतन हो जायगा। इसलिए जैनियोंको शीघ्र ही सावधान होकर अपनी वर्तमान पूजनपद्धतिमें आवश्यक सुधार करके उसे सिद्धान्तसम्मत बना लेना चाहिए। और नौकरोके-द्वारा पूजनकी प्रथाको एकदम उठा देना चाहिए। आशा है कि, समाजके नेता और विद्वान् लोग इस विषयकी ओर खास तौरसे ध्यान देंगे।

चारुदत्त सेठ का शिज्ञाप्रद उदाहरण

हरिवंशपुराणादि जैनकथा-ग्रन्थोमे चारुदत्त सेठकी एक प्रसिद्ध कथा है। यह सेठ जिस वेश्यापर आसक्त होकर वर्षों तक उसके घर पर, बिना किसी भोजनपानादि सबधी भेदके, एकत्र रहा था और जिसके कारण वह एक बार अपनी संपूर्ण धन संपत्तिको भी गँवा बैठ था उसका नाम 'वसंतसेना' था। इस वेश्याकी माताने, जिससमय धनाभावके कारण चारुदत्त सेठको अपने घरसे निकाल दिया और वह धनोपार्जन के लिये विदेश चला गया उस समय वसंतसेनाने, अपनी माताके बहुत कुछ कहने पर भी, दूसरे किसी धनिक पुरुषसे अपना सबध जोड़ना उचित नहीं समझा और तब वह अपनी माता-के घरका ही परित्याग कर चारुदत्तके पीछे उसके घर पर चली गई। चारुदत्तके कुटुम्बियोने भी वसंतसेनाको आश्रय देनेमे कोई आनाकानी नहीं की। वसंतसेनाने उनके समुदार आश्रयमें रहकर एक आर्थिकाके पाससे श्रावकके १२ व्रत ग्रहण किये, जिससे उसकी पूर्व परिणति पलटकर उच्च तथा धार्मिक बन गई, और वह बराबर चारुदत्तकी माता तथा स्त्रीकी सेवा करती हुई नि सकोच-भावसे उनके घर पर रहने लगी। जब चारुदत्त विपुल धनसम्पत्तिका स्वामी बनकर विदेशसे अपने घर पर वापिस आया और उसे वसंतसेनाके स्वगृह पर रहने आदि का हाल मालूम हुआ तब उसने बड़े हर्षके साथ वसंतसेना को अपनाया अर्थात्, उसे अपनी स्त्री रूपसे स्वीकृत किया। चारुदत्तके इस कृत्यपर-अर्थात्, एक वेश्या जैसी नीच स्त्रीको

खुल्लम खुल्ला घरमे डाल लेनेके अपराध पर उस समयकी जाति बिरादरीने चारुदत्तको जातिसे च्युत अथवा बिरादरीसे खारिज नही किया और न दूसरा ही उसके साथ कोई घृणाका व्यवहार किया गया । वह श्रीनेमिनाथ भगवानके चचा वसुदेवजी जैसे प्रतिष्ठित पुरुषोसे भी प्रशसित और सम्मानित रहा । और उसकी शुद्धता यहाँ तक बनी रही कि वह अन्तको उसके दिगम्बर मुनितक होनेमे भी कुछ बाधक न हो सकी । इस तरह पर एक कुटुम्ब तथा जाति-बिरादरीके सद्व्यवहारके कारण दो व्यसनासक्त व्यक्तियोंको अपने उद्धारका अवसर मिला ।

इस पुराने शास्त्रीय उदाहरणसे वे लोग कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते है जो अपने अनुदार विचारोके कारण जरा जरासी बात पर अपने जाति भाइयोको जातिसे च्युत करके—उनके धार्मिक अधिकारो-मे भी हस्तक्षेप करके—उन्हे सन्मार्गसे पीछे हटा रहे हैं और इस तरह अपनी जातीय तथा सघशक्तिको निर्बल एव नि सत्व बनाकर अपने ऊपर अनेक प्रकारकी विपत्तियोंको बुलानेके लिये कमर कसे हुए है । ऐसे लोगोको सघशक्तिका रहस्य जानना चाहिए और यह मालूम करना चाहिये कि धार्मिक और लौकिक प्रगति किस प्रकारसे हो सकती है । यदि उस समयकी जाति-बिरादरी उक्त दोनो व्यसनासक्त व्यक्तियोंको अपनेमे आश्रय न देकर उन्हे अपनेसे पृथक् कर देती, घृणाकी दृष्टिसे देखती और इस प्रकार उन्हे सुधरने का कोई अवसर न देती तो अन्तमे उक्त दोनो व्यक्तियोंका जो धार्मिक जीवन बना है वह कभी न बन सकता । अतः ऐसे अवसरोपर जाति-बिरादरीके लोगोको बहुत सोच समझकर, बड़ी दूरदृष्टिताके साथ काम करना चाहिए । यदि वे पतितोका स्वयं उद्धार नहीं कर सकते तो उन्हे कमसे कम पतितोके उद्धारमे बाधक न बनना चाहिये और न ऐसा अवसर ही देना चाहिये जिससे पतित जन और भी अधिक-ताके साथ पतित हो जायँ ।

वसुदेवका शिचाप्रद उदाहरण

श्रीनेमिनाथ तीर्थंकरके चचा और श्रीकृष्ण महाराजके पिता वसुदेवजी जैनसमाजमें एक सुप्रसिद्ध व्यक्ति हो गये हैं। हरिवंश-पुराणादि जैनकथाग्रन्थोंमें आपका विस्तारके साथ वर्णन दिया है। यहाँपर मैं आपके जीवनकी सिर्फ चार घटनाओंका उल्लेख करता हूँ, एक 'देवकीसे विवाह', दूसरी 'जरा नामकी भ्लेच्छ कन्यासे विवाह', तीसरी 'प्रियगुमुन्दरीसे विवाह, और चौथी घटना है 'रोहिणी का स्वयंवर'।

देवकीसे विवाह

देवकी राजा उग्रसेनके भाई देवसेन (देवक) की पुत्री, नृप भोज-कवृष्टिकी पौत्री और महाराजा सुवीरकी प्रपौत्री थी। वसुदेव राजा अन्धकवृष्टिके पुत्र और नृप-शूरके पौत्र थे। ये नृप 'शूर' और देवकी-के प्रपितामह 'सुवीर' दोनों सगे भाई थे। दोनोंके पिताका नाम 'चर-पति' और पितामह (बाबा) का नाम 'यदु' था। ऐसा श्रीजिनसेना-चर्याने अपने हरिवंशपुराणमें सूचित किया है और इससे यह प्रगट है कि राजा उग्रसेन, देवसेन और वसुदेवजी तीनों आपसमें चचा-ताऊ-जाने भाई लगते थे और इसलिये देवसेनकी लड़की 'देवकी' विशेषमें उग्रसेन तथा वसुदेवकी भतीजी (भातृजा) हुई। इस देवकीसे वसुदेवका

विवाह हुआ, जिससे स्पष्ट है कि इस विवाहमें मोक्ष तथा गोवकी शाखाओंका टालना तो दूर रहा, एक बंश और एक कुटुम्बका भी कुछ खयाल नहीं रखा गया । वसुदेवजीने गोत्रादि-सम्बन्धी इन सब बातोंको कुछ भी महत्व न देकर, बिना किसी सकोचके अपनी भतीजीके साथ विवाह कर लिया और उनका यह विवाह उस समय कुछ भी अनुचित नहीं समझा गया । इस विवाहसे अनेक सुप्रतिष्ठित और बहुमान्य पुत्ररत्नोंका उद्भव हुआ—देवकीने श्रीकृष्णको अतिरिक्त छह तद्भवमोक्षगामी पुत्रोंको भी जन्म दिया । यह तो हुई देवकीसे विवाहकी बात, अब जराकी विवाह-वार्ताको लीजिये ।

जरासे विवाह

जरा किसी म्लेच्छ राजाकी कन्या थी, जिसने गङ्गा तट पर वसुदेवजीको परिभ्रमण करते हुए देखकर उनके साथ अपनी इस कन्याका पाणिग्रहण कर दिया था । प० दौलतरामजीने, अपने हरि-वशपुराणमें, इस राजाको 'म्लेच्छखण्डका राजा' बतलाया है और प० गजाधरलालजी उसे 'मीलोंका राजा' सूचित करते हैं । वह राजा म्लेच्छखण्डका राजा हो या आर्य्यखण्डोद्भव म्लेच्छ राजा, और चाहे उसे भीलोका राजा कहिये, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वह आर्य्य तथा उच्चजातिका मनुष्य नहीं था । और इसलिये उसे अन्तर्ग्रन्थ या म्लेच्छ कहना भी अनुचित नहीं होगा । म्लेच्छोंका आचार आम-तौरपर 'हिसामें रति, मासभक्षणमें प्रीति और जबरदस्ती इससेकी धन-सम्पत्तिका हरना इत्यादिक' होता है, जैसा कि श्रीजिनसेनाचार्य-प्रणीत आदिपुराणके निम्नलिखित वाक्यसे प्रगट है—

म्लेच्छाचारो हि हिंसायां रतिर्मासाशुतेऽपि च ।

बलात्परस्वहरणं निर्द्धूतत्वमिति स्मृतम् ॥ ४२-१८४ ॥

वसुदेवजीने, यह सब कुछ जानबे हुए भी, बिना किसी किमत्क और स्कावटके बड़ी खुशीके साथ इस म्लेच्छ-राजाकी उक्त कन्यासे

विवाह किया और उनका यह विवाह भी उस समय कुछ अनुचित नहीं समझा गया। बल्कि उस समय और उससे पहले भी इस प्रकार-के विवाहोंका आम दस्तूर था। अच्छे अच्छे प्रतिष्ठित, उच्चकुलीन और उत्तमोत्तम पुरुषोंने म्लेच्छराजाओंकी कन्याओंसे विवाह किया, जिनके उदाहरणोंसे जैनसाहित्य परिपूर्ण है। अस्तु, इस विवाहसे वसुदेवजीके 'जरतकुमार' नामका एक पुत्र^१ उत्पन्न हुआ जो बड़ा ही प्रतापी, नीतिवान और प्रजाप्रिय राजा हो गया है और जिसने अन्त-को, राज-पाट छोड़कर, जैनमुनिदीक्षा तक धारण की थी। इसी राजाके वशमे 'जितशत्रु' नामका राजा हुआ, जिससे भगवान महावीर-के पिताकी छोटी बहिन ब्याही गई। अब प्रियगुसुन्दरीके विवाहको लीजिये।

प्रियगुसुन्दरीसे विवाह

प्रियगुसुन्दरीके पिताका नाम 'एणीपुत्र' था। यह एणीपुत्र ऋषि-दत्ता नामकी एक अविवाहिता तापसकन्यासे व्यभिचार-द्वारा उत्पन्न हुआ था। प्रसवसमय उक्त ऋषिदत्ताका देहान्त हो गया और वह मरकर देवी हुई, जिसने एणी अर्थात् हरिणीका रूप धारण करके जङ्गलमे अपने इस नवजात शिशुको स्तन्यपानादिसे पाला और पालपोषकर अन्तको शीलायुध राजाके सुपुर्द कर दिया। इस प्रियगु-सुन्दरीका पिता एणीपुत्र 'व्यभिचारजात' था, जिसको आजकलकी भाषामे 'दस्सा' या 'गाटा' भी कहना चाहिए। वसुदेवजीने विवाहके समय यह सब हाल जानकर भी इस विवाहको किसी प्रकारसे दूषित, अनुचित अथवा अशास्त्र-सम्मत^१ नहीं समझा और इसलिये उन्होंने बड़ी खुशीके साथ प्रियगुसुन्दरीका भी पाणिग्रहण किया।

१ शास्त्रोमे तो ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्यके लिये 'शूद्र' तककी कन्यासे विवाह करना भी उचित ठहराया है, यथा —

यद्यपि ये तीनों विवाह आजकलकी हवाके बहुत कुछ प्रतिकूल पाये जाते हैं तो भी, उस समय इन विवाहोंको करके वसुदेवजी जरा भी पतित नहीं हुए ।

पतित होना अथवा जातिसे च्युत किया जाना तो दूर रहा, तत्कालीन समाजने उन्हें घृणाकी दृष्टिसे भी नहीं देखा । इनकी कीर्ति और प्रतिष्ठामे इन विवाहोंसे जरा भी बढ़ा या कलङ्क नहीं लगा, बल्कि वह उल्टी वृद्धिगत हुई और यहाँ तक बनी रही कि उसके कारण आज तक भी अनेक ऋषि-मुनियो तथा विद्वानोंके द्वारा वसुदेवजीके पुण्य-चरित्रका चित्रण और यशोगान होता रहा । श्रीजिनसेनाचार्यने हरिवंशपुराणमे, वसुदेवजीकी कीर्तिका अनेक प्रकारसे कीर्तन कर उन्हें यदुवंशमे श्रेष्ठ, उदारचरित्र, शुद्धात्मा, स्वभावसे ही निर्मल-चित्तके धारक, अनन्य साधारण (जो औरोंमें न पाया जाय) विवेकसे युक्त और ऐसे महान धर्मज्ञ तथा तत्त्ववेत्ता प्रकट किया है कि जिनके मुनि और श्रावकधर्मसम्बन्धी उपदेशको सुनकर बहुतसे मिथ्यामती तापसियोने भी तत्काल ही अपना वह मिथ्यामत छोड़ दिया था और जैनधर्मका शरण लेकर उसके व्रतोंको ग्रहण किया था । श्रीजिनदास ब्रह्मचारी भी, अपने हरिवंशपुराणमें, वसुदेवजीका ऐसा ही यशोगान करते हैं और उन्हें 'महामति' आदिक लिखते हैं । साथ ही, उन्होंने बलभद्रके मुखसे श्रीकृष्णके प्रति जो वाक्य कहलाया है उससे मालूम होता है कि वसुदेवजीका सौभाग्य जगतमे विख्यात था और उनकी सत्कीर्तिका स्मरण और भूचर

शूद्रा शूद्रेण वोढव्या नान्या स्वा ता च नैगम ।

वहेत्स्वा ते च राजन्य स्वा द्विजन्मा क्वचिच्च ता ॥ १६-४७

—आदिपुराणे, जिनसेनः

'आनुलोम्येन चतुस्त्रिंशद्विंशकन्याभजना ब्राह्मण क्षत्रियविश ।'

—नीतिवाक्यामृते, सोमदेवः

सभी जन गान किया करते थे। वह वाक्य इस प्रकार है—

जगद्विख्यातसौभाग्यो वसुदेव पिता तव ।

गायते यस्य मत्कीर्त्तिं खेचरीभूचरीजनैः ॥

— १४-१४३

इन दोनों ग्रन्थोंके अवतरणोंसे ही इस बातका भले प्रकार पता चल जाता है कि वसुदेवजी कितने यशस्वी, विवेकी, प्रखर विद्वान् और धार्मिक पुरुष थे। ऐसी हालतमें उनके ये तीनों विवाह उस समयकी दृष्टिसे जरा भी हीन अथवा जघन्य नहीं समझे जा सकते। उन्हें अनुचित समझना ही अनुचित होगा। अस्तु, अब रोहिणीके स्वयंवरकी ओर चलिये।

रोहिणीका स्वयंवर

रोहिणी अरिष्टपुरके राजाकी लड़की और एक सुप्रतिष्ठित धरानेकी कन्या थी। इसके विवाहका स्वयंवर रचाया गया था, जिसमें जरासन्धादिक बड़े बड़े प्रतापी राजा दूर देशांतरोसे एकत्र हुए थे। स्वयंवरमंडपमें वसुदेवजी, किसी कारण-विशेषसे अपना वेष बदल कर, पणव' नामका वादित्र हाथमें लिए हुए एक ऐसे रक्क तथा अकुक्षीन बाजन्त्री (बाजा बजानेवाला) के रूपमें उपस्थित थे कि जिससे किसीको उस वक्त वहाँ उनके वास्तविक कुल जाति आदिका कुछ भी पता मालूम नहीं था। रोहिणीने सम्पूर्ण उपस्थित राजाऔर तथा राजकुमारोंको प्रत्यक्ष देखकर और उनके वंश तथा गुणादिका परिचय पाकर भी जब उनमेंसे किसीको भी अपने योग्य वर पसंद नहीं किया तब उसने, सब लोगोंको आश्चर्यमें डालते हुए, बड़े ही निःसंकोच भावसे उक्त बाजन्त्री रूपके धारक एक अपरिचित और अज्ञातकुल-जाति-नामा व्यक्ति (वसुदेव)के गलेमें ही अपनी वरमाला डाल दी। रोहिणीके इस कृत्य पर कुछ ईर्ष्या, मानी और मंदान्व राजा, अपना अपमान समझकर, कुपित हुए और रोहिणीके

पिता तथा वसुदेवसे लडनेके लिये तैयार हो गये । उस समय विवाहनीतिका उल्लंघन करनेके लिये उद्यमी हुए उन कुपितानन राजाओंको सम्बोधन करके, वसुदेवजीने बड़ी तेजस्विताके साथ जो वाक्य कहे थे उनमेंसे स्वयंवर-विवाहके नियमसूचक कुछ वाक्य इस प्रकार है —

कन्या वृणीते रुचितं स्वयंवरगता वर ।

कुलीनमकुलीनं वा क्रमो नास्ति स्वयंवरे ॥

—हरिवंश०११-७१

अर्थात् स्वयंवरको प्राप्त हुई कन्या उस वरको वरण (स्वीकार) करती है जो उसे पसंद होता है, चाहे वर कुलीन हो या अकुलीन । क्योंकि स्वयंवरमे इस प्रकारका — वरके कुलीन या अकुलीन होनेका — कोई नियम नहीं होता । ये वाक्य सकलकीर्ति आचार्य्यके शिष्य श्रीजिनदास ब्रह्मचारीने अपने हरिवंशपुराणमें उद्धृत किये हैं और श्रीजिनसेनाचार्य्यकृत हरिवंशपुराणमें भी प्रायः इसी आशयके वाक्य पाये जाते हैं । वसुदेवजीके इन वचनोसे उनकी उदार परिणति और नीतिज्ञताका अच्छा परिचय मिलता है, और साथ ही स्वयंवर-विवाहकी नीतिका भी बहुत कुछ अनुभव हो जाता है । वह स्वयंवर-विवाह, जिसमें वरके कुलीन या अकुलीन होनेका कोई नियम नहीं होता, वह विवाह है जिसे आदिपुराणमें श्रीजिनसेनाचार्य्यने 'सनातनमार्ग' लिखा है और सम्पूर्ण विवाह-विधानोमे सबसे अधिक श्रेष्ठ (वरिष्ठ) विधान प्रकट किया है । युगकी आदिमें सबसे पहले जब राजा अकर्मणके द्वारा इस (स्वयंवर) विवाहका अनुष्ठान हुआ था तब भरत चक्रवर्तीने भी इसका बहुत कुछ अभिनंदन किया था । साथ ही, उन्होने ऐसे सनातन मार्गोके पुनरुद्धारकर्त्ताओंको

१ सनातनोऽस्ति मार्गोऽयं श्रुतिस्मृतिषु भाषितः ।

विवाहविधिर्भेदेषु वरिष्ठो हि स्वयंवरः ॥ ४४-३२ ॥

सत्पुरुषों द्वारा पूज्य भी ठहराया था' । अस्तु, विवाहकी यह सनातन विधि भी आजकलकी हवाके प्रतिकूल पाई जाती है । आजकल इस प्रकारके विवाहोका प्रायः अभाव ही देखनेमें आता है, परन्तु आजकल कुछ ही होता रहे, उस समय वसुदेवजीका रोहिणी-के साथ इस स्वयंवर-विधि से बड़े आनन्दपूर्वक विवाह होगया और रोहिणीका एक बाजत्रीके गलेमें वरमाला डालना भी कुछ अनुचित नहीं समझा गया । इस विवाहसे वसुदेवजीको बलभद्र जैसे पुत्ररत्नकी प्राप्ति हुई ।

इन चारों घटनाओंको लिये हुए वसुदेवजीके इस एक पुराने बहुमान्य शास्त्रीय उदाहरणसे, और साथ ही वसुदेवजीके उक्त वचनोंको आदिपुराणके उपर्युक्त लिखित वाक्योंके साथ मिलाकर पढ़नेसे विवाह-विषय पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है और उसकी अनेक समस्याएँ खुद बखुद (स्वयमेव) हल हो जाती हैं । इस उदाहरणसे वे सब लोग बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं जो प्रचलित रीति-रिवाजोंको ब्रह्म-वाक्य तथा आप्त-वचन समझे हुए हैं, अथवा जो रूढ़ियोंके इतने भक्त हैं कि उन्हें गणितशास्त्रके नियमोंकी तरह अटल सिद्धान्त समझते हैं और इसलिए उनमें जरा भी फेर-फार करना जिन्हें रुचिकर नहीं होता, जो ऐसा करनेको धर्मके विरुद्ध चलना और जिनेन्द्र भगवानकी आज्ञाका उल्लंघन करना मान बैठे हैं, जिन्हें विवाहमें कुछ सख्याप्रमाण गोत्रोंके न बचाने तथा अपने वरोंसे भिन्न वरोंके साथ शादी करनेसे धर्मके डूब जाने-

१. तथा स्वयंवरस्येमे नाभूवन्त्यद्यकम्पना ।

क प्रवर्त्तयितान्योऽस्य मार्गस्यैष सनातन. ॥ ५४ ॥

मार्गश्चिरंतनान्येऽत्र भोगभूमितिरोहितान् ।

कुर्वन्ति नूतनान्सन्त. सद्भिः पूज्यास्त एव हि ॥ ५५ ॥

— आदिपु० पर्व ४५

का भय लगा हुआ है, इससे भी अधिक, जो एक ही धर्म और एक ही आचारके मानने तथा पालनेवाली अप्रवाल, खडेलवाल आदि समान जातियोमे भी परस्पर रोटी-बेटी व्यवहार एक करनेको अनुचित समझते है, पातक अथवा पतनकी शकासे जिनका हृदय सतप्त है और जो अपनी एक जातिमे भी आठ-आठ गोत्रो तकको टालनेके चक्करमे पड़े हुए है। ऐसे लोगोको वसुदेवजीका उक्त उदाहरण और उसके साथ विवाहसम्बन्धी वर्तमान रीति-रिवाजोका मिलान बतलायगा कि रीति-रिवाज कभी एक हालतमे नही रहा करते, वे सर्वज्ञ भगवानकी आज्ञाएँ और अटल सिद्धान्त नही होते, उनमे समयानुसार बराबर फेरफार और परिवर्तनकी जरूरत हुआ करती है। इसी जरूरतने वसुदेवजीके समय और वर्तमान समयमे जमीन-आसमानकासा अंतर डाल दिया है। यदि ऐसा न होता तो वसुदेवजीके समयके विवाहसम्बन्धी नियम-उपनियम इस समय भी स्थिर रहते और उसी उत्तम तथा पूज्य-दृष्टिसे देखे जाते जैसे कि वे उस समय देखे जाते थे। परन्तु ऐसा नही है और इसलिये कहना होगा कि वे सर्वज्ञ भगवानकी आज्ञाएँ अथवा अटल सिद्धान्त नही थे और न हो सकते है। दूसरे शब्दोमे यो कहना चाहिये कि यदि वर्तमान वैवाहिक रीतिरिवाजोको सर्वज्ञ-प्रणीत-सावदेशिक और सार्व-कालिक अटल सिद्धान्त माना जाय तो यह कहना पडेगा कि वसुदेव-जीने प्रतिकूल-आचरणद्वारा बहुत स्पष्टरूपसे सर्वज्ञकी आज्ञाका उल्लंघन किया। ऐसी हालतमे आचार्यों-द्वारा उनका यशोगान नही होना चाहिये था, वे पातकी समझे जाकर कलकित किये जानेके योग्य थे। परन्तु ऐसा नही हुआ और न होना चाहिये था, क्योंकि शारत्रो-द्वारा उस समयके मनुष्योकी प्रायः ऐसी ही प्रवृत्ति पाई जाती है, जिससे वसुदेवजी पर कोई कलक नही आसकता। तब क्या यह कहना होगा कि उस वक्तके वे रीति-रिवाज सर्वज्ञप्रणीत थे और आजकल-के सर्वज्ञप्रणीत अथवा जिनभाषित नही हैं? ऐसा कहने पर आजकल-

रीति-रिवाजोंको एकदम उठाकर उनके स्थानमें वही वसुदेवजीके समयके रीति-रिवाज कायम कर देना ही समुचित न होगा बल्कि साथ ही अपने उन सभी पूर्वजोंको कलकित और दोषी भी ठहराना होगा जिनके कारण वे पुराने (सर्वज्ञभाषित) रीति-रिवाज उठकर उनके स्थानमें वर्तमान रीति-रिवाज कायम हुए और फिर हम तर्क पहुँचे। परन्तु ऐसा कहना और ठहराना दुःसाहस-मात्र होगा। वह कभी इष्ट नहीं हो सकता और न युक्तियुक्त ही प्रतीत होता है। इसलिये यही कहना समुचित होगा कि उस वक्तके वे रीति-रिवाज भी सर्वज्ञ भाषित नहीं थे।

वास्तवमें गृहस्थोका धर्म दो प्रकारका वर्णन किया गया है, एक लौकिक और दूसरा पारलौकिक। लौकिक धर्म लोकाश्रय और पारलौकिक आगमाश्रय होता है*। 'विवाहकर्म गृहस्थोंके लिये एक लौकिक धर्म है और इसलिये वह लोकाश्रित है'—लौकिक जनोकी देशकालानुसार जो प्रवृत्ति होती है उसके आधीन है—लौकिक जनोकी प्रवृत्ति हमेशा एक रूपमें नहीं रहा करती। वह देशकालकी आवश्यकताओंके अनुसार, कभी पंचायतियोंके निर्णय द्वारा और कभी प्रगतिशील व्यक्तियोंके उदाहरणोंको लेकर, बराबर बदला करती है और इसलिये वह पूर्णरूपमें प्रायः कुछ समयके लिये ही स्थिर रहा करती है। यही वजह है कि भिन्न भिन्न देशों, समयों और जातियोंके विवाहविधानोंमें बहुत बड़ा अंतर पाया जाता है। एक समय था जब इसी भारतभूमि पर सगे भाई-बहन भी परस्पर स्त्री-पुरुष होकर रही करते थे और इतने पुरण्याधिकारी समझे जाते थे कि मरने पर उनके लिये नियमसे देवर्गातिका विधान किया गया है*। फिर वह

१. द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिक पारलौकिक ।

लौकात्म्यो अधिष्ठातृः परः स्यादात्म्याश्रयः ॥ —श्रीमदेव ।

२. यह कथन उस समयका है जब कि यही भोगभूमि प्रचलित थी ।

समय भी आया जब उसके प्रवृत्तिका निषेध किया गया और उसे अनुचित ठहराया गया। परन्तु उस समय गोत्र तो गोत्र एक कुटुम्ब-में विवाह होना, अपनेसे भिन्न वर्गके साथ शादीका किया जाना और शूद्र ही नहीं किन्तु म्नेच्छों तककी कन्याओंसे विवाह करना भी अनुचित नहीं माना गया। साथ ही मामा-फूफीकी कन्याओंसे विवाह करनेका तो आम दस्तूर रहा और वह एक प्रशस्त विधान समझा गया। इसके बाद समयके हेरफेरसे उक्त प्रवृत्तियोंका भी निषेध प्रारम्भ हुआ, उनमें भी दोष निकलने लगे-पापोंकी कल्पनायें होने लगी—और वे सब बदलते बदलते वर्तमानके ढांचेमें ढल गईं। इस असेमें सैकड़ों नवीन जातियों, उपजातियों और गोत्रोंकी कल्पना होकर विवाहक्षेत्र इतना सकीर्ण बन गया कि उसके कारण आजकलकी जनता बहुत कुछ हानि तथा कष्ट उठा रही है और सतिका अनुभव कर रही है—उसे यह मालूम होने लगा है कि कैसे कौसी समृद्धिशालिनी जातियाँ इन वर्तमान रीति-रिवाजोंके जंगुलमें फँसकर ससारसे अपना अस्तित्व उठा चुकी हैं और कितनी मृत्युशय्यापर पड़ी हुई हैं—इसीसे अब वर्तमान रीति-रिवाजोंके विरुद्ध भी आवाज उठनी शुरू हो गई है, समय उनका भी परिवर्तन चाहता है।

संक्षेपमें, यदि सम्पूर्ण जगतके भिन्न भिन्न देशों, समयों और जातियोंके कुछ थोड़े थोड़े ही उदाहरण एकत्र किये जायें तो विवाहविधानोंमें हजारों प्रकारके भेद उपभेद और परिवर्तन दृष्टि-गोचर होंगे और इस लिये कहना होगा कि यह सब समय-समयकी जरूरतों, देश-देशकी आवश्यकताओं और जातिके पारस्परिक व्यक्त-हारोका नतीजा है, अथवा इसे कालचक्रका प्रभाव कहना चाहिए। जो लोग कालचक्रकी गतिकों न समझकर एक ही स्थान पर खड़े रहते हैं और अपनी पोजीशन (Position)की नहीं बदलते, स्थिति-की नहीं सुधारते, वे नि-सन्देह कालचक्रके आघातसे पीड़ित होते और कुचले जाते हैं। अथवा संसारसे उनकी सत्ता उठ जाती है। इससे सब

कथनसे अथवा इतने ही सकेतसे लोकाश्रित (लौकिक) धर्मोंका बहुत कुछ रहस्य समझमे आ जाता है । साथ ही यह मासूम हो जाता है कि वे कितने परिवर्तनशील हुआ करते हैं । ऐसी हालतमे विवाह-जैसे लौकिक धर्मों और सासारिक व्यवहारोके लिये किसी आगमका आश्रय लेना, अर्थात् यह ढूँढ-खोज लगाना कि आगममे किस प्रकारसे विवाह करना लिखा है, बिल्कुल व्यर्थ है । कहा भी है-
 “संसारव्यवहारे तु स्वतः सिद्धे वृथागमः १।” अर्थात्, संसार-व्यवहार-के स्वतः सिद्ध होनेसे उसके लिये ‘आगमकी जरूरत नहीं । वस्तुतः आगम ग्रन्थोमे इस प्रकारके लौकिक धर्मों और लोकाश्रित विधानो-का कोई क्रम निर्धारित नहीं होता । वे सब लोकप्रवृत्ति पर अवलम्बित रहते हैं । हाँ, कुछ त्रिवर्णाचार-जैसे अनार्य ग्रन्थोमे विवाह-विधानोका वर्णन जरूर पाया जाता है । परन्तु वे आगमग्रन्थ नहीं हैं । उन्हें आप्त भगवानके वचन नहीं कह सकते और न वे आप्त-वचनानुसार लिखे गये हैं, इतने पर भी कुछ ग्रन्थ तो उनमेसे बिल्कुल ही जाली और बनावटी हैं, जैसा कि ‘जिनसेनत्रिवर्णाचार’ और ‘भद्रबाहुसहिता’ के परीक्षालेखोसे प्रगट है २ । वास्तवमे ये सब ग्रन्थ एक प्रकारके लौकिक ग्रन्थ हैं । इनमे प्रकृत विषयके वर्णनको तात्कालिक और तद्देशीय रीति रिवाजोका उल्लेखमात्र समझना चाहिये अथवा यो कहना चाहिये कि ग्रन्थकर्ताओको समाजमे उस प्रकारके रीतिरिवाजोको प्रचलित करना इष्ट था । इससे अधिक उन्हें और कुछ भी महत्त्व नहीं दिया जा सकता । वे आजकल प्रायः इतने ही कामके हैं । एकदेशीय, लौकिक और सामयिक ग्रन्थ होने-

१ यह श्रीसोमदेव आचार्यका वचन है ।

२. ये सब लेख ‘ग्रन्थपरीक्षा’ नामसे पहले ‘जैनहिन्दी’ पत्रमे प्रकाशित हुए थे और अब कुछ समयसे अलग पुस्तकाकारमे भी छप गये हैं ।

से उनका शासन सार्वदेशिक और सार्वकालिक नहीं हो सकता । अर्थात्—सर्व-देशों और सर्व-समयोंके मनुष्योंके लिये वे समान रूपसे उपयोगी नहीं हो सकते । और इसलिए केवल उनके आधार पर चलना कभी युक्ति-सङ्गत नहीं कहला सकता । विवाह-विषयमे आगम-का मूलविधान सिर्फ इतना ही पाया जाता है कि वह गृहस्थधर्मका वर्णन करते हुए गृहस्थके लिये आमतौर पर गृहिणीकी अर्थात् एक स्त्रीकी जरूरत प्रकट करता है । वह स्त्री कैसी, किस वर्णकी, किस जातिकी, किन किन सम्बन्धोंसे युक्त तथा रहित और किस गोत्रकी होनी चाहिए अथवा किस तरह पर और किस प्रकारके विधानोंके साथ विवाह कर लानी चाहिये इन सब बातोंमे आगम प्राय कुछ भी हस्तक्षेप नहीं करता । ये सब विधान लोकाश्रित हैं आगमसे इनका प्राय कोई सम्बन्ध-विशेष नहीं है । यह दूसरी बात है कि आगममे किसी घटना-विशेषका उल्लेख करते हुए उनका उल्लेख आ जाय और तात्कालिक दृष्टिसे उन्हें अच्छा या बुरा भी बतला दिया जाय, परन्तु इससे वे कोई सार्वदेशिक और सार्वकालिक अटल सिद्धान्त नहीं बन जाते—अर्थात् ऐसे कोई नियम नहीं हो जाते कि जिनके अनुसार चलना सर्व देशों और सर्व-समयोंके मनुष्योंके लिये बराबर जरूरी और हितकारी हो । हाँ, इतना जरूर है कि आगम-की दृष्टिमे सिर्फ वे ही लौकिक विधियाँ अच्छी और प्रामाणिक समझी जा सकती हैं जो जैन सिद्धान्तोंके विरुद्ध न हो, अथवा जिनके कारण जैनियोंकी श्रद्धा (सम्यक्त्व) मे बाधा न पड़ती हो और न उनके व्रतोंमे ही कोई दूषण लगता हो । इस दृष्टिको सुरक्षित रखते हुए जैनी लोग प्राय सभी लौकिक विधियोंको खुशीसे स्वीकार कर सकते हैं और अपने वर्तमान रीति-रिवाजोंमे देशकालानुसार यथेष्ट परिवर्तन कर सकते हैं^१ । उनके लिये इसमें कोई

१. सर्व एव हि जैनाना प्रमाणं लौकिको विधिः ।

यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥ —सोमदेव

वाचक नहीं है। अस्तु; इस सम्पूर्ण विवेचनसे प्राचीन और अर्वाचीन-कालोंके विवाह-विधानोंकी विभिन्नता, उनका देश-कालानुसार परिवर्तन और लौकिक धर्मोंका रहस्य इन सब बातोंका बहुत कुछ अनुसंग प्राप्त हो सकता है, और साथ ही यह भले प्रकार समझमें आ सकता है कि वर्तमान रीति-रिवाज कोई सर्वज्ञभाषित ऐसे अदल सिद्धान्त नहीं हैं कि जिनका परिवर्तन न हो सके अथवा जिनमें कुछ फेरफार करनेसे धर्मके दूब जानेका कोई भय हो। हम अपने सिद्धान्तोंका विरोध न करते हुए, देश-काल और जातिकी आवश्यकताओंके अनुसार उन्हें हर वक्त बदल सकते हैं। वे सब हमारे ही कानून किये हुये नियम हैं और इसलिए हमें उनके बदलनेका स्वतन्त्र अधिकार प्राप्त है। इन्हीं सब बातोंको लेकर एक शास्त्रीय उदाहरण-के रूपमें यह निबन्ध लिखा गया है। आशा है कि हमारे जैनी भाई इससे जरूर कुछ शिक्षा ग्रहण करेंगे और विवाहसत्त्वको समझ कर, जिसके समझनेके लिये 'विवाह-समुद्देश्य' नामक निबन्ध भी साथमें पढ़ना विशेष उपयोगी होगा, अपने वर्तमान रीति-रिवाजोंमें यथोचित फेरफार करनेके लिये समर्थ होंगे। और इस तरह कालचक्रके आघातसे बचकर अपनी सत्ताको चिरकाल तक यथेष्ट रीतिसे बनाये रखेंगे।

उपासना-तत्त्व

स्थिति और जरूरत

हमारी धार्मिक शिक्षा 'उपासना' से प्रारम्भ होती है। पूजा, भक्ति और आराधना ये सब उपासनाके ही नामान्तर हैं। यही धर्म की पहली सीढ़ी है जिसका हमें बचपनसे ही अभ्यास कराया जाता है। वच्चा बोलना भी प्रारम्भ नहीं करता कि उसे जिनमंदिर आदिमें ले जाकर, मूर्ति आदिके सामने उसके हाथ जुड़वा कर तथा मस्तक नमस्कार उसे उपासनाका एक पाठ पढ़ाया जाता है, और ज्यों ही वह बोलने लगता है त्यों ही उससे इष्ट देवताओंके नामोंका उच्चारण—'ॐ' 'जय' आदि शब्दोंका उच्चारण—कराया जाता है, 'शमो भरहताण, ' 'शमोन्धुण' आदिके पाठ सिखलाए जाते हैं और, जितना शीघ्र बन सके उतना ही शीघ्र परमात्माकी कुछ स्तुतियाँ भी उसे ग्राह कराई जाती है। बच्चा, अपनी अज्ञान दशामें, यदि मूर्तिको एक खिलौना समझकर उसके लेनेके लिये हाथ पस-रता है, जिद्द करता है, उसे 'माई' कहकर पुकारता है, उसको चूँच हुआ नैवेद्य उठाकर खाने लगता है अथवा उसके सामने पीठ देकर खड़ा हो जाता या बैठ जाता है तो उसकी इस प्रकारकी लतोंका निषेध किया जाता है और कुछ गम्भीर स्वरोंके साथ कहा जाता है

कि “नहीं, खबरदार ! ऐसा नहीं किया करते, ये भगवान है, इनके आगे हाथ जोड़ो ।” साथ ही, उसे प्रतिदिन भगवानके दर्शनादिकके लिये मंदिरमें जाने और किसी स्तुति-पाठादिकका उच्चारण करनेकी प्रेरणा भी की जाती है। इस तरह शुरूसे ही परमात्माकी पूजा, भक्ति, उपासना और आराधनाके सस्कार हमारे अन्दर डाले जाते हैं। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी, समाजमें, ऐसे बहुत ही कम व्यक्ति निकलेंगे जो उपासनाके तत्त्वको अच्छी तरहसे जानते और समझते हों। उन्हें यह बात प्रायः सिखलाई ही नहीं जाती। अधिकांश माता-पिता स्वयं इस तत्त्वसे अनभिज्ञ हैं—वे खुद ही अपनी क्रियाओंका रहस्य नहीं जानते अथवा कुछका कुछ जानते हैं—और इसलिये उनकी समझमें जो बात जिस तरह पर कुलपरम्परासे चली आई होती है उसे वे अपने बच्चोंके गले उतार देते हैं—उन्हें रटा देते अथवा सिखला देते हैं। इससे अधिक शायद वे अपना और कुछ कर्तव्य नहीं समझते। नतीजा इसका यह होता है कि हमारे अधिकांश भाई नित्य मंदिरमें जरूर जाते हैं, भगवानका दर्शन और पूजन करते हैं, स्तुतियाँ पढ़ते हैं, संस्कृत-प्राकृतके भी अनेक स्तोत्रोंका पाठ किया करते हैं, तीर्थयात्राको निकलते हैं, और भक्ति तथा उपासनाके नामपर और भी बहुतसे काम तथा विधि-विधान करते हुए देखे जाते हैं, परन्तु उन्हें प्रायः यह खबर नहीं होती कि यह सब कुछ क्यों किया जाता है, किसके लिये किया जाता है, क्या जरूरत है, इसका मूल उद्देश्य क्या है, हमारी इन क्रियाओंसे वह उद्देश्य पूरा होता है या नहीं और यदि नहीं होता तो हमें फिर किस प्रकारसे वर्तना चाहिये, इत्यादि। हाँ, वे इतना जरूर जानते हैं कि ये सब धर्मके काम हैं, पहलेसे होते आए हैं और इनके द्वारा पुण्योपार्जन किया जाता है। परन्तु धर्मके काम क्योंकर हैं, किस तरह होते आए हैं और इनके द्वारा कैसे पुण्यका उपार्जन किया जाता है, इन सब बातोंकी उन्हें जाँच नहीं होती और न वे इस जाँचकी कुछ जरूरत ही

समझते हैं। उनका सम्पूर्ण आचरण, इस विषयमें, प्रायः लोक-रीति-का (रूढियोंका) अनुसरण करनेवाला, एक दूसरेकी देखादेखी और ज्यादातर लौकिक प्रयोजनोंको लिये हुए होता है। उपास्य और उपासनाके स्वरूपपर उनकी दृष्टि ही नहीं होती और न वे उपासना-के विधि-विधानोमें कभी कोई भेद उपस्थित होने पर सहजमें उसका आपसी (पारस्परिक) समझौता कर सकते हैं। उन्हें अपनी चिरप्रवृत्तिके विरुद्ध जरासा भी भेद असह्य हो उठता है और उसके कारण वे अपने भाइयोसे ही लड़ने-मरने तकको तैयार हो जाते हैं। ऐसे स्त्री-पुरुषोंके द्वारा समाजमें सूखा क्रियाकांड बढ़ जाता है, यान्त्रिक चारित्रकी—जड़ मशीनो जैसे आचरणकी—वृद्धि हो जाती है और भावशून्य क्रियाएँ फैल जाती हैं। ऐसी हालतमें उपासना उपासना नहीं रहती और न भक्तिको भक्ति ही कह सकते हैं। ऐसी प्राणरहित, उपासनासे यथेष्ट फलकी कुछ भी प्राप्ति नहीं हो सकती। श्रीकुमुदचन्द्राचार्यने अपने 'कल्याणमन्दिर' स्तोत्रमें ठीक लिखा है —

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या ।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव दुःखपात्रं,
यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्या ॥

अर्थात्—हे लोकबन्धु जिनेन्द्रदेव ! जन्मजन्मान्तरोमें मैंने आपको चरित्र सुना है, पूजन किया है और दर्शन भी किया है, यह सब कुछ किया परन्तु भक्तिपूर्वक कभी आपको अपने हृदयमें धारण नहीं किया^१। नतीजा जिसका यह हुआ कि मैं अब तक इस ससारमें

१ जिनेन्द्र भगवान्को भक्तिपूर्वक हृदयमें धारण करनेसे जीवोंके दृढ़ कर्मबन्धन इस प्रकार ढीले पड़ जाते हैं जिस प्रकार कि चन्दनके वृक्ष पर मोरके आनेसे उस वृक्षको लिपटे हुए साँप। अर्थात् मोरके सामीप्यसे जैसे सर्प घबराते हैं वैसे ही जिनेन्द्रके हृदयस्थ होने पर कर्म काँपते हैं,

दुःखोका ही पात्र रहा—मुझे दुःखोसे छुटकारा ही न मिला—क्योंकि भावब्रह्म क्रियाएँ फलदायक नहीं होती ।

एक दूसरे आचार्य लिखते हैं कि, बिना भावके पूजा आदिका करना, तप तपना, दान देना, जाप्य जपना,—माला फेरना—और यहाँ तक कि दीक्षादिक धारण करना भी ऐसा निरर्थक होता है जैसा कि बकरीके गलेका स्तन । अर्थात् जिस प्रकार बकरीके गलेमे लटकते हुए स्तन देखनेमें स्तनाकार होते हैं परन्तु वे स्तनोका कुछ भी काम नहीं देते—उनसे दूध नहीं निकलता—उसी प्रकार बिना भावकी पूजादि क्रियाएँ भी देखने-ही-की क्रियाएँ होती हैं, पूजादिका वास्तविक फल उनसे कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता । यथा —

भावहीनस्य पूजादितपोदानजपादिकम् ।

व्यर्थं दीक्षादिकं च स्यादजाकठे स्तनाविव ॥

इससे स्पष्ट है कि हमारी उपासनासम्बन्धी क्रियाओंमे भावकी बड़ी जरूरत है—भाव ही उनका जीवन और भाव ही उनका प्राण है बिना भावके उन्हें निरर्थक और निष्फल समझना चाहिये । परन्तु यह भाव उपासना-तत्त्वको समझे बिना कैसे पैदा हो सकता है ? अतः अपनेमे इस भावको उत्पन्न करके अपनी क्रियाओंको सार्थक बनानेके लिये जैनियोको, आमतौर पर, अपना उपासना-तत्त्व समझने और समझकर तदनुकूल वर्तनेकी बहुत बड़ी जरूरत है । इसी

क्योंकि जिनेन्द्र कर्मोंका नाश करनेवाले हैं । उन्होंने अपने आत्मासे कर्मोंको निर्मूल कर दिया है । इसी आशयको आचार्य कुमुदचन्द्रने निम्नलिखित पद्यमे प्रगट किया है —

हृद्वर्तिनि त्वयि विभो शिथिलीभवन्ति,
जन्तो क्षणेन निविडा अपि कर्मबन्धा ।

सद्यो भुजगममया इव मध्यभाग-

मभ्यागते वनशिखडिनि चदनस्य ॥

—कल्याणमदिर

जरूरतको ध्यानमें रखकर आज इस निबध द्वारा, संक्षेपमें, उपासना-तत्त्वको समझानेका यत्न किया जाता है। इससे हमारे वे अज्ञेन बन्धु भी जरूर कुछ लाभ उठा सकेंगे जिन्हें जैनियोंके उपासना-तत्त्वको जाननेकी आकांक्षा रहती है, अथवा जैनसिद्धान्तोंकी अनभिज्ञताके कारण जिनके हृदयमें कभी कभी यह प्रश्न उपस्थित हुआ करता है कि, जब जैन लोग किसी ईश्वर या परमात्माको जगत्का कर्ता-हर्ता नहीं मानते और न उसकी प्रसन्नता या अप्रसन्नतासे किसी लाभ तथा हानिका होना स्वीकार करते हैं तो फिर वे परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना क्यों करते हैं और उन्होंने उससे क्या लाभ समझ रक्खा है ? इस प्रश्नका समाधान भी स्वतः नीचेकी पंक्तियों-से हो जायगा —

सिद्धान्त और उद्देश्य

जैनधर्मका यह सिद्धान्त है कि यह आत्मा जो अनादि कर्ममलसे मलिन हो रहा है—अपने स्वरूपको भुलाकर विभावपरिणतिरूप परिणाम रहा है—वही उन्नति करते करते कर्ममलको दूर करके परमात्मा बन जाता है। आत्मासे भिन्न कोई एक ईश्वर या परमात्मा नहीं है—आत्माकी परमविशुद्ध अवस्थाका नाम ही परमात्मा है। अर्हंत, जिनेन्द्र, जिनदेव, तीर्थंकर, सिद्ध, सार्व, सर्वज्ञ, वीतराग, परमेष्ठी, परज्योति, शुद्ध, बुद्ध, निरजन, निर्विकार, आप्त, ईश्वर, परब्रह्म इत्यादि सब उसी परमात्मा या परमात्मपदके नामान्तर हैं अथवा दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि, परमात्मा आत्मीय अनंत गुणोंका समुदाय है, अनंत गुणोंकी अपेक्षा उसके अनंत नाम हैं, वह परमात्मा परम वीतरागी और शान्तस्वरूप है, उसका किसीसे राग या द्वेष नहीं है, किसीकी स्तुति, भक्ति और पूजासे वह प्रसन्न नहीं होता और न किसीकी निन्दा, अवज्ञा या कटु शब्दोंपर अप्रसन्नता लाता है, धनिक श्रीमानों, विद्वानों और उच्च श्रेणी या बर्णके मनु-

ध्योंको वह प्रेमकी दृष्टिसे नहीं देखता और न निर्धन-कगालो, मूर्खों तथा निम्नश्रेणीके मनुष्योंको घृणाकी दृष्टिसे अवलोकन करता है, न सम्यग्दृष्टि उसके कृपापात्र हैं और न मिथ्यादृष्टि उसके कोपभाजन, वह परमानन्दमय और कृतकृत्य है, सासारिक भगडोसे उसका कोई प्रयोजन नहीं। इसलिये जैनियोंकी उपासना, भक्ति और पूजा, हिन्दुओं, मुसलमानों तथा ईसाइयोंकी तरह, परमात्माको प्रसन्न करनेके लिये नहीं होती। उसका कुछ दूसरा ही उद्देश्य है जिसके कारण वे (समझदार जैनी) ऐसा करना अपना कर्तव्य समझते हैं और वह सक्षिप्तरूपसे यो है कि —

यह जीवात्मा स्वभावसे ही अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, और अनन्तवीर्यादि अनन्त शक्तियोंका आधार है। परन्तु अनादि कर्ममलसे मलिन होनेके कारण इसकी वे समस्त शक्तियाँ आच्छादित हैं—कर्मोंके पटलसे वेष्टित हैं—और यह आत्मा ससारमें इतना लिप्त और मोहजालमें इतना फँसा हुआ है कि उन शक्तियोंका विकास होना तो दूर रहा, उनका स्मरण तक भी इसको नहीं होता। कर्मके किञ्चित् क्षयोपशमसे जो कुछ थोड़ा बहुत ज्ञानादि-लाभ होता है, यह जीव उतनेहीमें सतुष्ट होकर उसीको अपना स्वरूप मानने लगता है। इन्हीं संसारी जीवोंमेंसे जो जीव, अपनी आत्मनिधिकी सुधि पाकर धातुभेदीके सदृश प्रशस्त ध्यानाग्निके बलसे समस्त कर्ममलको दूर कर देता है उससे आत्माकी वे सम्पूर्ण स्वाभाविक शक्तियाँ सर्वतो-भावसे विकसित हो जाती हैं और तब वह आत्मा स्वच्छ तथा निर्मल होकर परमात्मदशाको प्राप्त हो जाता है और परमात्मा कहलाता है^१। केवलज्ञान (सर्वज्ञता) की प्राप्ति होनेके पश्चात् जब तक देहका

-
१. ध्यानाज्जिनेश भवतो भविन, क्षणेन,
देहं बिहाय परमात्मदशा व्रजन्ति ।
तीव्रानलादुपलभावमपास्य लोके,

सम्बन्ध बाकी रहता है तब तक परमात्माको सकलपरमात्मा, जीव-
न्मुक्त तथा अर्हंत कहते हैं और जब देहका सम्बन्ध भी छूट जाता है
और मुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है तब वही सकलपरमात्मा निष्कल-
परमात्मा, विदेहमुक्त और सिद्ध नामोंसे विभूषित होता है। इस
प्रकार अवस्थाभेदसे परमात्माके दो भेद कहे जाते हैं। यह परमात्मा
अपनी जीवन्मुक्तावस्थामें अपनी दिव्य-वाणीके द्वारा, संसारी जीवों-
को उनके आत्माका स्वरूप और उसकी प्राप्तिका उपाय बतलाता
है—अर्थात्, उनकी आत्मनिधि क्या है, कहाँ है, किस किस प्रकारके
कर्मपटलोसे आच्छादित है, कैसे कैसे उपायोंसे वे कर्मपटल इस
आत्मासे जुड़े हो सकते हैं, संसारके अन्य समस्त पदार्थोंसे इस आत्मा-
का क्या संबंध है, दुःखका, सुखका और संसारका स्वरूप क्या है,
कैसे दुःखकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति हो सकती है, इत्यादि
समस्त बातोंका विस्तारके साथ सम्यक् प्रकार निरूपण करता है—
जिससे अनादि अविद्याग्रसित संसारी जीवोंको अपने कल्याणका मार्ग
सूझता है और अपना हित-साधन करनेमें उनकी प्रवृत्ति होती है^१।
इस प्रकार परमात्माके द्वारा जगत्का नि सीम (बेहद) उपकार होता
है। इसी कारण परमात्माके सार्व, परमहितोपदेशक, परमहितैषी
और निर्निमित्तबन्धु इत्यादि भी नाम कहे जाते हैं। इस महोपकारके
बदलेमें हम (संसार जीव) परमात्माके प्रति जितना आदर-सत्कार
प्रदर्शित करें और जो कुछ भी कृतज्ञता बतलाएँ वह सब तुच्छ है।
जो सज्जन अथवा साधुजन होते हैं वे अपने उपकारीके उपकारको
कभी नहीं भूलते, बराबर उसका स्मरण रखते हैं और इस उपकार-

चामीकरत्वमचिरादिव धातुभेदा ।—कल्याणमदिर ।

मिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृश ।

वर्तिर्दीपं यथोपास्य मिन्ना भवति तादृशी ॥—समाधितत्र ।

१ श्रेयोमार्गस्य संसिद्धि प्रसादात्परमेष्ठिनः ।—आप्तपरीक्षा ।

स्मृतिके चिह्नस्वरूप अनेक प्रकारसे अपने उपकारीके प्रति अपना आदर-सत्कार व्यक्त किया करते हैं, जैसा कि श्लोकवातिकमें, श्रीम-द्विज्ञानंदस्वामी द्वारा, परमात्माकी उपासनाके समर्थनमें, उद्धृत किये हुए निम्नलिखित एक प्राचीन पद्यसे प्रकट है —

अभिमतफलसिद्धेरभ्युपाय सुबोध

प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात् ।

इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादात्प्रबुद्धे-

र्न हि कृतमुपकार साधवो विस्मरन्ति ॥

इस पद्यमें यह बतलाया गया है कि, 'मनोवांछित फलकी सिद्धि-का उपाय सम्यग्ज्ञान है, सम्यग्ज्ञानकी उपलब्धि शास्त्रके द्वारा होती है और शास्त्रकी उत्पत्ति आप्त भगवान्से है, इसलिये वे आप्तभगवान् (परमात्मा) जिनके प्रसादसे प्रबुद्धताकी प्राप्ति होकर अभिमत फलकी सिद्धि होती है, सतजनोके द्वारा पूज्य ठहरते हैं। सच है, साधुजन किसीके किये हुए उपकारको कभी भूलते नहीं हैं।'

इससे जो लोग दूसरोके किये हुए उपकारको भुला देते हैं उन्हें असाधु तथा असज्जन समझना चाहिये। लोकमें भी उन्हें कृतघ्नी, अहसानफरामोश और गुणमेट आदि बुरे नामोंसे पुकारा जाता है। ऐसे लोग, जबतक उनकी यह दशा कायम रहती है, कभी उन्नति नहीं कर सकते और न आत्मलाभके सम्मुख हो सकते हैं। इसलिये अपने महोपकारी परमात्माके प्रति आदर-सत्कार रूपसे प्रवर्तित होना हमारा खास कर्तव्य है।

दूसरे, जब आत्माकी परम स्वच्छ और निर्मल अवस्थाका नाम ही परमात्मा है और उस अवस्थाको प्राप्त करना—अर्थात्, परमात्मा बनना—सब आत्माओंका अभीष्ट है, तब आत्मस्वरूपकी या दूसरे शब्दोंमें परमात्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिये परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना करना हमारा परम कर्तव्य है। परमात्माका ध्यान, परमात्माके अलौकिक चरित्रका विचार और परमात्माकी ध्यानावस्थाका

चिन्तवन ही हमको अपनी आत्माकी याद दिलाता है—अपनी भूली हुई निधिकी स्मृति कराता है—उसीसे आत्माको यह मालूम पड़ता है कि मैं कौन हूँ (को वाऽह) और मेरी आत्मशक्ति क्या है (का च मे शक्ति) । परमात्मस्वरूपकी भावना ही आत्मस्वरूपकी उपलब्धि तथा स्थितिका कारण है^१ । परमात्माका भजन और स्तवन ही हमारे लिये अपने आत्माका अनुभवन है । आत्मोन्नतिमें अग्रसर होनेके लिये परमात्मा ही हमारा आदर्श है । आत्मीय गुणोंकी प्राप्तिके लिये हम उसी आदर्शको अपने सन्मुख रखकर अपने चरित्रका गठन करते हैं । अपने आदर्श पुरुषके गुणोंमें भक्ति तथा अनुरागका होना स्वाभाविक और जरूरी है । बिना अनुरागके किसी भी गुणकी प्राप्ति नहीं हो सकती । उदाहरणके लिये, यदि कोई मनुष्य संस्कृत भाषाका विद्वान् होना चाहे तो उसके लिये यह जरूरी है कि वह संस्कृत भाषाके विद्वानोंका समर्ग करे, उनसे प्रेम रखे और उनकी सेवामें रहकर कुछ सीखे, संस्कृतकी पुस्तकोंका प्रेमपूर्वक संग्रह करे और उनके अध्ययनमें चित्त लगाए । यह नहीं हो सकता कि, संस्कृतके विद्वानोंमें तो घृणा करे, उनकी शकल तक भी देखना न चाहे, उनसे कोसों दूर भागे, संस्कृतकी पुस्तकोंको छुए अथवा देखे तक नहीं, न संस्कृतका कोई शब्द अपने कानोंमें पड़ने दे, और फिर संस्कृतका विद्वान बन जाय । इसलिये प्रत्येक गुणकी प्राप्तिके लिये उसमें सब ओरसे अनुरागकी बड़ी जरूरत है । जो मनुष्य जिस गुणका आदर सत्कार करता है अथवा जिस गुणसे प्रेम रखता है वह उस गुणके गुणीका भी अवश्य आदर-सत्कार करता है । क्योंकि गुणीके आश्रय बिना कहीं भी गुण नहीं होता । आदर-सत्काररूप इस प्रवृत्तिका नाम ही

१ सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः ।

तत्रैव दृढसंस्कारात्लभते ह्यात्मन स्थितिम् ।

—समाधितन्त्र

पूजा और उपासना है। इसलिये परमात्मा^१ इन्ही समस्त कारणों-से हमारा परम पूज्य और उपास्य देव है। उसकी इस उपासनाका मुख्य उद्देश्य, वास्तवमें, परमात्म गुणोंकी प्राप्ति अथवा अपने आत्मीय गुणोंकी प्राप्तिकी भावना है। यह भावना जितनी अधिक दृढ़ और विशुद्ध होगी सिद्धि भी उतनी ही अधिक निकट होती जायगी। इसीसे अच्छे अच्छे योगीजन भी निरंतर परमात्माके गुणोंका चिंतन किया करते हैं। कभी कभी वे परमात्माका स्तवन करते हुए उसमें उन खास खास गुणोंका उल्लेख करते हुए देखे जाते हैं जिनको प्राप्त करनेकी उनकी उत्कट इच्छा होती है और उनके सम्बन्धमें यह साफ तौरसे लिख भी दिया करते हैं कि हम ऐसे परमात्मगुणोंकी प्राप्तिके लिये परमात्माकी वन्दना करते हैं, जैसा कि सर्वार्थ-सिद्धिमें श्रीपूज्यपादाचार्यके दिये हुए निम्न वाक्यसे प्रकट है —

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृता ।

ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वदे तद्गुणलब्धये ॥

इससे यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि परमात्माकी उपासना मुख्यतया उनके गुणोंकी प्राप्तिके उद्देश्यसे की जाती है, उसमें परमात्माकी कोई गरज नहीं होती बल्कि वह अपनी ही गरजको लिये हुए होती है और वह गरज 'आत्मलाभ' है जिसे परमात्माका आदर्श सामने रखकर प्राप्त किया जाता है। और इसलिये, जो लोग उपासनाके इस मुख्योद्देश्यको अपने लक्ष्यमें नहीं रखते और न उपकारके स्मरण पर ही जिनकी दृष्टि रहती है उनकी उपासना वास्तवमें उपासना कहलाए जानेके योग्य नहीं हो सकती। ऐसी

१ इन्ही कारणोंसे अन्य वीतरागी साधु और महात्मा भी, जिनमें आत्माकी कुछ शक्तियाँ विकसित हुई हैं और जिन्होंने अपने उपदेश, आचरण तथा शास्त्रनिर्माणसे हमारा उपकार किया है वे सब, हमारे पूज्य हैं।

उपासनाको बकरीके गलेमें लटकते हुए स्तनोंसे अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता। उसके द्वारा वर्षों क्या कोटि जन्ममें भी उपासनाके मूल उद्देश्यकी सिद्धि नहीं हो सकती। और इसलिये, यह जीव ससारमें दुःखोंका ही पात्र बना रहता है। दुःखोंसे समुचित छुटकारा तभी हो सकता है जब कि परमात्माके गुणोंमें अनुराग बढ़ाया जाय। परमात्माके गुणोंमें अनुराग बढ़नेसे पापपरिणति सहजमें छूट जाती है और पुण्यपरिणति उसका स्थान ले लेती है। इसी आशयको स्वामी समन्तभद्राचार्यने, निम्न वाक्य द्वारा, बड़े ही अच्छे ढंगसे प्रतिपादित किया है —

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ विवान्तवैरे ।

तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्न पुनाति चित्तं दुरिताऽञ्जनेभ्यः ॥

—स्वयंभूस्तोत्र

इसमें स्वामी समन्तभद्र, परमात्माको लक्ष्य करके उनके प्रति, अपना यह आशय व्यक्त करते हैं कि 'हे भगवान्, पूजा-भक्तिसे आपका कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि आप वीतरागी ह-रागका अश भी आपके आत्मामें विद्यमान नहीं है जिसके कारण किसी पूजा-भक्तिसे आप प्रसन्न होते। इसी तरह निन्दासे भी आपका कोई प्रयोजन नहीं है कोई कितना ही आपको बुरा कहे, गालियाँ दे, परन्तु उस पर आपको जरा भी क्षोभ नहीं आ सकता, क्योंकि आपके आत्मासे वैरभाव, द्वेषाश, बिल्कुल निकल गया है—वह उसमें विद्यमान ही नहीं है—जिससे क्षोभ तथा अप्रसन्नतादि कार्योंका उद्भव हो सकता। ऐसी हालतमें निन्दा और स्तुति दोनों ही आपके लिये समान हैं—उनसे आपका कुछ बनता या बिगड़ता नहीं है—तो भी आपके पुण्य गुणोंके स्मरणसे हमारा चित्त पापोंसे पवित्र होता है—हमारी पाप-परिणति छूटती है—इसलिये हम भक्तिके साथ आपका गुणानुवाद गाते हैं—आपकी उपासना करते हैं।'।

जब परमात्माके गुणोंमें अनुराग बढ़ाने, उनके गुणोंका प्रेमपूर्वक

स्मरण और चिन्तन करनेसे शुभ भावोंकी उत्पत्ति-द्वारा पापपरिणति छूटती और पुण्यपरिणति उसका स्थान लेती है तो नतीजा इसका यही होता है कि हमारी पापप्रकृतियोंका रस सूखता और पुण्यप्रकृतियोंका रस बढ़ता है। पाप-प्रकृतियोंका रस (अनुभाग) सूखने और पुण्य-प्रकृतियोंमें रस बढ़नेसे अन्तराय कर्म नामकी प्रकृति, जो कि एक मूल पाप-प्रकृति है और हमारे दान, लाभ, भोगोपभोग आदि-में विघ्नस्वरूप रहा करती है-उन्हे होने नहीं देती-वह भग्नरस होकर निर्बल पड़ जाती है और हमारे इष्टको बाधा पहुँचानेमें समर्थ नहीं रहती। तब हमारे बहुतसे लौकिक प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं और उनका श्रेय उक्त उपासनाको ही प्राप्त होता है। जैसा कि एक आचार्य महोदयके निम्नवाक्यसे प्रगट है —

नेष्ट बिहन्तु शुभभावभग्नरसप्रकर्षः प्रमुरन्तराय ।

तत्कामचारेण गुणानुरागान्तुत्यादिरिष्टार्थकदाऽहदादे ॥

ऐसी हालतमें यह कहना कि परमात्माकी सच्ची पूजा, भक्ति और उपासनासे हमारे लौकिक प्रयोजनोंकी भी सिद्धि होती है, कुछ भी अनुचित न होगा। यह ठीक है कि, परमात्मा स्वयं अपनी इच्छापूर्वक किसीको कुछ देता दिलाता नहीं है और न स्वयं आकर अथवा अपने किसी सेवकको भेजकर भक्तजनोंका कोई काम ही सुधारता है तो भी उसकी भक्तिका निमित्त पाकर हमारी कर्मप्रकृतियोंमें जो कुछ उलट-फेर होता है उससे हमें बहुत कुछ प्राप्त हो जाता है और हमारे अनेक बिगड़े हुए काम भी सुधर जाते हैं। इस-निये परमात्माके प्रसादसे हमारे लौकिक प्रयोजन भी सिद्ध होते हैं इस कहनेमें सिद्धान्तकी दृष्टिसे, कोई विरोध नहीं आता। परन्तु फलप्राप्तिका यह सारा खेल उपासनाकी प्रशस्तता, अप्रशस्तता और उसके द्वारा उत्पन्न हुए भावोंकी तरतमता पर निर्भर है। अतः हमें अपने भावोंकी उज्ज्वलता, निर्मलता और उनके उत्कर्षसाधन पर खाम तौरसे ध्यान रखना चाहिये और वह तभी बन सकता है जब

कि परमात्माकी उपासना उपासनाके ठीक उद्देश्यको समझकर की जाय और उसमें प्राय लौकिक प्रयोजनोपर दृष्टि न रखी जाय। जो लोग केवल लौकिक प्रयोजनकी दृष्टिसे— सासारिक विषयकषायोको पुष्ट करनेकी गरजसे— परमात्माकी उपासना करते हैं, उसके नाम पर तरह तरहकी बोल-कबूलत बोलते हैं और फलप्राप्तिकी शर्तपर पूजा-उपासनाका वचन निकालते हैं उनके सम्बन्धमे यह नहीं कहा जा सकता है कि वे परमात्माके गुणोमे वास्तविक अनुराग रखते हैं, वल्कि यदि यह कहा जाय कि वे परमात्माके स्वरूपसे ही अनभिज्ञ हैं तो शायद कुछ ज्यादा अनुचित न होगा। ऐसे लोगोकी इस प्रवृत्तिसे कभी कभी बड़ी हानि होती है। वे सासारिक किसी फल-विशेषकी आशासे— उसकी प्राप्तिके लिये— परमात्माकी पूजा करते हैं, परन्तु फलकी प्राप्ति अपने अधीन नहीं होती, वह कर्मप्रकृतियोंके उलट-फेरके अधीन है। दैवयोगसे यदि कर्म-प्रकृतियोंका उलट-फेर, योग्य भावोको न पाकर, अपने अनुकूल नहीं होता और इसलिये अभीष्ट फलकी सिद्धिको अवसर नहीं मिलता तो ऐसे लोगोकी श्रद्धा डगमगा जाती है अथवा यो कहिये कि उस वृक्षकी तरह उखड जाती है जिसका मूल कुछ भी गहरा नहीं होता। उन्हें यह तो खबर नहीं पडती कि हमारी उपासना भावशून्य थी, उसमे प्राण नहीं था और इसलिये हमे सच्ची उपासना करनी चाहिये, उलटा वे परमात्माकी पूजा-भक्तिमे हतोत्साह होकर उससे उपेक्षित हो बैठते हैं। साथ ही, अपनी अभीष्टसिद्धिके लिये दूसरे देवी-देवताओकी तलाशमें भटकते हैं, अनेक रागी-द्वेषी देवताओकी शरणमे प्राप्त होकर उनकी तरह तरहकी उपासना किया करते हैं और इस तरहपर अपने जैनत्वको भी कलंकित करके जैनशासनकी अभिमाननाके कारण बन जाते हैं।

ऐसी कच्ची प्रकृति और ढीली श्रद्धाके मनुष्योंकी दशा, नि सदेह, बड़ी ही कसूरगाजनक होती है। ऐसे लोगोको खास तौरसे उपासना-तत्त्वको जानने और समझनेकी जरूरत है। उन्हें ऊपरके इस संपूर्ण

कथनसे खूब समझ लेना चाहिये कि जैनदृष्टिसे परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना परमात्माकी प्रसन्न करने—खुशामद-द्वारा उससे कुछ काम निकालनेके लिये नहीं होती और न सासारिक विषय-कषायोका पुष्ट करना ही उसके द्वारा अभीष्ट होता है। बल्कि, वह खास तौरसे परमात्माके उपकारका स्मरण करने और परमात्माके गुणोकी—आत्मस्वरूपकी—प्राप्तिके उद्देश्यसे की जाती है। परमात्माका भजन और चिन्तन करनेसे—उसके गुणोंमें अनुराग बढ़ानेसे—पापीसे निवृत्ति होती है और साथ ही महत्पुण्योपाजन भी होता है, जो कि स्वतः अनेक लौकिक प्रयोजनोका साधक है। इसलिये जो लोग परमात्माकी पूजा, भक्ति और उपासना नहीं करते वे अपने आत्मीय गुणोंसे पराङ्मुख और अपने आ मलाभसे वचित रहते हैं, इतना ही नहीं, किन्तु कृतघ्नताके महान् दोषसे भी दूषित होते हैं। अतः ठीक उद्देश्योंके साथ परमात्माकी पूजा, भक्ति, उपासना और आराधना करना सबके लिये उपादेय और जरूरी है।

मूर्ति-पूजा

परमात्मा अपनी जीवन्मुक्तावस्था—अर्थात्, अर्हन्त-अवस्थामें सदा और सर्वत्र विद्यमान नहीं रहता, इस कारण परमात्माके स्मरणार्थ और परमात्माके प्रति आदर-सत्काररूप प्रवर्तनेके अवलम्बन-स्वरूप उसकी अर्हन्त अवस्थाकी मूर्ति बनाई जाती है। वह मूर्ति परमात्माके वीतरागता, शान्तता और ध्यानमुद्रा आदि गुणोका प्रतिबिम्ब होती है। उसमें स्थापना-निक्षेपसे परमात्माकी प्रतिष्ठा की जाती है। उसके पूजनेका भी समस्त वही उद्देश्य है जो ऊपर वर्णन किया गया है, क्योंकि मूर्तिकी पूजासे किसी धातुपाषाणका पूजना अभिप्रेत (इष्ट) नहीं है। ऐसा होता तो गृहस्थोके घरोंमें सैकड़ों बाट बटेहूँ धड़े पसेरे आदि चीजें इसी किस्मकी पड़ी रहती हैं, वे उनसे ही अपना मस्तक रगड़ा करते और उन्हें प्रणामादिक किया करते।

पर ऐसा नहीं है। मूर्तिके सहारेसे परमात्माकी ही पूजा, भक्ति, उपासना और आराधना की जाती है। मूर्तिके द्वारा मूर्तिमानकी उपासनाका नाम ही मूर्तिपूजा है। इसीलिये इस मूर्तिपूजाके देवपूजा, देवाराधना, जिनपूजन, देवार्चन, भगवत्पूर्युपासन, जिनार्चा इत्यादि नाम कहे जाते हैं और इसीलिये इस पूजनकी साक्षात् जिनदेवके पूजनतुल्य वर्णन किया है। यथा —

भवत्याऽर्हत्प्रतिमा पृथ्वा कृत्रिमाऽकृत्रिमा सदा ।

यतस्तद्गुणसंकल्पात्प्रत्यक्षं पूजितो जिनः ॥ ६-४२ ॥

—धर्मसंग्रहशावकाचार

उद्धूके एक कवि शेख साहबने भी इस सबंधमें अच्छा कहा है —

उसमे है एक खुदाई का जलवा अगर ना शेख ।

सिजदा करेसे फायदा पत्थरके सामने ?

अर्थात्—परमात्माकी उस मूर्तिमें खुदाईका जलवा—परमात्माका प्रकाश और ईश्वरका भाव—मौजूद है जिसकी वजहसे उसे सिजदा—प्रणामादिक—किया जाता है, अन्यथा, पत्थरके सामने सिजदा करनेसे कोई लाभ नहीं था। भावार्थ, परमात्माकी मूर्तको जो प्रणामादिक किया जाता है वह वास्तवमें परमात्माको—परमात्माके गुणोंको ही प्रणामादिक करना है, धातु-पाषाणकी प्रणामादिक करना नहीं है। और इसलिए उसमें लाभ जरूर है। जैन-दृष्टिसे खुदाईका वह जलवा परमात्माके परम वीतरागता और शान्ततादि गुणोंका भाव है जो जैनियोंकी मूर्तियोंमें साफ तौरसे झलकता और सर्वत्र पाया जाता है। परमात्माके उन गुणोंको लक्ष्य करके ही जैनियोंके यहाँ मूर्तिकी उपासना की जाती है।

परमात्माकी इस परम शान्त और वीतराग मूर्तिके पूजनेमें एक बड़ी भारी खूबी और महत्त्वकी बात यह है कि, जो संसारी जीव संसारके मायाजाल और गृहस्थीके प्रपंचमें अधिक पड़े हुए हैं जिनके चित्त अति चंचल हैं और जिनका आत्मा इतना बलाढ्य नहीं है कि

जो केवल शास्त्रोंमें परमात्माका वर्णन सुनकर एकदम बिना किसी नकशेके परमात्मस्वरूपका नक्शा (चित्र) अपने हृदय पर खींच सके या परमात्म-स्वरूपका ध्यान कर सकें, वे भी उस मूर्तिके द्वारा परमात्मस्वरूपका कुछ ध्यान और चिन्तन करनेमें समर्थ हो जाते हैं और उसीसे आगामी दुखो तथा पापोंकी निवृत्तिपूर्वक अपने आत्मस्वरूपकी प्राप्तिमें अग्रसर होते हैं ।

जब कोई चित्रकार चित्र खींचनेका अभ्यास करता है तब वह सबसे प्रथम सुगम और सादे चित्रोंपरसे, उनको देख देखकर, अपना चित्र खींचनेका अभ्यास बढ़ाता है, एकदम किसी कठिन, गहन और गम्भीर चित्रको वह नहीं बना सकता । जब उसका अभ्यास बढ़ जाता है, तब कठिन, गहन और रगीन चित्रोंको भी सुन्दरताके साथ बनाने लगता है । और छोटे चित्रको बड़ा और बड़ेको छोटा भी करने लगता है । आगे जब अभ्यास करते करते वह चित्रविद्यामें पूरी तौरसे निपुण और निष्णात हो जाता है, तब वह चलती-फिरती, दौड़ती-भागती वस्तुओंका भी चित्र बड़ी सफाईके साथ बातकी बातमें खींचकर रख देता है और चित्र-नायकको न देखकर, केवल व्यवस्था और हाल ही मालूम करके, उसका साक्षात् जीता-जागता चित्र भी अंकित कर देता है । उसी प्रकार यह ससारी जीव भी एकदम परमात्मस्वरूपका ध्यान नहीं कर सकता—अर्थात् परमात्माका फोटो अपने हृदय पर नहीं खींच सकता, वह परमात्माकी परम वीतराग और शान्त मूर्तिपरसे ही अपने अभ्यासको बढ़ाता है । मूर्तिके निरन्तर दर्शनादि अभ्याससे जब उस मूर्तिकी वीतराग छबि और ध्यानमुद्रासे वह परिचित हो जाता है, तब शनैः शनैः एकान्तमें बैठकर उस मूर्तिका फोटो अपने हृदयमें खींचने लगता है और फिर कुछ देर तक उसको स्थिर रखनेके लिये भी समर्थ होने लगता है । ऐसा करनेपर उसका मनोबल और आत्मबल बढ़ जाता है और फिर वह इस योग्य हो जाता है कि उस मूर्तिके मूर्तिमान श्रीअर्हन्तदेवका

समवसरणादि-विभूतिसहित साक्षात् चित्र भी अपने हृदयमें खींचने लगता है। इस प्रकारके ध्यानका नाम 'रूपस्थ ध्यान' है और यह ध्यान प्रायः मुनि-अवस्था ही में बनता है।

आत्मीय बलके इतना उन्नत हो जानेकी अवस्थामें फिर उसको धातुपाषाणकी मूर्तिके पूजनादिकी या दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि परमात्माके ध्यानादिके लिए मूर्तिका अवलम्बन लेनेकी जरूरत बाकी नहीं रहती, बल्कि वह रूपस्थध्यानके अभ्यासमें परिपक्व होकर और अधिक उन्नति करता है और साक्षात् सिद्धोका चित्र भी खींचने लगता है, जिसको 'रूपातीत ध्यान' कहते हैं। इस प्रकार ध्यानके बलसे वह अपने आत्मासे कर्ममलको छोटता रहता है और फिर उन्नतिके सोपानपर चढ़ता हुआ शुद्धध्यान लगाकर समस्त कर्मोंको क्षय कर देता है और इस तरह अपने आत्मत्वको प्राप्त कर लेता है।

अभिप्राय इसका यह है कि, मूर्तिपूजा आत्मदर्शनका प्रथम सोपान है और उसकी आवश्यकता प्रायः प्रथमावस्था (गृहस्थावस्था) ही में होती है। बल्कि, दूसरे शब्दोंमें, यों कहना चाहिये कि जितना जितना कोई नीचे दर्जेमें है, उतना उतना ही ज्यादा उसको मूर्तिपूजाकी या मूर्तिका अवलम्बन लेनेकी जरूरत है। यही कारण है कि हमारे आचार्योंने गृहस्थोंके लिये इसकी खास जरूरत रक्खी है और नित्य पूजन करना गृहस्थका मुख्य धर्म वर्णन किया है^१।

यह तो हुई मूर्तिविशेष और जैनियोंके मूर्तिपूजा विषयक खास सिद्धान्तकी बात। अब यदि आमतौरसे मूर्तिपूजाके सिद्धान्त पर नजर डाली जाय मूर्तिके स्वरूप पर सूक्ष्मताके साथ विचार किया जाय

१ दारण पूजा मुखे सावयधम्मो ण सावगो तेण विणा ।

भारणज्झयण मुखे जइधम्मो त विणा सोवि ॥ — रयणसार
देवपूजा गुरुपास्ति स्वाध्याय समयस्तप ।

दान चेति गृहस्थाना षट्कर्माणि दिने दिने ॥ — पञ्चनन्दिपत्रवि०

और उसके अर्थसम्बन्धमें कुछ गहरा उतरा जाय, तो मालूम होगा कि ससारकी कोई भी उपासना बिना मूर्तिके नहीं बन सकती—मूर्तिका अबलम्बन जरूर लेना पड़ता है, चाहे यह मूर्ति सूक्ष्म हो या स्थूल। आप किसीकी प्रशंसा नहीं कर सकते जब तक कि मूर्तियोंका सहारा न ले लेवे। शब्द, जिनके द्वारा परमात्माकी या किसीकी भी स्तुति की जाती है, नाम लिया जाता है और गुरानुवाद गाया जाता है, वे सब मूर्तिक हैं, मूर्तिकसे उत्पन्न होते हैं, मूर्तिक पदार्थसे रोके जाते हैं, फोनोग्राफमें भरे जाते हैं और इसलिये एक प्रकारकी सूक्ष्म मूर्तियाँ हैं। इसी तरह शब्दोंके द्योतक जो अक्षर हैं वे भी शब्दोंकी नाना-प्रकारकी आकृतियाँ हैं—मूर्तियाँ हैं—जिन्हें भिन्न भिन्न देशों अथवा जातियोंने अपने अपने व्यवहारके लिये कल्पित कर रक्खा है। हाथीको संस्कृतमें 'गज', प्राकृतमें 'गय', फारसीमें 'फील', अरबीमें 'पील', और अंग्रेजीमें 'एलिफेंट' (Elephant) कहते हैं। अन्यान्य भाषाओंमें उसके दूसरे नाम हैं और एक एक भाषामें कई कई नाम भी हैं—जैसे संस्कृतमें इम, करी इत्यादिक—और ये सब नाम अनेक लिपियोंमें भिन्न भिन्न प्रकारसे लिखे जाते हैं। इन शब्दरूप मूर्तियोंके कानोंसे टकराने पर या अक्षररूप मूर्तियोंके नेत्रोंके सामने आने पर जब हाथी नामके एक विशाल जन्तु (जानवर) का बोध होता है तो वह हाथीकी साक्षात् (तदाकार) मूर्तिको देखनेपर उससे कहीं अधिक हो सकता है और होता है। हाथीके नामसे हाथीका सामान्य ज्ञान ही होता है, परन्तु उसकी तदाकार मूर्तिके देखनेसे रङ्ग-रूप और आकार-प्रकारादिका बहुत कुछ हाल मालूम हो जाता है। यही दोनोंमें विशेष है, और इसी विशेषकी वजहसे आजकल विद्वान् लोग शिक्षालयोंमें भी चित्रों और मूर्तियोंके द्वारा बालकोंको शिक्षा देना ज्यादा पसन्द करने लगे हैं।

परमात्माके सम्बन्धमें भी यही सब बातें समझ लेनी चाहिए। परमात्माके ईश्वर, परब्रह्म, अल्ला, खुदा, गौड (God) आदि

नामोंके उच्चारण करनेसे अथवा इन नामोंको किसी लिपिविशेषमें लिखकर सामने रखनेसे इन उभय प्रकारकी (शब्द-अक्षर-रूपवाली) मूर्तियोंके द्वारा यदि परमात्माका बोध होता है तो परमात्माकी तदाकार मूर्ति उसकी जीव-मुक्तावस्थाकी आकृति—के देखनेसे वह बोध और भी ज्यादा स्पष्ट होता है। यदि यह कहा जाय कि ऐसी मूर्तिके द्वारा परमात्माका कुछ बोध ही नहीं होता तो वह शब्दों और अक्षरोंके द्वारा बिल्कुल नहीं होता, यह कहना चाहिए, क्योंकि वे भी मूर्तियाँ हैं और अतदाकार मूर्तियाँ हैं। जब तदाकार मूर्तियोंसे ही, जो कि ज्यादा विशद होती है, अर्थावबोध नहीं होता तो फिर अतदाकार मूर्तियोंसे वह कैसे हो सकता है ? अत उक्त कथन ठीक नहीं है। इसी तरह यह समझना चाहिए कि परमात्माका नाम लेनेसे, शब्दों-द्वारा परमात्माकी स्तुति करनेसे—परमात्मने नम, ईश्वराय नम, परब्रह्मणे नमो नम, ॐ नम, रामो अरहताण, अल्लह्मदोलिल्ला^१ इत्यादि मन्त्रोंके उच्चारण करनेसे—या ॐ आदि अक्षरोंकी आकृति सामने रखकर ध्यान करनेसे यदि किसी पुण्य-फलकी प्राप्ति होती है तो वह तदाकार मूर्तिपरसे परमात्माका चिन्तन करनेसे भी जरूर होती है और ज्यादा हो सकती है। ऐसी हालतमें जो लोग परमात्माकी शब्दों और अक्षरोंमें स्थापना करके उन अतदाकार मूर्तियोंके द्वारा उसकी उपासना करते हैं उन्हें परमात्माकी तदाकार मूर्तियाँ बनाकर उपासना करनेवालोंपर आक्षेप करनेकी जरूरत नहीं है और न वैसा करनेका कोई हक ही है, क्योंकि वे स्वयं ही मूर्तियों द्वारा—बल्कि अस्पष्ट मूर्तियों द्वारा—परमात्माकी उपासना करते हैं और उससे शुभ फलका होना मग्नते हैं। वास्तवमें यदि देखा जाय तो कोई भी चिन्तन अथवा ध्यान बिना मूर्तिका सहारा लिये नहीं बन सकता और न निराकारका ध्यान ही हुआ करता है।

१ यह अरबी भाषाका मुसलमानी मन्त्र है।

प्रत्येक ध्यान अथवा चिन्तनके लिये किसी न किसी मूर्ति या आकार-विशेषको अपने सामने रखना होता है, चाहे वह नेत्रोंके सामने हो अथवा मानसप्रत्यक्ष । इसी अभिप्रायको हृदयमें रखकर १० मगत-रायजीने ठीक कहा है—

अबस यह जैनियों पर इत्तहामे बुतपरस्ती है ।

बिना तसवीरके हरगिज तसव्वर हो नहीं सकता ॥

अर्थात्—जैनियों पर बुतपरस्तीका—मूर्तिपूजाविषयक—जो इलजाम लगाया जाता है—यह कहा जाता है कि वे घातुपाषाणके पूजनेवाले हैं—वह बिल्कुल व्यर्थ और नि सार है, क्योंकि कोई भी तसव्वर—कोई भी ध्यान अथवा चिन्तन—बिना तसवीरके—बिना मूर्ति या चित्रका सहारा लिये—नहीं बन सकता । भावार्थ, ध्यान तथा चिन्तनकी सभीको निरन्तर जरूरत हुआ करती है, इसलिए सभीको मूर्तियोंका आश्रय लेना पड़ता है और इस दृष्टिसे सभी मूर्ति-पूजक हैं । तब, जैनियोंपर ही वैसे उसका दोष मढ़ा जा सकता है ? उन्हें, इस विषयमें दोष देना बिल्कुल फजूल और निर्मूल है । वे अपनी मूर्तियोंके द्वारा परमात्माका ही ध्यान तथा चिन्तन किया करते हैं ।

इसलिए जो लोग मूर्तिपूजाका निषेध करते हैं, मूर्तिको जड़ अचेतन, कृत्रिम बतलाकर और यह कहकर कि वह हमारा कुछ भला नहीं कर सकती उससे घृणा उत्पन्न कराते हैं, यह सब उनकी बड़ी भारी भूल है । वे खुद बात-बातमें मूर्तिका सहारा लिया करते हैं, मूर्तियोंका आदर-सत्कार करते हुए देखे जाते हैं^१ जड़ पदार्थोंकी पीछे भटकते हैं, उनके लिए अनेक प्रकारकी दीनताएँ करते हैं, ससार-

१ वेदादि शास्त्रोंका विनय और अपने महात्माओंके चिन्तनोंकी इच्छा करते हैं तथा परमात्माके नामादिकोंकी बड़ी भक्तिके साथ उच्चारण करते हैं ।

मे उनका कोई भी काम जड पदार्थोंकी सहायताके बिना नहीं होता, वे अपने चारो ओर जड तथा कृत्रिम पदार्थोंसे घिरे रहते हैं और उनसे नाना प्रकारके काम निकाला करते हैं जड तथा कृत्रिम माली-को सुनकर उन्हें रोष हो आता है, और वे यह भी खूब जानते हैं कि इस जगत्का सम्पूर्ण कार्य-व्यवहार प्रायः जड तथा कृत्रिम मूर्तियोंकी सहायतासे ही चल रहा है, इतनेपर भी उनका मूर्तको जड तथा कृत्रिम बतलाकर उससे घृणा उत्पन्न करना कहाँ तक ठीक है, इसे विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं। वास्तवमें यह सब साम्प्रदायिक मोह, आपसकी खीचातानी तथा पक्षपातका नतीजा है और तार्त्त्विक दृष्टिसे इसे कुछ भी महत्त्व नहीं दिया जा सकता। अथवा यो कहना चाहिए कि ऐसे लोगोको मूर्तिका रहस्य मालूम नहीं है, उन्हें यह खबर ही नहीं कि ऐसा कोई भी मनुष्य ससारमें नहीं हो सकता जो मूर्तिका उपासक न हो अथवा परमात्माकी उपासनामें मूर्तिकी सहायता न लेता हो, और इसलिये उन्हें ऊपरके इस सम्पूर्ण कथनसे मूर्तिका रहस्य खूब समझ लेना चाहिये और यह जान लेना चाहिए कि इन स्थूल मूर्तियोंकी पूजाका कोई दूसरा उद्देश्य नहीं है, इनके द्वारा परमात्माकी ही उपासना की जाती है। ये परमात्माके प्रतिरूप हैं, प्रतिबिम्ब हैं और इसीलिये इन्हें प्रतिमा भी कहते हैं। बुद्धिमान् लोग इनमें परमात्माका दर्शन अथवा इनके सहारेसे अपनी आत्माका अनुभवन किया करते हैं, जैसा कि इस निबन्धके शुरुमें प्रकट किया गया है। नीचेके एक पद्यसे भी पाठकोको ऐसा ही मालूम होगा, जिसमें कवि मैथिलीशरणजीने उन भावोको चित्रित किया है जो इस विषयमें एक सामंतके हृदयमें उस समय उदित हुए थे जब कि उसके देशके किलेकी मूर्ति बनाकर एक राणाके द्वारा, अपनी प्रतिज्ञा^१

१ प्रतिज्ञा, जो सहसा क्रोधके आवेशमें बिना सोचे समझे की गई थी यह थी कि जब तक उस देशके किलेको नहीं तोड़ डालूंगा तब तक

पूरी करनेके अभिप्रायसे, तोड़ी जा रही थी और जिसे उस सामन्तने अपने उन भावोंके अनुसार तोड़ने नहीं दिया था वल्कि उसके लिये रागामे युद्ध किया था। वह पद्य इस प्रकार है —

तोड़ने दूँ क्या इसे नकली किला मैं मानके ?

पूजते हैं भक्त क्या प्रभुमूर्तिको जड़ जानके ?

अज्ञ जन उसको भले ही जड़ कहें अज्ञानमे ।

देखते भगवानको धीमान उसमे ध्यानसे ॥

—रङ्गमे भग

इससे पाठक मूर्तिपूजाके भावोंको और भी स्पष्टताके साथ अनुभव कर सकते हैं, और यह समझ सकते हैं कि इन मूर्तियोंके द्वारा परमात्माका ही पूजना अभीष्ट होता है—धातुपाषाणका नहीं। मूर्तिका विनय-अविनय, वास्तवमे मूर्तिमानका ही विनय-अविनय है। और यही वजह है कि जो कोई किसी महात्मा, परमात्मा, राजा या महाराजाकी लोकमे सम्प्रतिष्ठित मूर्तिका अविनय करता है वह दंडका पात्र समझा जाता है और उसे, प्रमाणित होने पर दंड दिया भी जाता है।

यह ठीक है कि, धातुपाषाणकी ये मूर्तियाँ हमें कुछ देती-दिलाती नहीं हैं और इनसे ऐसी आशा रखना इनके स्वरूपकी अनभिज्ञता प्रकट करना है, तो भी परमात्माकी स्तुति आदिके द्वारा शुभ भावोंको उत्पन्न करके हम जिस प्रकार अपना बहुत कुछ हित साधन कर लेते हैं उसी प्रकार इन मूर्तियोंकी सहायतामे भी हमारा बहुत कुछ काम निकल जाता है। मूर्तियोंके देखनेसे हमें परमात्माका स्मरण होता है

अन्न जल नहीं ग्रहण करूँगा। परन्तु सेना सजाकर वहाँ तक पहुँचने आदिके लिये किन्तु ही दिनोंकी जरूरत थी और उस वक्त तक भूखा नहीं रहा जा सकता था, इसलिये प्रतिज्ञा पूरी करनेके लिये मंत्रियों द्वारा मूर्तियोंको तोड़नेकी योजना की गई थी।

और उससे फिर आत्मसुधारकी ओर हमारी प्रवृत्ति होने लगती है। यह सब कैसे होता है, इसे एक उदाहरणके द्वारा नीचे स्पष्ट किया जाता है —

कल्पना कीजिये, एक मनुष्य किसी स्थानपर अपनी छतरी भूल आया। वह जिस समय मार्गमें चला जा रहा था, उसे सामनेसे एक दूसरा आदमी आता हुआ नज़र पड़ा, जिसके हाथमें छतरी थी। छतरीको देखकर उस मनुष्यको भटसे अपनी छतरी याद आ गई और यह मालूम हो गया कि मैं अपनी छतरी अमुक जगह भूल आया हूँ और इसलिये वह तुरन्त उसके लानेके लिये वहाँ चला गया और ले आया। अब यहाँपर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि उस मनुष्यको किसने बताया कि तू अपनी छतरी अमुक जगह भूल आया है। वह दूसरा आदमी तो कुछ बोला नहीं, और भी किसी तीसरे व्यक्तिने उस मनुष्यके कानमें आकर कुछ कहा नहीं। तब क्या वह जड़ छतरी ही उस मनुष्यसे बोल उठी कि तू अपनी छतरी भूल आया है ? परन्तु ऐसा भी कुछ नहीं है, फिर भी यह जरूर कहना होगा कि उस मनुष्यको अपनी छतरीके भूलनेकी जो कुछ खबर पड़ी है और वहाँसे लानेमें उसकी जो कुछ प्रवृत्ति हुई है उन सबका निमित्त कारण वह छतरी है, उस छतरीसे ही उसे यह सब उपदेश मिला है और ऐसे उपदेशको 'नैमित्तिक उपदेश' कहते हैं। यही उपदेश हमें परमात्माकी श्रुतियोंपरसे मिलता है। जैनियोंकी ऐसी श्रुतियाँ ध्यानमुद्राको लिये हुए परमवीतराग और शान्त-स्वरूप होती हैं। उन्हें देखनेसे बड़ी शान्ति मिलती है, आत्मस्वरूपकी स्मृति होती है—यह खयाल उत्पन्न होता है कि हे आत्मा ! तेरा स्वरूप तो यह है तू इसे भुलाकर ससारके मायाजालमें और कषायोंके फन्देमें क्यों फँसा हुआ है ? नतीजा जिसका यह होता है कि, (यदि बीचमें कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती तो) वह व्यक्ति यमनियमादिके द्वारा अपने आत्मसुधारके मार्गपर लग जाता है। यह दूसरी बात है कि कोई

मनुष्य नेत्रहीन (विवेकरहित) हो और उसे मूर्तिरूपी दर्पणमें परमात्माका जो प्रतिबिम्ब पड़ रहा है वह दिखलाई ही न देता हो, अथवा उसका हृदय दर्पणके समान स्वच्छ न होकर मिट्टीके उस ढेलेके सदृश हो जो प्रतिबिम्ब (उपदेश) को ग्रहण ही नहीं करता और या इतना निर्बल हो कि उसे ग्रहण करके फिर शीघ्र छोड़ देता हो, और इस तरह अपने आत्माके सुधारकी ओर न लग सकता हो, परन्तु इसमें मूर्तिका कोई दोष नहीं, न इन बातोंसे मूर्तिकी उपयोगिता नष्ट होती है और न उसकी हितोपदेशकतामें ही कोई बाधा आती है। ऐसी परम हितोपदेशक मूर्तियाँ, नि सन्देह, अभिवन्दनीय ही होती हैं। इसीसे एक आचार्यमहोदय उनका निम्नप्रकारसे अभिवादन करते हैं।

कथयन्ति कषायमुक्तिलक्ष्मीं परया शान्ततया भवान्तकानाम् ।

प्रणामामि विशुद्धये जिज्ञाना प्रतिरूपाण्यभिरूपमूर्तिमनि ॥

— क्रियाकलाप

अर्थात्—ससारसे मुक्त श्रीजिनेन्द्रदेवकी उन तदाकार सुन्दर प्रतिमाओंको मैं, अपनी आत्मशुद्धिके लिये, प्रणाम करता हूँ, जो कि अपनी परम शान्तताके द्वारा ससारी जीवोंको कषायोंकी मुक्तिका उपदेश देती हैं ।

इससे स्पष्ट है कि जिनेन्द्र-प्रतिमाओंकी यह पूजा आत्मविशुद्धिके लिये की जाती है और जो काम आत्माकी शुद्धिके लिये—आत्माकी विभाव-परिणतिको दूर कर उसे स्वभावमें स्थित करनेके उद्देश्यसे—किया जाता हो वह कितना अधिक उपयोगी है इस बातको बतलानेकी जरूरत नहीं, विज्ञ पाठक उसे स्वयं समझ सकते हैं और ऊपरके इस सम्पूर्ण कथनसे मूर्तिपूजाकी उपयोगिताको बहुत कुछ अनुभव कर सकते हैं ।

विरोधका रहस्य

हाँ, जब मूर्तिपूजा इतनी अधिक उपयोगी चीज़ है तब कभी कभी

समाजके साक्षर व्यक्तियोंके द्वारा - ऐसे विद्वानोंके द्वारा भी जो अनेक बार बड़ी प्रबल युक्तियो और जोरोंके साथ सृतिपूजाका मडन कर चुके हो—इस समूची उपासना या इसके किसी एक अंगका विरोध क्यों होने लगता है ? यह एक प्रश्न है जो नि सन्देह विचारणीय है । हमारी रायमें इसका सीधा सादा उत्तर यही हो सकता है कि, जब उपासना अपने उद्देश्योंसे गिर जाती है, अथवा लक्ष्यसे भ्रष्ट और आदर्शसे च्युत होकर कोरी बुतपरस्ती रह जाती है, उसमें भाव नहीं रहता वह प्रायः प्राणरहित हो जाती है - उसके लिये किरायेके आदमी रखनेकी नौबत आ जाती है, उपासनाके नामपर समाजमें सूखा क्रियाकांड फैल जाता है, उसकी तहमें अनेक प्रकारके अत्याचारोंकी वृद्धि होने लगती है, उसमें व्यर्थके आडम्बर बढ़ जाते हैं और समाजकी शक्तिका दुरुपयोग होने लगता है, तब वह उपासना तात्त्विक दृष्टिसे उपयोगी होने हुए भी व्यावहारिक दृष्टिसे उपयोगी नहीं रहती और इसलिये उसका विरोध प्रारम्भ हो जाता है । विरोध करनेवाला मुख्य उद्देश्य उस समय प्रायः यही होता है कि, यदि समाजकी इस उपासनामें कुछ भी प्राण अवशिष्ट है तो उसे सजीवित किया जाय, अनेक प्रकारके उपायो द्वारा-उपासना तत्त्वकी पुटे देकर-उसमें अधिक प्राणका संचार किया जाय, और यदि प्राण बिल्कुल नहीं रहा है और न फिरसे उसका संचार हो सकता है तो उसके साथ उस मृतकशरीर-जैसा व्यवहार किया जाय जो अत्यन्त प्यारा और उपयोगी होते हुए भी प्राणरहित हो जानेपर घरमें नहीं रक्खा जा सकता । अथवा यो कहिये कि अपने विरोधके द्वारा वे यही सूचित करते हैं कि, उपासनाके शरीरमें अमुक अमुक खराबियाँ उत्पन्न हो गई हैं—उसके ढग बिगड़ गये हैं—उन्हे शीघ्र दूर किया जाय—सुधारा जाय—नहीं तो समूचे शरीरके नष्ट हो जानेका भय है, या शरीरका अमुक अङ्ग गल गया है उसका यदि प्रतिकार नहीं हो सकता तो उसे अलग कर दिया जाय, नहीं तो उसके ससंगसे दूसरा

अङ्ग भी खराब हो जायगा, इत्यादिक। जब समाजकी तरफसे इस विरोधकी कुछ सुनाई नहीं होती बल्कि उलटी खीचातानी बढ़ जाती है—समाज अपने दोषोंपर विचार नहीं करता और न अपनी उपासनामें जीवन-संचार करनेका कोई उपाय करता है, बल्कि उसे ज्योका त्यो अस्वस्थ दशामे ही रखना चाहता है और इस तरह उसकी हालत खराबसे खराबतर (ज्यादा खराब) होन लगती है—तब विरोध अपना उग्ररूप धारण कर लता है और उसके कारण हेया-देयका विचार नष्ट होकर, उपासनाके उन अच्छे अच्छे स्वस्थ अंगोंको भी धक्का पहुँच जाता है। जनकी धक्का पहुँचाना विरोधकारियोंको कभी इष्ट नहीं होता, और इस तरह एक अच्छी ओर उपयोगी सस्था समाजके दोषसे बहुत कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है और भावी सति उससे समुचित लाभोमें वंचित ही रह जाती है^१।

उपसंहार

इसलिये, समाजके व्यक्तियोंका यह खास कर्तव्य है कि वे उपासनाके तत्त्वको अच्छी तरहसे समझकर अपनी उपासनाके प्रत्येक अङ्ग और ढंगकी जाँच करें, और रुढ़ियोंके मोहको जलाञ्जलि देकर उन्हें विल्कुल उपासना-तत्त्वके अनुकूल बना लें। ऐसा हो जानेपर समाजके फिर किसी भी समझदार व्यक्तिको उनकी इस उपासना पर आपत्ति करनेकी कोई वजह नहीं रह सकती।

समाज-हर्तृषियोंको समाजमें इस उपासना-तत्त्वके फैलाने, शिक्षा-सस्थाओंमें पढ़ाए जान और इसके अनुकूल समाजकी प्रवृत्ति करानेका खास तौरसे यत्न करना चाहिए। इसीमें समाजका हित और इसीमें समाजका कल्याण है और इसी हितसाधनाकी दृष्टिसे यह निबन्ध लिखा गया है।

^१ जैनियोंमें स्थानबन्धनी और तारनगन्धी जैसे सम्प्रदाय ऐसी ही विरोधके परिणाम हैं।

उपासनाका ढंग

आजकल हमारी उपासना बहुत कुछ विकृत तथा सदोष हो रही है और इसलिये समाजमें उपासनाके जितने अंग और ढंग प्रचलित हैं उनके गुण दोषों पर विचार करनेकी बड़ी जरूरत है। उन पर स्वतंत्रताके साथ अनेक लेख लिखे जा सकते हैं। एक बार 'नौकरोसे पूजन कराना' नामका लेख अपने द्वारा लिखा भी गया था। इस समय उपासनाके ढंग-सम्बन्धमें सकेतरूपसे इतना ही कह देना काफी होगा कि, उपासनाका वही सब ढंग उपादेय है जिससे उपासनाके सिद्धान्तमें—उसके मूल उद्देश्योमें—कुछ बाधा न पड़ती हो। उसका कोई एक निर्दिष्टरूप नहीं हो सकता। भगवान् जिनेंद्रदेवने भी, अपनी दिव्यध्वनिके द्वारा उसका कोई एक रूप निर्दिष्ट नहीं किया। बल्कि, उन्होंने यह भी नहीं कहा कि तुम मेरी उपासना करना, मेरी मूर्ति बनाना और मेरे लिये मंदिर खड़ा करना। यह सब मंदिर-मूर्तिका निर्माण और उपासनाके लिये तरह-तरहके विधि-विधानोंका अनुष्ठान स्वयं भक्तजनो-श्रावकोंके द्वारा अपनी अपनी भक्ति तथा शक्ति आदिके अनुसार कल्पित किया गया है, और जो समय पाकर रूढ़ होता गया, जैसा कि श्रीमत्पात्रकेसरी स्वामीके निम्न वाक्यसे ध्वनित है—

विमोक्षसुख-चैत्य-दान-परिपूजनाद्यात्मिका
क्रिया बहुविधा सुमृन्मरण-पीडना-हेतवः ।

त्वया ज्वलितकेवलेन न हि देशिता किन्तु ता-
स्वयि प्रमृत्तभक्तिमि स्वयमनुष्ठिता आवकैः^१ ॥

पात्रोत्तरिस्तोत्र

और इसलिये उपासनाके जो विधिविधान आज प्रचलित हैं वे बहुत पहले प्राचीन समयमें भी प्रचलित थे ऐसा नहीं कहा जा सकता । उनमें देश-कालानुसार बराबर परिवर्तन होता रहा है । आज भी सपूर्ण देशोंमें और सपूर्ण सम्प्रदायोंमें एक ही प्रकारकी उपासना-विधि नहीं पाई जाती । जैनियोंमें तेरह और बीसपथका भेद बहुत ही स्पष्ट है और वह बहुत कुछ आधुनिक है । एक समय था जब कि जैनाचार्य वचन और शरीरको अन्य व्यापारोंसे हटाकर उन्हें अपने पूज्यके प्रति, स्तुति-पाठ करने और अजलि जोड़ने आदि रूपमें, एकाग्र करनेको 'द्रव्यपूजा' और उसी प्रकारसे मनके एकाग्र करनेको 'भावपूजा' मानते थे, जैसा कि श्रीअमृतमति आचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

वचोविग्रह-सकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते ।

तत्र मानससंकोचो भावपूजा पुरातनैः ॥ (उपासकाचार)

इसके बाद वह समय भी आया जब कि देशमें नैवेद्य, दीप, धूप और फल-पुष्पादिकके द्वारा देवताओंकी पूजाने जोर पकड़ा और वही द्रव्यपूजा कहलाई जाने लगी । हिन्दू देवताओंके सदृश जिनेंद्र-देवोंका भी आवाहन और विसर्जनादिक होने लगा और (जैनसि-

१ इसमें बतलाया है कि 'विमोक्ष-सुखके लिये चैत्य-चैत्यालया-दिक्का निर्माण, दानका देना, पूजनका करना, इत्यादि रूपसे जितनी क्रियाएँ हैं और जो अनेक प्रकारसे त्रम-स्थावर प्राणियोंके मरण तथा पीड़नकी कारणीभूत हैं उन सब क्रियाओंका हे केवलज्ञानी भगवान् । आपने उपदेश नहीं दिया, बल्कि आपका भक्तजन आवकोंने स्वयं ही (आपकी भक्ति आदिके वश) उनका अनुष्ठान किया है ।'

दातोंके प्रतिकूल भी) यह समझा जाने लगा कि वे भी बुलानेसे आते, बिठलानेसे बैठते, ठहरानेसे ठहरते और पूजनके बाद रुखसत करने पर अपना यज्ञ-भाग लेकर चले जाते हैं, जैसा कि पूजनके अत्र अवतर अवतर तिष्ठ तिष्ठ ठ ठ ' इत्यादि पाठों और विसर्जनके निम्न पाठसे प्रगट है—

‘आहूता ये पुरा देवा लब्धभागा यथाक्रम ।

ते मयाऽभ्यर्चिता भक्त्या सर्वे यान्तु यथास्थितिम् ॥

ऊपरकी यह बात जैनसिद्धान्तोंके अनुकूल न होते हुए भी समाजमें प्रचलित हो गई और किसी प्रकारसे उपासनाका एक अंग बन गई । अस्तु, अब मदिरोको लीजिये । मदिरोके निर्माण करनेमें मूर्तिकी रक्षा आदिके सिवाय ‘लोकसग्रह’ का गहरा तत्त्व छिपा हुआ था, जिसे बादको लोगोंने भुला दिया और अपनी अपनी मान-कषाय, नामवरीकी इच्छा या कुछ सुभीते आदिके खयालसे विना ज़रूरत भी एक स्थानपर बहुतसे मदिरोके निर्माण-द्वारा सघशक्तिको बाँटकर—उसके टुकड़े टुकड़े करके—उक्त तत्त्वकी उपयोगिताको नष्ट-अष्ट कर दिया । इसी तरह मदिरोमें छोटी छोटी मूर्तियोंकी समूह-वृद्धिने उपासकोंके हृदयमें यह खलबली उत्पन्न कर दी कि वे कितने समयमें किस किस मूर्तिकी उपासना करे, किसका ध्यान लगावें और किस परसे परमात्माका चिन्तन करें । अतः ऐसे स्थानों पर दो एक शब्दोंको बड़बुड़ाने और आगे सरकनेका ही काम रह गया, मूर्ति परसे परमात्माके ध्यान और चिन्तनकी बात प्रायः जाती रही । साथ

१ इस पद्यमें विसर्जन करते हुए कहा गया है कि ‘जिन जिन देवोंको मैंने पहले बुलाया है वे सब भक्तिपूर्वक मेरे द्वारा पूजे जाने पर अब अपने अपने यज्ञ-भागको लेकर क्रमसे अपने अपने स्थान जाओ’ ।

यह पद्य भी जैन-तर-हिन्दू-पूजापद्धति का पद्य है, जो किसी तरह अपनी पूजापद्धतिमें शामिल होगया है ।

ही मूर्तियोंकी माँग बढनेसे उनकी निर्माण-विधिमें शिथिलता आगई । पहले मूर्ति बनानेवाला और बनवानेवाला दोनों मूर्तिके तैयार होने तक जिस यम-नियमादिके साथ रहते थे और जिस विधिविधानके साथ पाषाणकी उसकी खानसे जाकर लाते थे वह सब बात उठ गई, शिल्पियोंकी दुकाने खुल गई जिनमें हर समय मूर्तियाँ तैयार मिलने लगी और लोभी प्रतिष्ठाचार्य कुछ दक्षिणा लेकर या वैसे ही अपने अज्ञानादि भावोंसे प्रेरित होकर उन्हें पास करने लगे । नतीजा जिसका यह हुआ कि उपासनामें वह भाव नहीं रहा जो होना चाहिये था और कितने ही स्थानोंपर ऐसी बेडौल, भद्दी तथा अशाम्भ्रसम्मत मूर्तियाँ भी पाई जाने लगी जिन्हें देखकर ध्यान जमनेके बजाय उलटा उखड़ जाता है ।

जैनियोंके मंदिर, पहले आमतौर पर, बहुत कुछ सादा और आडम्बररहित होते थे और उनमें उपासनाके उद्देश्योंकी सहायक तथा साम्य-भावकी पोषक सामग्री ही विशेष रहा करती थी । परंतु जब देशके दूसरे समाजोंके मंदिरोंमें आडम्बरोकी वृद्धि हुई, शान-शौकत अथवा राजसी ठाठ-बाटोने अपना रंग जमाया, उनमें अनेक प्रकारके रास, नाटक, खेल, तमाशे होने लगे और उन्हें देखनेके लिये जैनी भी खिच-खिच कर वहाँ जाने लगे, तब जैनियोंके मंदिरोंका भी नकशा बदल गया, उनमें भी गाने बजाने और नाचनेका सामान जोड़ा गया, आपसमें एक दूसरेसे मुकाबला होने लगा और प्रतिस्पर्धा बढ गई । साथमें, कुछ अदूरदृष्टता भी शामिल हो गई । नतीजा इस सबका यह हुआ कि उपासनाका भाव दिन पर दिन कम होता गया, कोरी नुमायश, लोक-दिखावा और रुढ़िका पालन रह गया और उसने बीतराग भगवानकी उपासनाके लिये भी नौकरोकी जरूरत उपस्थित करदी ॥ मंदिरोंकी सजावट उस वक्तसे आज तक इतनी बढ गई है कि उसके कारण दर्शकोंका मन मूर्तिके बीतराग-भावको ग्रहण करनेकी ओर बहुत ही कम प्रवृत्त होता है, उसे अवसर ही

नही मिलता, वह इधर उधरके सुनहरे कामो और रागवर्धक चित्रो-
मे ही उलभा रहता है ।

पूजन-साहित्यका भी ऐसा ही हाल है । वह भी इसी चक्करमे पडकर बहुत कुछ बदल गया है । पुराने ग्रन्थ इस विषयमे आजकल बहुत ही कम उपलब्ध है और जो मिलते है उनके और आधुनिक पूजा-ग्रन्थोके भावोमे बहुत बडा अन्तर है । प्राचीन भक्ति-पाठोका प्रचार भी अब बहुत ही कम देखनेमे आता है । आजकल वे ही पूजा-पुस्तक ज्यादा पसद की जाती हैं जो अपनी छन्द-सृष्टिकी दृष्टिसे गाने-बजानेमे अधिक उपयोगी होती है । चाहे उनका साहित्य और उसमे उपासनाका भाव कितना ही घटिया क्यों न हो लोगोका ध्यान प्रायः स्वर, ताल और लयकी ओर ही विशेष रहता है, अर्थात् विबोधके द्वारा परामा माके गुणोमे अनुराग बढ़ानेकी ओर नही । और भी कितनी ही बातें हैं जो स्वतन्त्र लेखो-द्वारा ही प्रगट की जा सकती हैं । विज्ञापाठक इतने परसे ही समझ सकते हैं कि हमारी उपासनाका ढग समय-समयकी हवाके झकोरोसे कितना बदल गया है । उसके बदलनेमे कोई हानि न थी, यदि वह उपासना-तत्त्वके अनुकूल बना रहता । परन्तु ऐसा नही है, वह कितने ही अशोमे उपासनाके मूल सिद्धान्तो तथा उद्देश्योसे गिर गया है, और इसलिये इस समय उसको सभालने उठाने तथा उद्देश्यानुकूल बनाकर उसमे फिरसे नव-जीवनका सचार करनेकी बड़ी जरूरत है । समाजहितैषियोको चाहिए कि वे इस विषयमे अपना मौन भग करे अपनी लेखनी उठाएँ, जनता-को उपासना-तत्त्वका अच्छा बोध कराते हुए उसकी उपासनाविधिके गुण-दोषोको बतलाएँ—सम्यक् आलोचना-द्वारा उन्हें अच्छी तरहसे व्यक्त और स्पष्ट करे—और इस तरह उपासनाके वर्तमान ढगमे समुचित सुधारको प्रतिष्ठित करनेके लिये जी-जानसे प्रयत्न करे । ऐसा होनेपर समाजके उत्थानमें बहुत कुछ प्रगति हो सकेगी ।

देशकी वर्तमान परिस्थिति और हमारा कर्तव्य

(अंग्रेजी राज्यकालसे सम्बद्ध)

आजकल देशकी हालत बहुत ही नाजुक हो रही है। वह चारों ओर अनेक प्रकारकी आपत्तियोंसे घिरा हुआ है। जिधर देखो उधर-से ही बड़े बड़े नेताओं और राष्ट्रके सच्चे शुभचिन्तकोंकी गिरफ्तारी तथा जेल-यात्राके समाचार आ रहे हैं। एक विकट सप्ताह उपास्थित है। सरकार (नौकरशाही) पूरे तीरसे दमन पर उतर आई है और लक्ष्मणोंसे ऐसा पाया जाता है कि वह भारतीयोंकी इस बढ़ती हुई महत्वाकांक्षा (स्वराज्यप्राप्तिकी इच्छा) को दबाने और उनके संपूर्ण न्याय्य विचारोंको कुचल डालनेके लिये सब प्रकारके अत्याचारोंको करने कराने पर तुली हुई है। वह देशके इस महाव्रत (अहिंसा-शांति) को भग कराकर उसे और भी ज्यादा पददलित करना और गुलामीकी ज़िज़ीरोसे जकड़ना चाहती है और इसके लिये बुरी तरह-से उन्मत्त जान पड़ती है। इस समय सरकारका असली 'नग्न' रूप बहुत कुछ स्पष्ट दिखाई देने लगा है और यह मालूम होने लगा है कि वह भारतकी कहाँ तक भलाई चाहनेवाली है। जो लोग पहले ऊपरके मायामय रूपको देखकर या बुरकेके भीतर रूपराशिकी कल्पना करके ही उस पर मोहित थे, वे भी अब पर्दा (नकाब) उठ जाने तथा आच्छादनोके दूर हो जानेसे नग्न रूपके दर्शन करके,

अपनी भूलको समझने लगे हैं और यह देशके लिये बड़ा ही शुभ चिन्ह है।

यह देशकी अग्नि-परीक्षाका अथवा उससे भी अधिक किसी दूसरी काठन परीक्षाका समय है। और इसी अन्तिम परीक्षा पर भारतका भविष्य निर्भर है। यदि हम इस परीक्षामे उत्तीर्ण हो गये—सब कुछ कष्ट सहन करके भी हमने शांति बनाये रखी और किसी प्रकारका कोई उपद्रव या उत्पात न किया तो स्वराज्य फिर हाथमे ही समझिये, उसके लिये एक कदम भी आगे बढ़ानेकी जरूरत न होगी। और यदि दुर्भाग्यसे हम इस परीक्षामे पास न हो सके—हमने हिम्मत हार दी—तो फिर हमारी वह दुर्गति बनेगी और हमारे साथ वह बुरा सलूक किया जायगा कि जिसकी कल्पना मात्रसे शरीरके रोगटे खड़े हो जाते हैं। उस समय हम गुलामोंसे भी बदतर गुलाम ही नहीं होंगे बल्कि “जिन्दा दरगोर” होंगे और पशुओंसे भी बुरा जीवन व्यतीत करनेके लिये बाध्य किये जायेंगे। और इस आपत्तिके स्थायी पहाड़का संपूर्ण बोझ उन लोगोंकी गर्दन पर होगा और वे देशके द्रोही समझे जायेंगे जो इस समय देशका साथ न देकर ऐसी परिस्थितिको लानेमे किसी न किसी प्रकारसे सहायक बनेगे।

देशकी किशती (नौका) इस समय भँवरमे फँसी हुई है और पार होनेके लिये सयुक्त बलके सिर्फ एक ही चक्केकी प्रतीक्षा कर रही है। ऐसी हालतमे वह भँवरमे क्यों फँसी, गहरे जलमे क्यों उतारी गई और क्यों भँवरकी ओर खेई गई, इस प्रकारके तर्क-वितर्कका या किसीके शिकवे-शिकायत सुननेका अवसर नहीं है। पार होनेके लिये, उसे गहरे जलमें उतरना ही था, दूसरा मार्ग न होनेसे भँवरकी ओर उसका खेया जाना अनिवार्य था और इसलिये भँवरमे फँसना भी उसका अवश्य-भावी था, यही सब सोच समझकर अब हमें अपने

सयुक्त बलके द्वारा उसे भँवरसे निकाल कर पार लगाना चाहिए। और इमलिये प्रत्येक भारतवासीका इस समय यह मुख्य कर्तव्य है कि वह देशकी वर्तमान परिस्थितिको समझकर उममे देशको उबारने और ऊँचा उठानेका जी-जानसे यत्न करे। उसे अपने क्षणिक सुखोपर लात मारकर भारतमाताकी सेवामे लग जाना चाहिए और माताको पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करानेके लिए उस महामन्त्रका आराधन करना चाहिए जिसे महात्मा गांधीजीने अपने दिव्य-ज्ञानके द्वारा मालूम करके एक अमोघ शस्त्रके रूपमे प्रगट किया है और जिसे भारतकी जातीय महासभा (कांग्रेस) ने अपनाया ही नहीं बल्कि भारतके उद्धारका एकमात्र उपाय स्वीकृत किया है। और वह महामन्त्र है 'असहयोग'।

हम अनेक तरीको अथवा मार्गोंसे सरकारको उसके शासन-कार्य-मे जो मदद पहुँचा रहे हैं, उस मददसे हाथ खींच लेना और उसे बढ़ कर देना ही 'असहयोग' है। और यह ऐसा गुस्मन्त्र है कि इस पर पूरे तौरसे अमल होते ही कोई भी अन्यायी सरकार एक दिनके लिये भी नहीं टिक सकती। प्रजाहित-विरोधी सरकारको ठीक मागपर लानेके लिये इससे अच्छा दूसरा उपाय नहीं हो सकता। परन्तु इस पर अमल करनेवालोको स्वयं अहिंसक, अत्याचार-रहित, निष्पाप और प्रेमकी मूर्ति बन जाना होगा, तभी उन्हें सफलता मिल सकेगी। यह नहीं हो सकता कि हम स्वयं तो अन्याय, अत्याचार और पापकी मूर्ति बने रहे और दूसरोके इन दोषोंको छुड़ानेका दावा करे। यदि हम खुद दूसरोपर अन्याय और अत्याचार करते हैं तो हमें इस बातकी शिकायत करनेका कोई अधिकार नहीं है कि हमारे ऊपर क्यों अन्याय और अत्याचार किये जाते हैं। यदि हमारा आत्मा स्वयं पापोंसे मलिन है तो हम दूसरोके पाप-मलको दूर करानेके पात्र नहीं हो सकते। इसीसे असहयोगका यह संध्याम आत्मशुद्धिका एक यज्ञ माना गया है, जिसमे हमें अपने उन संपूर्ण दोषों, त्रुटियों और कम-जोरियोंकी आहुतियाँ देनी होंगी जिनसे लाभ उठाकर ही सरकार

हम पर शासन कर रही है और हमें काठकी पुर्तलियोंकी तरहसे नचा रही है। और यही वजह है कि कांग्रेसने इस महामन्त्रकी साधनाके लिये, साधनोपायके तौरपर, चार मुख्य शर्तें रखी है, जिन्हें चार प्रकारके व्रत अथवा तप कहना चाहिए और जिनका पालन करना प्रत्येक असहयोगी तथा देशप्रेमीका प्रथम कर्तव्य है। वे चार शर्तें हैं १ अहिंसा-शांति, २ स्वदेशी, ३ हिन्दू-मुसलिम-एकता और ४ अखण्ड-तोद्धार। इनमें भी अहिंसा तथा शांति सबसे प्रधान हैं और वही इस समय खसूसियतके साथ कसौटी पर चढ़ी हुई है।

हमें कसौटीपर सच्चा उतरने और वर्तमान परीक्षामें पास होनेके लिये इस वक्त देशके सर्वप्रधान नेता महात्मा गांधीकी उन उदार और महत्वपूर्ण शिक्षाओंपर पूरी तौरसे ध्यान देनेकी खास जरूरत है जो बराबर उनके पत्रों यग इंडिया, नवजीवन और हिन्दी नवजीवनमें प्रकाशित हो रही है। हमारा इस समय यही खास एक व्रत हो जाना चाहिए कि हम जैसे भी बनेगा, सब कुछ सहन करके शांतिकी रक्षा करेंगे, सरकारकी ओरसे शांति भंग करानेकी चाहे जितनी भी उत्तेजना क्यों न दी जाय और चेष्टाएँ क्यों न की जायें परन्तु हम शांतिको जरा भी भंग न होने देंगे—अपनी तरफसे कोई भी ऐसा कार्य न करेंगे जिसका लाजिमी नतीजा शांति-भंग होता हो—और बराबर अपने निर्दिष्ट मार्गमें आगेकी ओर कदम बढ़ाते हुए अमन कायम रखेंगे। इसीमें सफलताका सारा रहस्य छिपा हुआ है।

सकटकी जो घटाएँ इस समय देश पर छाई हुई हैं वे सब क्षणिक हैं और हमारी जाँचके लिये ही एकत्र हुई जान पड़ती हैं। उनसे हमें ज़रा भी घबराना और विचलित होना नहीं चाहिए। मंत्रों तथा विद्याओंके सिद्ध करनेमें उपसर्ग आते ही हैं। जो लोग उन्हें धैर्य और शांतिके साथ भेल लेते हैं वे ही सिद्धि-सुखका अनुभव करते हैं। असहयोग-मन्त्र और स्वराज्य-निधिकी सिद्धिके लिये हमें भी कुछ उपसर्गों तथा सकटोंको धैर्य और शांतिके साथ सहन करना होगा,

तभी हम स्वराज्य-सिद्धि के द्वारा होनेवाले अग्रणीत लाभोसे अपनेको भूषित कर सकेंगे। बिना कष्ट-सहनके कभी कोई सिद्धि नहीं होती।

सरकारको पहले असहयोगकी साधनामें विश्वास नहीं था। वह उसकी चर्चाको महज एक प्रकारकी बकवाद और बच्चोकासा खेल समझती थी। परंतु अबतक इस दिशामें जो कुछ काम हुआ है, उससे जान पड़ता है कि सरकारका आसन डोल गया है और वह उसे थामनेके लिये अब बिल्कुल ही आपसे बाहर हो गई है। उसने इस बातको भुला दिया है कि प्रजा पर ही राज्यका सारा दारोमदार (आधार) है। प्रजाको असंतुष्ट रखकर उसपर शासन नहीं किया जा सकता और न डरा-धमकाकर किसीको सत्यकी सेवासे बाज रक्खा जा सकता है। उसकी हालत बहुत ही घबराई हुई पाई जाती है और ऐसा मालूम होता है कि वह इस समय 'मरता क्या न करता' की नीतिका अनुसरण कर रही है। यही वजह है कि उसने अपनी उस घबराहटकी हालतमें मनमाने कानून बनाकर कानूनोंका मनमाना अर्थ लगाकर और मनमानी आज्ञाएँ जारी करके, देशके प्रायः सभी सेवकों, शुभचिंतकों, सहायकों और बड़े बड़े पूज्य नेताओं तकको बड़ी तेजीके साथ गिरफ्तार करना और मनमानी सजा देकर जेलमें भेज देना प्रारंभ कर दिया है। इस कार्रवाईसे सरकारकी बड़ी ही कमजोरी पाई जाती है और इससे उसने अपनी रही सही श्रद्धाको भी प्रजाके हृदयोंसे चलायमान कर दिया है। शायद सरकारने यह समझा था और अब भी समझ रक्खा है कि इस प्रकारकी पकड़-धकड़के द्वारा वह प्रजाको भयकम्पित बनाकर और उसपर अपना अनुचित रौब जमाकर उसे अपने पथसे भ्रष्ट कर देगी, और इस तरहपर देशमें स्वराज्य तथा स्वाधीनताकी जो आग सुलग

१ लार्ड रीडिंगने स्वयं अपनी घबराहटको स्वीकार किया है।

देखो, 'बन्देमानरम्' ता० १६-१२-१९२१

रही है वह या तो एकदम बुझ जायगी और या जनता उत्तेजित होकर अशांति धारण करेगी, कुछ उपद्रव तथा उत्पात मचावेगी और तब उसे पशु-बलके द्वारा कुचल डाला जायगा। परन्तु परिणाम इन दोनोंमेंसे एक भी निकलता हुआ मालूम नहीं होता। सरकारके निष्ठुर व्यवहार और निरपराधियोंकी इस पकड़-धकड़ने उन लोगोंके वज्र-हृदयको भी द्रवीभूत कर दिया है और वे भी सरकारकी इस घातक पालिसीकी निन्दा करने लगे हैं, जो अभी तक इस आन्दोलनमें शरीक नहीं थे और बिन्कुल ही तटस्थ रहते थे अथवा सरकारके सहायक बने हुए थे। स्वराज्यकी आग बुझने अथवा दबनेके बजाए (स्थानमें) और अधिकाधिक प्रज्वलित हो रही है और सरकारके इस दमनने उस पर मिट्टीका तेल छिड़कनेका काम किया है। लोगोंका उत्साह बराबर बढ़ रहा है और वे स्वराज्य-सेनामें भरती होकर खुशी खुशी हजारोंकी सख्यामें भुङ्के भुङ्क जेल जा रहे हैं और ऐसी जेल-यात्राको अपना अहोभाग्य समझ रहे हैं, जो देशके उद्धार और उसे गुलामीसे छुड़ानेके उद्देश्यसे कीजाती है। यह सब कुछ होते हुए भी अशांतिका कही पता नहीं। ला० लाजपतराय, पं० मोतीलाल नेहरू, मौ० अबुलकलाम आजाद और देशबन्धु सी० आर० दास जैसे बड़े-बड़े नेताओं तथा कुछ प्रतिष्ठित महिलाओंके पकड़े जाने और जेल भेजे जानेपर भी लोग शांत रहे। लार्ड रीडिंगने, शांतिके इस यज्ञके समय, तलवारसे स्वराज्य मिलना बतलाया। और इस तरह पर, प्रकारांतरसे हिंसाको उत्तेजना दी। परन्तु फिर भी किसीने तलवार उठाकर हिंसा करना नहीं चाहा और न शांतिको भंग करना पसंद किया। यह सब, अधिकांशमें महा मा गांधीजीके उस महान् उपवासका फल है जो उन्होंने बम्बईकी अशांतिके समय धारण किया था। इस उपवासने देशवासियोंके हृदयमें शांति और अहिंसाकी उस ज्योतिकी, जो पहले कुछ दुर्बल और कम्पित अवस्थामें थी, बहुत कुछ दृढ़ और बलाढ्य बना दिया है। ऐसी हालतमें यदि यह कहा

जाय कि सरकारने, इस कृत्यके द्वारा, अपने पैरमे आप ही कुल्हाड़ी मारी है, तो शायद कुछ अनुचित न होगा। यह इस अनुचित दमनका अथवा इन बेजा और बेमौका सख्तियोंका ही नतीजा है जो भारतमें प्रिन्स आफ वेल्सका उतना भी स्वागत नहीं हो रहा है जो कि दूसरी हालतमें जरूर होता। उच्चाधिकारियोंने शायद यह सोचा था कि बड़े बड़े लीडरोको जेलमें भेज देनेसे हम जनताके द्वारा शाहजादे साहबका अच्छा स्वागत करा सकेंगे। परन्तु मामला उससे बिल्कुल उलटा निकला और वे पहली खट्टी छाछसे भी गये।

हमारी रायमें यदि सरकार सचमुच ही भारतका हित चाहनेवाली है, तो उसका यह कार्य बहुत ही अदूरदर्शिता और नासमझीका हुआ है। इस समय सरकार अधिकार-मदसे उन्मत्त है। वह किसीकी कुछ सुनती नहीं और न स्वयं उसे कुछ सूझ पड़ता है। तो भी प्रजाकी ओरसे बराबर शांति-जल छिड़का जानेपर जब उसका नशा उतरकर उसे होश आवेगा तो वह जरूर अपनी भूल मालूम करेगी और उसे अपनी वर्तमान कृति (कर्तूत) पर घोर पश्चात्ताप होगा।

परन्तु सरकारके इस चक्करमें पड़कर कहीं हमें भी भूल न कर बैठना चाहिए। हमें समझना चाहिए कि जिसका आसन डोलता है, वह उसके थामनेकी सभी कुछ चेष्टाएँ किया करता है। घबराया हुआ मनुष्य क्या कुछ नहीं कर बैठता ? और यही सब सोच समझ कर हमें अपने कर्तव्यके पालनमें बहुत ही सतर्क और सावधान रहने की जरूरत है। ऐसा न हो कि सरकारके किसी घृणितसे घृणित कार्य पर उत्तेजित होकर, कष्टोंको सहन करनेमें कायर बनकर और इष्ट-मित्रादिकोंके वियोगमें पागल होकर, हम अशांति कर बैठें और हिंसा पर उतर आवें। यदि ऐसा हुआ तो सर्वनाश हो जायगा। सारी करी करी पर पानी फिर जायगा और सरकारका काम बन जायगा, क्योंकि सरकार इस आन्दोलनको बन्द करके हमारे चुप

न बैठनेकी हालतमें, ऐसा चाहती ही है और इसीमें अपना कल्याण समझती है। परंतु हमारे लिये यह बिल्कुल ही अकल्याणकी बात होगी। हम पशुबलके द्वारा सरकारको जीत नहीं सकते—इस विषयके साधन उसके पास हमसे बहुत ही ज्यादा हैं—औरन इस प्रकारकी जीत हमें इष्ट ही है, क्योंकि वास्तवमें ऐसी जीत कोई जीत नहीं हो सकती। उसमें हृदयका काँटा बराबर बना रहता है। हाँ, आत्मबलके द्वारा हम उसपर जरूर विजय पा सकते हैं, और यही सच्ची तथा स्थायी जीत होगी। सरकार यदि पशुबलका प्रयोग करती है तो उसे करने दीजिए। हमारी नीति उसके साथ 'शठ प्रति शाठ्य' की न होनी चाहिए—हमें पशुबलका उत्तर आत्मबलके द्वारा सहनशीलतामें देना होगा और इसीमें हमारी विजय है। हमें क्रोधको क्षमासे अन्यायको न्यायसे, अशांतिको शांतिसे और द्वेषको प्रेमसे जीतना चाहिए, तभी स्वराज्य-रसायन सिद्ध हो सकेगी। हमारा यह स्वतंत्रताका युद्ध एक धार्मिक युद्ध है और वह किसी खास व्यक्ति अथवा जातिके साथ नहीं बल्कि उस शासन-पद्धतिके साथ है जिसे हम अपने लिये घातक और अपमान-मूलक समझते हैं। हम इस शासन-पद्धतिको उलट देना अथवा उसमें उचित सुधार करना जरूर चाहते हैं, परंतु ऐसा करनेमें किसी जाति अथवा शासन-विभागके किसी व्यक्तिसे घृणा (नफरत) करना या उसके साथ द्वेष रखना हमारा काम नहीं है। हमें बुरे कामोंसे जरूर नफरत होनी चाहिए परंतु बुरे कामोंके करनेवालोंसे नहीं। उन्हें तो प्रेमपूर्वक हमें सन्मार्ग पर लाना है। नफरत करनेसे वह बात नहीं बन सकेगी।

यदि हम किसी व्यक्तिको प्रेमके साथ समझा-बुझाकर सन्मार्ग पर नहीं ला सकते हैं तो समझना चाहिए कि इसमें हमारा ही कुछ खोटा है, अभी हम अयोग्य हैं, और इसलिये हमें अपने उस खोटा तथा अयोग्यताको मालूम करके उसके दूर करनेका सबसे पहले यत्न करना चाहिए। उसके दूर होते ही आप देखेंगे कि वह कैसे सन्मार्ग

पर नहीं आता है । जरूर आवेगा । सच्चे भावों, सच्चे हृदयसे निकले हुए वचनों और सच्चे आचरणोंका असर हुए बिना नहीं रह सकता । इसी बातको दूसरे शब्दोंमें यो समझना चाहिए कि यदि हम देखते हैं कि हमारा एक भाई विदेशी कपड़ा पहनना और विदेशी कपड़ोंका व्यापार करना नहीं छोड़ता—उस पर आग्रह रखता है—अथवा सरकारको उसके अन्याय और अत्याचारोंमें किसी न किसी तौरपर (सेवामें रहकर या दूसरे तरीकेसे) मदद दे रहा है तो, हमें उसको एक प्रकारसे पतित अथवा अनभिज्ञ समझना चाहिए—मार्ग भूला हुआ मानना चाहिए—और-उसके उद्धारके लिये, उसे यथार्थ वस्तुस्थितिका ज्ञान कराने और ठीक मार्गपर लाने-के वास्ते हर एक जायज (समुचित) तरीकेसे समझानेका यत्न करना चाहिए । और जब तक वह न समझे तब तक अपने भावों और आचरणोंमें त्रुटि समझकर—अपने ज्ञानको उस कामके लिये अपर्याप्त मानकर—आत्मशुद्धि और स्वज्ञान-वृद्धि आदिके द्वारा अपनी त्रुटियोंको दूर करते हुए बराबर उसको प्रेमके साथ समझाने और उसपर अपना असर डालनेकी कोशिश करते रहना चाहिए । एक दिन आवेगा जब वह जरूर समझ जायगा और सन्मार्गको ग्रहण करेगा । चुनांचे ऐसा बराबर देखनेमें आ रहा है । जो भाई पहले विदेशी कपड़ोंको नहीं छोड़ते थे वे आज खुशी-खुशी उसका त्याग कर रहे हैं ।

परन्तु जो लोग अपनी बात न माननेवाले भाइयों पर कुपित होते हैं, नाराजगी जाहिर करते हैं, उन्हें कठोर शब्द कहते हैं, धमकी देते हैं, उनके साथ बुरा सलूक करते हैं, उनका मजाक उड़ाते हैं, अपमान करते हैं बायकाट करके अथवा धरना देकर उन पर अनुचित दबाव डालते हैं, अनेक प्रकारकी जबरदस्ती और जबरसे काम लेते हैं, और इस तरह दूसरोंकी स्वतन्त्रताको हरण करके उन्हें उनकी इच्छाके विरुद्ध कोई काम करने या न करनेके लिये मजबूर करते

हैं, वे सख्त गलतीमें हैं और बहुत बड़ी भूल करते हैं। उनका यह सब व्यवहार (तर्ज-तरीका) स्वतंत्रताके इस संग्रामकी नीतिके बिल्कुल विरुद्ध है और हिसाके रगमे रगा हुआ है। जान पड़ता है ऐसे लोगोंने स्वतंत्रताके इस धर्म युद्धका रहस्य नहीं समझा। वे अभी क्रोधादिक अन्तरंग-शत्रुओंसे पीड़ित हैं, उन्होंने अपने कषायोंको (जजबातको) दमन नहीं किया, अपनी कमजोरियों पर काबू नहीं पाया, और इसलिये उन्हें निर्बल समझना चाहिए। ऐसे निर्बल और गुमराह मार्ग भूले हुए) सैनिकोंसे स्वतंत्रताका यह मैदान नहीं लिया जा सकता। ऐसे लोग बहुधा कार्य-सिद्धिमें उलटे विघ्नस्वरूप हो जाते हैं। बम्बईका हंगामा (दंगा) और मोपलोका उपद्रव ऐसे ही लोगोंकी कर्तूतोंके फल हैं। इसलिये यदि हम स्वराज्य चाहते हैं तो हमें अपनी और अपने भाइयोंकी इन त्रुटियों और कमजोरियोंको भी दूर करना चाहिए। इनके दूर हुए बिना हम बलवान नहीं हो सकते, न साधारण जनताकी सहानुभूतिको अपनी ओर खींच सकते हैं और न आगे ही बढ़ सकते हैं।

हमारा मुख्य कर्तव्य इस समय यही होना चाहिए कि हम विश्वप्रेमको अपनाएँ, उसे अपना मूल-मंत्र बनाएँ, सर्वत्र प्रेमकी ज्योति जगाएँ, जो कुछ काम करे उसमें ढोंग या पक्षपात न हो और जो काम दूसरोंसे कराएँ वह भी उसी प्रेमके आधार पर कराएँ—उसमें जरा भी जबर, सख्ती या जबरदस्तीका नाम न हो। साथ ही, हमें स्वराज्यकी नीतिको, स्वराज्यसे होनेवाले लाभोंको वर्तमान असहयोग आन्दोलनके अमली में लाव मानी (आशय तथा अर्थ) को और अहिंसाके गहरे तत्त्वको बहुत खुले शब्दोंमें समझाकर साधारण जनता पर प्रगट करना चाहिए, जिससे कोई भी शस्त्र किसी प्रकारके धोखेमें न रह सके। और अपने आचार-व्यवहारके द्वारा हमें पब्लिकको इस बातका पूरा विश्वास दिलाना चाहिए कि उनकी वजहसे कोई भी भारतवासी—चाहे वह हिन्दू, मुसलमान

अंगरेज, पारसी, ईसाई और यहूदी आदि कोई भी क्यों न हो— अपने जानमालको ज़रा भी खतरे (जोखो) में न समझे। हमें गुंडों बदमाशों तथा उपद्रवी लोगोसे नफरत करके उन्हें बिल्कुल ही स्वतंत्र न छोड़ देना चाहिए, बल्कि उनसे मिलकर उन्हें सेवा-सुश्रूषा और सद्व्यवहारादिकके द्वारा अपने बनाकर काबू में रखना चाहिए। और अपने असरसे उनके दुष्कर्मों तथा बुरी आदतोंको छुड़ा कर शांति-स्थापनके कार्यको और भा ज्यादा दृढ़ बनाना चाहिए, प्रत्येक नगर और ग्राममें ऐसा मुद्रवध करना चाहिए जिससे कहीं कोई चोरी, डकैती अथवा लूटमार न हो सके, कोई बलवान किसी निर्बलको न सता सके, आपसके झगड़े-टटे सब पचायतो द्वारा तै (फैसल) हुआ करे, सबका जान-माल सुरक्षित रहे और इस तरह पर लोगोको स्वराज्यके आनंदका कुछ अनुभव होने लगे और वे यह समझने लगें कि, सरकारकी सहायताके बिना भी हम अपनी रक्षा आदिका प्रबध स्वयं कर सकते हैं और उससे अच्छा कर सकते हैं।

लोकमतके इतना शुद्ध और कर्तव्यनिष्ठ होनेपर स्वतंत्रता-देवी अवश्य ही भारतके गलेमें वरमाला डालेगी, इसमें ज़रा भी सदेह नहीं है। अतः हम सबको मिलकर सच्चे हृदयसे इसके लिये प्रयत्न करना चाहिए। इस समय आपसके झगड़े टटो, मतभेदों और धार्मिक-विस-वादोंका अवसर नहीं है। उन्हें भुलाकर प्रत्येक भारतवासीको देशके मामलेमें एक हो जाना चाहिए और देशके उद्धार-विषयक कामोंमें यथाशक्ति भाग लेना चाहिए। जो लोग अपनी किसी कमजोरीकी वजहसे ऐसे कामोंमें कुछ हिस्सा नहीं ले सकते और न अपनी कोई खास सेवा देशको अर्पण कर सकते हैं, उन्हें कमसे कम इस ओर अपनी सहानुभूति ही रखनी चाहिए और बिगाड़का तो ऐसा कोई भी काम उनकी तरफसे न होना चाहिए जिससे देशके चलते हुए काममें रोड़ा अटक जाय। यदि उनका कोई इष्ट-मित्रादिक अथवा देशका प्यारा नेता देशके लिये, बिना कोई अपराध किये, जेल जाता

है तो उसे खुशीसे जाने दिया जाय। हाँ, यदि वे उससे सच्चा प्रेम रखते हैं तो उसके उस शुभ कामको सभाले और खुद उसको करना प्रारम्भ करे, जिसको करते हुए वह महामना जेल गया है। और यदि करनेके लिये असमर्थ हैं तो कृपया उसके नाम पर हुल्लड मचाकर अथवा दगा फिसाद करके व्यर्थ ही ससारकी शातिको भग्न न करे। उनकी इतनी भी सेवा स्वराज्य-प्राप्तिके इस महायज्ञके लिये काफी होगी।

हालके समाचारोंसे हमें यह मालूम करके बहुत ही आनन्द होता है कि देशने इस वक्त, जब कि गिरफ्तारियों और जेल-यात्राओंका समुद्र चारों ओरसे बेहद मौजे मारता हुआ उमड़ रहा है, बहुत ही धैर्य और शांतिसे काम लेकर अपनी साबितकदमीका परिचय दिया है। और यह उसके लिये बहुत बड़े गौरवकी बात है और उसकी कामयाबीका एक अच्छा खासा सबूत है। यदि हमारे भाई कुछ दिनों तक और इसी तरह शातिके साथ कष्टोंको सहन करते हुए निर्भय होकर अपने कार्यक्रमको बराबर आगे बढ़ाते रहे तो सरकार-को नि सन्देह देशके सामने शीघ्र ही नतमस्तक होना पड़ेगा। प्यारे वीरो ! और भारत-माताके सच्चे सपूतों ! घबराने की कोई बात नहीं है। महात्मा गाँधी जैसे सातिशय योगीका हाथ आपके सिर पर है। हिम्मत न हारना, कदम बराबर आगेको बढ़ता रहे, समझ लो 'यह शरीर नश्वर है, हमारी इच्छासे यह हमें प्राप्त नहीं हुआ और न हमारे रखे रह सकेगा। कुटुम्ब, परिवार और धनादिककी भी ऐसीही हालत है, उनका संयोग हमारी इच्छानुसार बना नहीं रहेगा। इसलिये इन सबके मोहमें पड़ कर आपको अपने कर्तव्यसे जरा भी विचलित न होना चाहिए। इस समय स्वराज्यका योग आ रहा है, स्वतन्त्रतादेवी वरमाला हाथमें लिये हुए खड़ी है, सिर्फ आपकी कुछ कठिन परीक्षा और बाकी है, उसके पूरा उतरते ही भारतके गलेमें वरमाला पड़ जायगी। आशा है, आप सब इस परीक्षामें जरूर पूरे उतरेगे और अब भारतको पूर्ण स्वाधीन बनाकर ही छोड़ेंगे। इसीमें सब कुछ श्रेय और इसीमें देशका सारा कल्याण है।

अपमान या अत्याचार ?

कल शुक्रवारको, कोई पहर रात गये खुली छतके मध्यमे शय्या पर लेटा हुआ, मैं स्त्रियोकी पराधीनता और उनके साथ पुरुषजाति-ने जो अब तक सलूक किया है उसका गहरा विचार कर रहा था । एकाएक शीतल-मन्द-सुगन्ध पवनके भोकोने मुझे निद्रादेवीकी गोद-मे पहुँचा दिया और इस तरह मेरा वह सूक्ष्म विचारचक्र कुछ देरके लिये बद हो गया ।

निद्रादेवीके आश्रयमे पहुँचते ही अच्छे अच्छे सुन्दर और सु-मनोहर स्वप्नोने मुझे आ घेरा । उस स्वप्नावस्थामे मैं क्या देखता हूँ कि, एक प्रौढा स्त्री, जिसके चेहरेसे तेज छिटक रहा है और जो अपने रंग-रूप, वेष-भूषा तथा बोल-चालसे यह प्रकट कर रही है कि वह 'अखिल भारतीय महिला महासभा' के सभापतिके आसन पर आसीन होकर आ रही है, अपनी कुछ सखियोंके साथ मुझसे मिलनेके लिये आई । अभी कुशलप्रश्न भी पूरी तौरसे समाप्त नहीं हो पाया था कि उस महिलारत्नने एकदम बड़ी ही सतर्क-भाषामे मुझसे यह प्रश्न किया कि आप लोग स्त्रियोसे घूँघट निकलवाते हो—उन्हे पर्दा करनेके लिये मजबूर करते हो—इसका क्या कारण है ?

मैं इस विलक्षण प्रश्नको सुनकर कुछ चौंक उठा और उत्तर

सोचना ही चाहता था कि वह विदुषी स्त्री स्वतः ही बोल उठी—
 'या तो यह कहिये कि आप लोगोका स्त्रियोपर विश्वास नहीं है।
 आप यह समझते हैं कि स्त्रियाँ पुरुषोको देखकर कामबाणसे विकल
 हो जाती हैं, उनके मनमें विकार आजाता है और व्यभिचारकी ओर
 उनकी प्रवृत्ति होने लगती है। उसीकी रोकथामके लिये यह घूँघटकी
 प्रथा जारी की गई है। यदि ऐसा है तो यह स्त्री-जातिका घोर अप-
 मान है। स्त्रियाँ स्वभावसे ही पापभीरु तथा लज्जाशील होती हैं,
 उनमें धार्मिक निष्ठा पुरुषोसे प्रायः अधिक पाई जाती है। चित्त भी
 उनका सहज हीमें विकृत होनेवाला नहीं होता। उन्हें व्यभिचारादि
 कुमार्गोकी ओर यदि कोई प्रवृत्त करता है तो वह प्रायः पुरुषोकी
 स्वार्थपूर्ण चेष्टाएँ और उनकी विवेकशून्य क्रियाएँ तथा निरकुश प्रवृ-
 त्तियाँ ही हैं, जिससे किसी भी विचारशील तथा न्यायप्रिय व्यक्तिको
 इनकार नहीं हो सकता। और अब तो प्रायः सभी विवेकी तथा
 निष्पक्ष विद्वान इस सत्यको स्वीकार करते जाते हैं। ऐसी हालतमें
 स्त्रियोपर उपयुक्त कलकका लगाया जाना बिल्कुल ही निर्मूल प्रतीत
 होता है। और वह निर्मूलता और भी अधिकताके साथ सुदृढ़ तथा
 सुस्पष्ट हो जाती है जबकि भारत और भारतसे बाहरकी उन दक्षि-
 णी गुजराती, पारसी तथा जापानी आदि उच्च जातियोके उदाहरणो-
 को सामने रक्खा जाता है जिनमें घूँघटकी प्रथा नहीं है और जिनकी
 स्त्रियोके चरित्र बहुत कुछ उज्ज्वल तथा उदात्त पाये जाते हैं।
 आपका भी नित्य ही ऐसी कितनी ही स्त्रियोसे साक्षात्कार होता है
 और वे खुले मुँह आपको देखती हैं। बतलाइये, उनमेंसे आज तक
 कितनी स्त्रियाँ आपपर अनुरक्त हुई और उन्होंने आपसे प्रेम-भिक्षाकी
 याचना की ? उत्तर 'कोई नहीं' के सिवाय और, कुछ भी न होगा।
 आपने स्वतः ही दृष्टिपातके अवसर पर इस बातका अनुभव किया
 होगा कि उनमें कितना सकोच और कितनी लज्जाशीलता होती है।
 विकारकी रेखा तक उनके चेहरे पर नहीं आती। पर्दा उनकी आँखोंमें

ही समाया रहता है, जिस पर उन्हें स्वतंत्रताके साथ अधिकार होता है और वे यथेष्ट रीतिसे उक्त अधिकारका प्रयोग करती हैं। उन्हें कृत्रिम पर्देकी—उम बनावटी पर्देकी जिसमें लालसा भरी रहती है और जो चित्तको उद्विग्न तथा शकातुर करनेवाला है—जरूरत ही नहीं रहती। और इसलिये यह कहना कि पुरुषोको देखकर स्त्रियोका मन स्वभाव से ही विकृत होजाता है—वे दुराचारकी ओर प्रवृत्ति करने लगती हैं—कोरी कल्पना और स्त्रीजातिकी अवहेलनाके सिवाय और कुछ भी नहीं है। इस प्रकारकी बातोंसे स्त्रीजातिके शीलपर नितान्त मिथ्या आरोप होता है और उससे उसके अपमानकी सीमा नहीं रहती। साथ ही, इस बातकी भी कोई गारंटी नहीं है कि जो स्त्रियाँ पर्देमें रहती हैं वे सभी उज्ज्वल-चरित्रवाली होती हैं, ऐसी बहुतसी स्त्रियोके बड़े ही काले चरित्र पाये गये हैं। अतः घूँघटकी प्रथाको जारी रखनेके लिये उक्त हेतुमें कुछ भी सार अथवा दम नजर नहीं आता।

जरासी देर रुककर और मेरे मुखकी ओर कुछ प्रतीक्षा-दृष्टिसे देखकर वह उदारचरिता फिर बोली—

‘यदि आप ऐसा कहना नहीं चाहते और न उक्त हेतुका प्रयोग करना ही आपको इष्ट मालूम देता है तो क्या फिर आप यह कहना चाहते हैं कि—‘पुरुषोका मन स्त्रियोको देखकर द्रवीभूत हो जाता है, पुरुष नवनीतके समान और स्त्रियाँ अगारोंके सदृश है—‘अगार-सदृशी नारी नवनीतसमा नरा’—अगारोंके समीप जिस प्रकार घी पिघल जाता है उसी प्रकार स्त्रियोके दर्शनसे पुरुषोका मन चलायमान होजाता है विकृत हो उठता है। उसी मनोविकारको रोकनेके लिये—उसे उत्पन्न होनेका अवसर न देनेके लिये—ही यह घूँघट निकलवाया जाता है अथवा पर्दा कराया जाता है। यदि ऐसा है तो यह स्त्रियोपर घोर अत्याचार है। स्त्रियोको देखकर पुरुषोकी यदि सचमुच ही लार टपक जाती है, उनमें इतना ही नैतिक बल है और वे इतनेही पुरुषार्थके धनी हैं कि अपनी प्रकृतिको स्थिर भी नहीं रख

सकते तो यह उन्हीका दोष है। उन्हें उसका परिमार्जन अपनेही मुँह पर बुर्का डालकर अथवा घूँघट निकालकर क्यों न करना चाहिये ? यह कहाँका न्याय है कि अपराध तो करे पुरुष और सज़ा उसकी दी जाय स्त्रियोंको ? यह तो 'अधेर नगरी और चौपट राजा' वाली कहावत हुई — एक मोटा अपराधी यदि फाँसीकी रस्सीमे नहीं आता तो किसी पतले-दुबले निरपराधीको ही फाँसीपर लटका दिया जाय ! कैसा विलक्षण न्याय है ! क्या स्त्रियोंको अबला और कमजोर समझकर ही उनके साथ यह सलूक (न्याय) किया गया है ? और क्या न्यायसत्ता पानेका यही उपयोग है और यही मनुष्यका मनुष्यत्व है ? मैं तो इसे मानव-जाति और उच्च सस्कृतिके लिये महान् कलक समझती हूँ।'

'स्त्रियाँ पदमे रहनेकी वजहसे अपने स्वास्थ्य, अपनी, जानकारी अपनी सस्कृति और अपनी आत्मरक्षा वगैरहकी कितनी हानियाँ उठाती हैं, क्या इसका आपने कभी अनुभव नहीं किया ? मैंने तो ऐसी सैकड़ो स्त्रियोंको देखा है जो घूँघट निकाले हुए अधोकी तरहसे चलती हैं, मार्गमे घोडा, गाडी, आदमी तथा दर-दीवार और वृक्षसे टकरा जाती हैं ईंट पत्थर लकडीसे ठोकर खाजाती हैं, मार्ग भूलकर इधर उधर भटकने लगती है, किसी आक्रमणकारीसे अपनी रक्षा नहीं कर सकती, और इस तरह बहुत कुछ दुःख उठाती हुई अपनी उस घूँघटकी प्रथा पर खेद प्रकट करती है। उन्हें यह भी मालूम नहीं होता कि ससारमे क्या हो रहा है और देश तथा राष्ट्रके प्रति हमारा क्या कर्तव्य है। वे प्रायः मकानकी चारदीवारीमे बन्द रह कर उच्च सस्कारोके विकासके अवसरसे वंचित रह जाती है, इतना ही नहीं बल्कि अपने स्वास्थ्यको भी खो बैठती हैं। ऐसी स्त्रियाँ अपनी सतानका यथेष्ट रीतिसे पालन-पोषण भी नहीं कर सकती और न उसे ठीक तीरसे शिक्षित ही बना सकती हैं। मैं तो जेलखानेके एक आजन्म कैदीकी और उनकी हालतमें कुछ भी अन्तर नहीं देखती।

यह सब कितना अत्याचार है ! विना अपराध ही स्त्रियाँ ये सब दुःख कष्ट तथा हानियाँ उठाती हैं और अपने मनुष्योचित अधिकारो तथा लाभोसे वंचित रखी जाती हैं, इस अन्याय और अधेरका भी कही कुछ ठिकाना है ॥ अब बतलाइये दोनोमेसे आप अपनी इस मनहूस प्रथाका कौनसा कारण ठहराते हैं ? पहला कारण बतलाकर व्यर्थ ही स्त्रीजातिका अपमान करना चाहते हैं या दूसरे कारणको मानकर स्त्रियोपर अपने अत्याचारोको स्वीकार करते हैं ? दोनोमेसे कोई एक कारण जरूर मानना और बतलाना पड़ेगा अथवा दोनोको ही स्वीकार करना होगा । परंतु वह कारण चाहे कोई हो पुरुषोके लिये यह बात कलककी, लज्जाकी और सभ्यससारमे उनके गौरवको घटानेवाली जरूर है कि उन्हें प्रकृति तथा न्याय-नियमोके विरुद्ध अपनी स्त्रियोको पर्देमे रखना पड़ता है ।'

मैं उस वीरागनाके इस दिव्यभाषणको सुनकर दग रह गया और मुझसे उस वक्त यही कहते बना कि, जरा सोचकर आपके प्रश्नका समुचित उत्तर फिर निवेदन करूँगा ।

मेरा इतना कहना ही था कि, आकाशमे मेघोकी गर्जना और वर्षाकी कुछ बूँदोने मेरा वह स्वप्न भग कर दिया और मैं अपनेको पूर्ववत् शय्या पर लेटा हुआ ही अनुभव करने लगा । परंतु अभी कुछ मिनिट पहले जो अद्भुत दृश्य देखा था और जो दिव्य भाषण सुना था उसकी याद चित्तको बेचैन किये देती थी कि या तो इसे स्त्रीजातिका अपमान कहना चाहिये और या यह कहना चाहिये कि वह स्त्रियो पर पुरुषोका अत्याचार है । अथवा यो कहना होगा कि उसमे दोनोका ही अपमान और अत्याचारका—सम्मिश्रण है । विचारोकी इसी उधेड़बुनमे सबेरा हो गया और मैं अपना स्वप्न-समाचार दूसरोको सुनाने लगा ।

संभव है कि पाठकोमेसे भी कुछ महानुभाव उस दिव्य-स्त्रीके प्रश्न पर अच्छा विचार कर सके और उत्तरमें तीसरे ही किसी निर्दोष

हेतुका विधान कर सके। इसीलिये स्वप्नकी यह संपूर्ण घटना आज पाठकोंके सामने रखी जाती है। विद्वानोंको चाहिये कि वे इस पर गहरा विचार करके अपने अपने विचार-फलको युक्तिके साथ प्रगट करे। यदि उन्हें भी उक्त प्रथाकी उपयुक्तता मालूम न दे और वे उसे जारी रखनेमें पुरुषोंका ही दोष अनुभव करें तो उनका यह कर्तव्य होना चाहिये कि वे पुरुषजातिको इस कलक तथा पापसे मुक्त कराने-का भरसक प्रयत्न करें^१।

१ यह स्वप्न मुझे आजसे कोई ३८ वर्ष पहले नानोता (जि० सहारनपुर) में आया था और आनेके बाद ही १ मई सन् १९२४ को वर्तमान रूपमें लिख लिया गया था। एक-दो पत्रोंमें उस समय इसे प्रकाशित भी किया था; जैसे जुलाई सन् १९२४ के 'परिवारबन्धु' में।

जातिभेद पर अमितगति आचार्य

जैनसमाजमे 'अमितगति' नामके एक प्रसिद्ध आचार्य हो गये है। इनके बनाये हुए उपासकाचार, सुभाषितरत्नसदोह और धर्म-परीक्षा आदि कितने ही ग्रन्थ मिलते हैं और वे सब आदरकी दृष्टिसे देखे जाते हैं। ये आचार्य आजसे कोई ६५० वर्ष पहले—विक्रमकी ११वीं शताब्दीमे—राजा मुजके समयमे हुए हैं और इन्होंने धर्म-परीक्षा ग्रन्थको विक्रम संवत् १०७० में बनाकर समाप्त किया है। इस ग्रन्थके १७वे परिच्छेदमे आपने जातिभेद पर कुछ महत्वके विचार प्रकट किये हैं, जो सर्व साधारणके जानने योग्य हैं। अतः नीचे पाठकोको उन्हीका कुछ परिचय कराया जाता है —

न जातिमात्रतो धर्मो लभ्यते देहधारिभिः ।

सत्यशौचतपःशीलध्यानस्वाध्यायवर्जितैः ॥ २३ ॥

‘जो लोग सत्य, शौच, तप, शील, ध्यान और स्वाध्यायसे रहित हैं उन्हे जातिमात्रसे—महज किसी ऊँची जातिमे जन्म लेलेनेसे—धर्मका कोई लाभ नहीं हो सकता।’

भावार्थ—धर्मका किसी जातिके साथ कोई अविनाभावी संबंध नहीं है, किसी उच्च जातिमे जन्म लेलेनेसे ही कोई धर्मात्मा नहीं बन जाता। अथवा यो कहिये कि सत्य-शौचादिकसे रहित व्यक्तियोंको उनकी उच्च जाति धर्मकी प्राप्ति नहीं करा सकती। प्रत्युत इसके,

जो सत्य, शौचादि गुरोसे बिशिष्ट हैं वे हीन जातिमें उत्पन्न होने पर भी धर्मका लाभ प्राप्त कर सकते हैं और इसलिये जो लोग किसी उच्च कहलानेवाली जातिमें उत्पन्न-होकर सत्य-शौचादि धर्मों-का अनुष्ठान न करते हुए भी अपनेको ऊँचा, धर्मात्मा, धर्माधिकारी या धर्मका ठेकेदार समझने हैं और अपनेसे भिन्न जातिवालोंका तिरस्कार करते हैं, यह उनकी बड़ी भूल है।

आचारमात्रभेदेन जातीनां भेद-कल्पनम् ।

न जातिर्ब्राह्मणीयास्ति नियता क्वापि तात्त्विकी ॥२४॥

‘जातियोकी जो यह ब्राह्मण-क्षत्रियादि रूपसे भेदकल्पना है वह आचारमात्रके भेदसे है—वास्तविक नहीं । वास्तविक दृष्टिसे कही भी कोई नियता—शाश्वती—ब्राह्मण जाति नहीं है। (इसी तरह क्षत्रिय आदि जातियाँ भी तात्त्विक और शाश्वती नहीं हैं ।)’

भावार्थ—ये मूल जातिया भी (अग्रवाल खडेलवाल आदि उप-जातियोकी तो बात ही क्या) गौ-अश्वदि जातियोकी तरह वास्तविक नहीं है, किन्तु काल्पनिक हैं और उनकी यह कल्पना आचार-मात्रके भेदसे की गई है । अतः जिस जातिका जो आचार है उसे जो नहीं पालता वह उस जातिका व्यक्ति नहीं—उसकी गणना उस जातिके व्यक्तियोंमें की जानी चाहिये जिसके आचारका वह पालन करता है। ऐसी दशामें ऊँची जातिवाले नीच और नीची जातिवाले उच्च हो जानेके अधिकारी है। इसीसे भोलो तथा म्लेच्छों आदिकी जो कन्याएँ उच्च जातिवालोंसे विवाही गई वे आचारके बदल जाने-से उच्च जातिमें परिणत होकर उच्चत्वको प्राप्त हो गई, और उनके कितने ही उदाहरण ‘विवाहक्षेत्र-प्रकाश’में दिये गये हैं।

ब्राह्मणक्षत्रियादीनां चतुर्णामपि तत्त्वतः ।

एकैव मानुषो जातिराचारेण विभज्यते ॥ २५ ॥

‘ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारोंकी वास्तवमें एक ही मनुष्य जाति है, वही आचारके भेदसे भेदको प्राप्त हो गई हैं—जो

भेद अतात्त्विक है ।

भावार्थ—सब मनुष्य मनुष्यजातिकी अपेक्षा समान हैं—एक ही तात्त्विक जातिके अंग है—और आचार अथवा वृत्तिके बदल जाने पर एक अतात्त्विक जातिका व्यक्ति दूसरी अतात्त्विक जातिका व्यक्ति बन सकता है । अतः एक जातिके व्यक्तिको दूसरी जातिके व्यक्तिके कभी घृणा नहीं करनी चाहिये और न अपनेको ऊँचा तथा दूसरेको नीचा ही समझना चाहिये । ऊँच-नीचकी दृष्टिसे यह भेद-कल्पना ही नहीं है ।

भेदे जायेत विप्राया क्षत्रियो न कथंचन ।

शालिजातौ मया दृष्ट कोद्वयस्य न सभव ॥ २६ ॥

‘यदि इन ब्राह्मणादि जातियोंके भेदको तात्त्विक भेद माना जाय तो एक ब्राह्मणीसे कभी क्षत्रिय-पुत्र पैदा नहीं हो सकता, क्योंकि चावलीकी जातिमें मैंने कभी कोदोको उन्नत होने हुए नहीं देखा ।’

भावार्थ—इन जातियोंमें चावल और कोदो-जैसा तात्त्विक भेद मानने पर एक जातिकी स्त्रीसे दूसरी जातिका पुत्र कभी पैदा नहीं हो सकता—ब्राह्मणीके गर्भसे क्षत्रिय-पुत्रका और क्षत्रियाके गर्भसे वैश्य अथवा ब्राह्मण-पुत्रका उत्पाद नहीं बन सकता । परन्तु ऐसा नहीं है, ब्राह्मणोंमें अथवा ब्राह्मणियोंके गर्भसे कितने ही वीर-क्षत्रिय पैदा हुए हैं और क्षत्रियोंमें अथवा क्षत्राणियोंके गर्भसे अनेक वैश्य-पुत्रोंका उद्भव हुआ है जिनके उदाहरणोंसे शास्त्र भरे हुए हैं और प्रत्यक्षमें भी ऐसे दृष्टान्तोंकी कमी नहीं है । अग्रवाल जो किसी समय क्षत्रिय थे वे आज प्रायः वैश्य बने हुए हैं । ऐसी हालतमें यह सुनिश्चित है कि इन जातियोंमें कोई तात्त्विक अथवा प्राकृतिक भेद नहीं है—सबकी एक ही मनुष्य जाति है । उसीको प्रधानतः लक्ष्यमें रखना चाहिये ।

ब्राह्मणोऽबाचि विप्रेण पवित्राचारधारिणा ।

विप्राया शुद्धशीलायां जनिता नेदमुत्तरम् ॥ २७ ॥

न विप्राधिप्रयोरस्ति सर्वदा शुद्धशीलता ।

कालेनाऽनादिना गोत्रे स्खलन क्व न जायते ॥ २८ ॥

‘यदि यह कहा जाय कि पवित्राचारधारी ब्राह्मणके द्वारा शुद्ध-शीला ब्राह्मणीके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न होता है उसे ब्राह्मण कहा गया है—तुम ब्राह्मणाचारके धरनेवालेको ही ब्राह्मण क्यों कहते हो ?—तो यह ठीक नहीं है । क्योंकि यह मान लेनेके लिये कोई कारण नहीं है कि उन ब्राह्मण और ब्राह्मणी दोनोंमे सदा कालसे शुद्धशीलताका अस्तित्व (अक्षुण्णरूपसे) चला आता है । अनादि-कालसे चली आई हुई गोत्रसन्ततिमे कहाँ स्खलन नहीं होता ?—कहाँ दोष नहीं लगता ?—लगता ही है ।

भावार्थ—इन दोनों श्लोकोमे आचार्यमहोदयने जन्मसे जाति माननेवालोकी बातको नि सार प्रतिपादन किया है—जन्मसे जातीयताके एकातपक्षपाती जिस रक्तशुद्धिके द्वारा जाति, कुल अथवा गोत्र-शुद्धिकी डुगडुगी पीटा करते हैं उसीकी नि सारताको घोषित किया है और यह बतलाया है कि वह अनादि प्रवाहमेबन ही नहीं सकती—बिना किसी मित्रावटके अक्षुण्ण रह ही नहीं सकती । इन पद्योंमें कामदेवकी दुर्निवारता और उससे उत्पन्न होनेवाली विकारताका वह सब आशय सनिहित जान पड़ता है जिसे प० आशाधरजीने, कुल-जाति-विषयक अहंकृतिको मिथ्या, आत्मपतनका हेतु और नीच गोत्रके बन्धका कारण ठहराते हुए, अपने अनगारधर्मामृत ग्रन्थ और उसकी स्वोपज्ञटीकामे प्रकट किया है^१ और जिसका उल्लेख लेखक-द्वारा ‘विवाहक्षेत्र-प्रकाश’^२ के ‘असवर्ण और अन्तर्जातीय

१ प० आशाधरजीके उस कथनका एक वाक्य इस प्रकार है—

अनादाविह ससारे दुवरि मकरध्वजे ।

कुले च कामिनीमूले का जाति-परिकल्पना ॥

२, यह १७५ पृष्ठकी पुस्तक ला० जौहरीमलजी जैन सराफ़, दरीबा कलाई देहली ने प्रकाशित की है ।

‘विवाह’ नामक प्रकरणमें किया गया है। गोत्रोंमें अन्य प्रकारसे कैसे स्खलन होता है, उनकी धारा कैसे पलट जाती है और वे कैसे बिचित्र स्थितिको लिये हुए हैं, इस बातको सविशेष रूपसे जाननेके लिये विवाहक्षेत्रप्रकाशका गोत्रस्थिति और सगोत्रविवाह’ नामका प्रकरण देखना चाहिये।

सयमो नियम शील तपो दान दमो दया ।

विद्यन्ते तात्त्विका यस्या सा जातिर्महती सताम् ॥२६॥

‘सत्पुरुषोंकी दृष्टिमें वह जाति ही बड़ी अथवा ऊँची है जिसमें सयम, नियम शील, तप दान, दम (इन्द्रियादिनिग्रह) और दया ये गुण वास्तविक रूपसे विद्यमान होते हैं—बनावटी रूपसे नहीं।’

भावार्थ—इन गुणोंका यथार्थमें अनुष्ठान करनेवाले व्यक्तियोंके समूहको ही ऊँची जाति कहते हैं। और इसलिये जो व्यक्ति सचाई-के साथ इन धर्मगुणोंका पालन करता है उसे ऊँची जातिका अग समझना चाहिये—भले ही वह नीच कहलानेवाली जातिमें ही क्यों न उत्पन्न हुआ हो। उपर्युक्त गुण ऐसे हैं जिन्हें सभी जातियोंके व्यक्ति धारण कर सकते हैं और वे धारण करनेवाले व्यक्ति ही उस महती जातिका निर्माण करते हैं जो आचार्यमहोदयकी कल्पनामें स्थित है।

दृष्ट्वा योजनगन्धादि प्रसृताना तपस्विनाम् ।

व्यासमादीना महापूजा तपसि क्रियता मति ॥२७॥

(धीवरादि नीच जातियोंकी) योजनगन्धादि स्त्रियोंसे उत्पन्न व्यासादिक तपस्वियोंकी लोकमें महापूजा देखी जाती है—यह सब तप-सयमादि गुणोंका ही माहात्म्य है। अतः तप सयमादि गुणोंकी प्राप्तिका ही यत्न करना चाहिये—उससे जाति स्वयं ऊँची उठ जायगी।

भावार्थ—नीच जातिकी स्त्रियोंसे उत्पन्न व्यक्ति यदि नीच जातिके ही रहते और नीच ही समझे जाते तो व्यासजी जैसे तपस्वी,

जो कि एक धीवर-कन्यासे व्यभिचार-द्वारा उत्पन्न हुए थे, लोकमें कभी इतनी पूजा और प्रतिष्ठाको प्राप्त न कर सकते। इससे साफ जाहिर है कि नीच जातिके व्यक्ति भी सद्गुणोंके प्रभावसे ऊँच जातिके हो जाते हैं। अथवा यो कहिये कि नीच जातियोंमें भी अच्छे-अच्छे रत्न उत्पन्न होते हैं और हो सकते हैं। इसलिये उनकी उपेक्षा की जानी योग्य नहीं—उन्हे ऊँचे उठानेका यत्न करना चाहिये।

शीलवन्तो गता स्वर्गे नीचजातिभवा अपि।

कुलीना नरक प्राप्ताः शील-सयम-नाशिनः ॥३१॥

‘नीच जातियोंमें उत्पन्न होने पर भी सदाचारी व्यक्ति स्वर्गको प्राप्त हुए हैं और ऊँच जातियोंमें जन्म लेनेवाले असदाचारी—शीलसयमादिसे रहित—कुलीन लोग भी नरकमें गये हैं।’

भावार्थ—ऊँच जातिवाले जब नीच गतिको और नीच जातिवाले ऊँची गतिको प्राप्त हुए हैं—और हो सकते हैं—तब वास्तवमें इन ऊँच-नीच गिनी जानेवाली जातियोंका कुछ भी महत्त्व नहीं रहता। उच्चत्व और नीचत्वका अथवा अपने उत्कर्ष और अपकर्षका सारा खेल गुणोंके ऊपर अवलम्बित है। अतः सद्गुणोंकी प्राप्ति करने-करानेका ही यत्न होना चाहिये। उनकी प्राप्तिमें बस्तुतः कोई नीच कही जाने वाली जाति बाधक नहीं है।

गुणैः सम्पद्यते जातिर्गुणध्वंसैर्विपद्यते।

यतस्ततो बुधैः कार्यो गुणेष्वेवादर पर ॥३२॥

जातिमात्रमद कार्यो न नीचत्वप्रवेशकः।

उच्चत्वदायक सद्भिः कार्यं शीलसमादरः ॥३३॥

‘उत्तम गुणोंसे ही उत्तम जाति बनती है और उत्तम गुणोंके नाशसे वह जाति नष्ट हो जाती है—नीचत्वको प्राप्त हो जाती है। इसलिये बुद्धिमानोंको सबसे अधिक गुणोंका ही आदर करना चाहिये (बाह्य जाति पर दृष्टि रखकर या उसके भुलावेमें भूलकर उसीको सब कुछ न समझ लेना चाहिये)। साथ ही, अपनी जातिका कभी

मद नहीं करना चाहिये । (अपनी जातिको ऊँचा और दूसरेकी जाति को नीचा समझने रूप) यह मद आत्मामे नीचत्वका प्रवेश कराने-वाला है—उसे नीचे गिरानेवाला अथवा नीच बनानेवाला है । उच्चत्वका देनेवाला—आत्माको ऊपर उठानेवाला—शीलसयमादि गुणोंके प्रति आदरभाव है—भले ही उन गुणोंका प्रादुर्भाव किसी नीच जातिके व्यक्तिमे ही क्यों न हुआ हो—और इसलिये सत्पुरुषोंको उसी आदरभावसे काम लेना चाहिये—जातिभेदके चक्करमे पड़ कर गुरगियो अथवा गुणोंका तिरस्कार नहीं कर देना चाहिये ।'

भावार्थ—इन ब्राह्मणादिक जातियोंका बनना और बिगड़ना सब गुणोंपर ही मुख्य आधार रखता है—उनका मूल जन्म नहीं किन्तु गुणसमुदाय है । गुणोंके आविर्भावसे एक नीच जातिवाला ऊँच जाति-का और गुणोंके अभावसे एक ऊँच जातिवाला नीच जातिका व्यक्ति बन जाता है । किसीकी जाति अटल या शाश्वती नहीं है—अटल है तो एक मनुष्यजाति है, जो जीवनभर तक छूट नहीं सकती, उसी पर पूरा लक्ष्य रखना चाहिये । इसीलिये महज जन्मकी वजहसे दूसरोंके व्यक्तित्वका तिरस्कार करना उचित नहीं—उचित है दूसरोंके गुणोंका आदर करना, उनके गुणोंके आविर्भावकी भावना रखना और उसका सब ओर से प्रयत्न करना, यही दोनोंके लिये उत्कर्षका साधक है । इसीसे आचार्यमहोदय ग्रन्थके अन्तिम भागमे लिखते हैं—

यस्यास्ति सम्यक्त्वमसौ पटिष्ठो

यस्यास्ति सम्यक्त्वमसौ वर्गिष्ठ ।

यस्यास्ति सम्यक्त्वमसौ कुलीनो

यस्यास्ति सम्यक्त्वमसौ न दीन ॥७७॥

‘जो मनुष्य सम्यक्त्व गुणका धारक है वह अत्यन्त चतुर है, श्रेष्ठ है, कुलीन है और अदीन है ।’

भावार्थ—जैनधर्मके अनुसार नीचसे नीच जातिका मनुष्य भी सम्यक्त्वगुणका धारण कर सकता है—एक चारण्डालका पुत्र भी

सम्यग्दृष्टि हो सकता है। स्वामी समन्तभद्रने रत्नकरण्डश्रावकाचार-
में ऐसे चारण्डाल-पुत्रको 'देव' लिखा है—आराध्य^१ बतलाया है।
अतः ऐसे सम्यग्दर्शनप्राप्त नीच जातिके पुरुषोको भी अमितगति
आचार्य श्रेष्ठ, कुलीन और अदीन लिखते हैं। यह है गुणोका आदर-
भाव, गुणोके आविर्भावकी सद्भावना और सत्प्रेरणा।

आचार्यमहोदयके इन सब उद्गारों पर अधिक टीकाटिप्पणीकी
जरूरत नहीं। वे इन जातिभेदोको किस दृष्टिसे देखते थे और उन्हें
क्या महत्त्व देते थे यह सब ऊपरके कथनोंसे बिल्कुल स्पष्ट है।
और इसलिये जो लोग समानवर्णा, समानधर्म, और समानगुण-
शीलवाली उपजातियोंमे भी अनुचित भेदभावकी कल्पना किये हुए
हैं—परस्परमे रोटो-बेटीका सम्बन्ध एक करते हुए हिचकिचाते हैं—
उन्हे आचार्यमहाराजके इन उद्गारोंसे जरूर कुछ शिक्षा ग्रहण
करनी चाहिये और उस कदाग्रहको छोड़ देना चाहिये जो धर्म तथा
समाजकी उन्नतिमे बाधक है। जो लोग कदाग्रहको छोड़ कर अन्त-
र्जातीय विवाह करने लगे हैं उनकी यह उदार तथा विवेक-परिणति
निःसन्देह प्रशंसनीय और अभिनन्दनीय है।

१ यह 'देव' का 'आराध्य' अर्थ प्रभावचन्द आचार्यने रत्नकरण्ड-
श्रावकाचारकी टीकामे दिया है।

गात्र-स्थिति और सगोत्र-विवाह

जैनसिद्धान्तमें—जैनियोंकी कर्माफलोसोफीमें—‘गोत्र’ नामका भी एक कर्म है और उसके ऊँच, नीच ऐसे कुल दो ही भेद किये हैं। गोम्मटसार ग्रन्थमें बतलाया है, कि सन्तान-क्रमसे चले आए जीवोंके आचरण-विशेषका नाम गोत्र है। वह आचरण ऊँचा और नीचा दो प्रकारका होनेसे गोत्रके भी सिर्फ दो भेद हैं, एक उच्चगोत्र और दूसरा नीचगोत्र। यथा —

सनानकमेणागय जोवायरणस्स गोर्दामदि मएणा ।

उच्च एणीच चरण उच्च एणीच हवे गोद ॥

परन्तु आजकल जैनियोंमें जो सैकड़ों गोत्र प्रचलित हैं— उनकी ८४ जातियोंमें प्रायः सभी जातियाँ, समान आचरण होते हुए भी, कुछ न कुछ गोत्र-सख्याको लिये हुए हैं वे सब गोत्र उक्त सिद्धान्त-प्रतिपादित गोत्र-कथनसे भिन्न हैं, उनमें ‘उच्च’ और ‘नीच’ नामके कोई गोत्र हैं भी नहीं, और न किसी गोत्रके भाई ऊँच अथवा नीच समझे जाते हैं। इन गोत्रोंके इतिहास पर जब दृष्टि डाली जाती है तो वह बड़ा ही विचित्र मालूम होता है और उससे यह बात सहज ही समझमें आ जाती है कि ये सब गोत्र कोई अनादिनिधन नहीं हैं— वे भिन्न-भिन्न समयोंपर भिन्न भिन्न कारणोंको पाकर उत्पन्न हुए और इसी तरह कारण-विशेषको पाकर किसी न किसी समय

नष्ट हो जानेवाले हैं। अनेक गोत्र केवल ऋषियोंके नामों पर प्रतिष्ठित हुए, कितने ही गोत्र सिर्फ नगर-ग्रामादिकोंके नामों पर रखे गये और बहुतसे गोत्र वंशके किसी प्रधानपुरुष, व्यापार, पेशा अथवा किसी घटनाविशेषको लेकर ही उत्पन्न हुए हैं। और इन सब गोत्रोंकी उत्पत्ति या नामकरणसे पहले पिछले गोत्र नष्ट हो गये यह स्वतः सिद्ध है—अथवा यो कहिये कि जिन जिन लोगोंने नवीन गोत्र धारण किये उनमें और उनकी सततिमें पिछले गोत्रोंका प्रचार नहीं रहा। यहाँ पर इन गोत्रोंकी कृत्रिमता और परिवर्तनशीलताका कुछ दिग्दर्शन करा देना उचित मालूम होता है और उसके लिये अग्रवाल खडेलवाल तथा ओसवाल जातियोंके गोत्रोंको उदाहरणके तौरपर लिया जाता है। इस दिग्दर्शन परसे पाठकोंको यह समझनेमें आसानी होगी और वे इस बातका अच्छा निर्धार कर सकेंगे कि आजकल इन गोत्रोंको जो महत्त्व दिया जाता है अथवा विवाह-शादीके अवसरों पर इनका जो आग्रह किया जाता है वह कहाँ तक उचित तथा मान्य किये जानेके योग्य है—

(१) अग्रवाल जातिके इतिहाससे मालूम होता है कि अग्रवाल-वंशके आदिपुरुष राजा अग्रसेन थे। वे जिस गोत्रके व्यक्ति थे वही एक गोत्र, आजकलकी दृष्टिमें, उनकी सततिका—सम्पूर्ण अग्रवालोक—होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं है। अग्रवाल जातिमें आज १८ गोत्र प्रचलित हैं और ये गोत्र राजा अग्रसेनके अठारह पुत्रोंद्वारा धारण किये हुये गोत्र हैं, जिनकी कल्पना उन्होंने अपनी सततिके विवाह-सकटको दूर करनेके लिये की थी। इनमेंसे गर्ग आदि अधिकांश गोत्रोंका नामकरण तो उन गर्गादि ऋषियोंके नामों पर हुआ है जो पुष्पदेवादि राजकुमारोंके अलग अलग विद्यागुरु थे और बाकीके वृन्दल, जैत्रल (जिंदल) आदि कुछ गोत्र वृन्ददेवादि राजकुमारोंके नामों परसे ही निर्धारित किये गये अथवा प्रचलित हुए जान पड़ते हैं। ऐसी हालतमें यह स्पष्ट है कि राजा अग्रसेनका गोत्र

उनके साथ ही समाप्त हो गया था—वह उनकी सततिमें प्रचलित नहीं रहा—और १८ नये गोत्रोंकी सृष्टि भी हो सकी। साथ ही, यह बतलानेकी कोई जरूरत नहीं रहती कि पहले जमानेमें पिताके गोत्रको छोड़कर नये गोत्र भी धारण किये जा सकते थे और इस नई गोत्र-कल्पनाके अनुसार अपने विवाह-क्षेत्रको विस्तीर्ण बनाया जा सकता था। यदि अग्रवालोंकी इस पिछली गोत्र-कल्पनाको हटा दिया जाय तो, राजा अग्रसेनकी दृष्टिसे, सब अग्रवाल एकगोत्री हैं और वे परस्पर—अग्रवालोंमें ही—विवाह करके सगोत्र-विवाह कर रहे हैं यह कहना चाहिये।

(२) खडेलवाल जातिके जैन इतिहाससे पता चलता है कि एक समय राजा खडेलगिरकी राजधानी खडेलानगर और उसके शासनाधीन ८३ ग्रामोंमें महामारीका बड़ा प्रकोप हुआ और वह नरमेध यज्ञ तक कर देने पर भी शांत न हुआ बहुत कुछ हानि पहुँचाकर, अन्तको श्रीजिनसेनस्वामीके प्रभावसे शांत हुआ। इस अतिशयको देख कर ८४ ग्रामोंके राजा-प्रजा सभी जन जैनी हो गये और श्रीजिनसेनस्वामीने उनके ८४ गोत्र नियत किये। गोत्रोंमें 'सहा' गोत्रको छोड़कर, जो खडेलानगरके निवासियों तथा राजकुलके लिये नियत किया गया था, शेष ८३ गोत्रोंका नामकरण ग्रामोंके नामों पर हुआ—अर्थात् एक एक ग्रामके रहनेवाले सभी जैनियोंका एक एक गोत्र स्थापित किया गया। जैसे पाटनके रहनेवालोंका गोत्र 'पाटनी', अजमेरके रहनेवालोंका 'अजमेरा', बाकली ग्रामके निवासियोंका 'बाकलीवाल' और कासली गाँवके निवासियोंका गोत्र कासलीवाल नियत हुआ। इन गोत्रोंमें सोनी, लुहाड्या, चौधरी आदि कुछ गोत्रोंके विषयमें विद्वानोंका यह भी मत है कि वे व्यापार, पेशा या पदस्थकी दृष्टिसे रखे हुए नाम हैं—सोनेका व्यापार तथा काम करनेवाले 'सोनी', लोहेका व्यापार तथा काम करनेवाले 'लुहाड्या' और चौधरीके पद पर प्रतिष्ठित 'चौधरी' कहलाये। परन्तु कुछ

भी सही, इतना तो स्पष्ट है कि इन सब लोगोके पुराने गोत्र कायम नहीं रहे और ८४ नये गोत्रोकी सृष्टि हुई। एक गोत्रके लोग प्रायः अनेक ग्रामोमें रहते हैं और एक ग्राममें अवसर अनेक गोत्रोके लोग रहा करते हैं। जब गोत्रोका नामकरण ग्रामोके नामो पर हुआ एक ग्रामके रहनेवाले जैनियोका एक गोत्र कायम किया गया और अपने अपने उस गोत्रको छोड़कर खडेलवाल लोग दूसरे गोत्रमें विवाह सम्बन्ध करते हैं^१ तब उनके पिछले गोत्रोकी दृष्टिसे यह कहा जा सकता है कि वे सगोत्र-विवाह भी करते हैं; क्योंकि यह प्राय असंभव है कि उन सब नगर-ग्रामोमें पहलेसे एक-दूसरेसे भिन्न अलग अलग गोत्रके ही लोग निवास करते हो। राजमलजी बडजात्याने खडेलवाल जैनोका जो इतिहास लिखा है उससे तो यह स्पष्ट मालूम होता है कि कितने ही वंशोके लोग अनेक ग्रामोमें रहते थे जैसे चौहान वंशके लोग खडेलानगर, पापडी भैंसा, दरड्यो, गदयो, पहाडी, पाडणी, छावडा, पागुल्यो, भूलाणी, पीतल्यो, बनमाल, अरडक, चिरडकी, साँभर और चोवरग्यामें रहते थे। इन नगर ग्रामोके निवासियोके लिये क्रमशः सहा, पापडीवाल भैंसा (बडजात्या), दरड्यो, गदया, पहाड्या, छावडा, पागुल्या, भूलग्या पीतल्या, बनमाली, अडक, चिरडक्या, साभर्या और चौवाण्या गोत्रोकी सृष्टि की गई। इन गोत्रोके खडेलवाल क्या आपसमें विवाह-सम्बन्ध नहीं करते? यदि करते हैं तो चौहानवंशके मूलगोत्रकी दृष्टिसे कहना होगा कि वे एक

१ यह दूसरी बात है कि कुछ रिश्तेदारोके गोत्र भी टाले जाते हैं। परन्तु उमसे किमी स्वाम नामवे गोत्रोका नियमित रूपमें टाला जाना लाजिमी नहीं आता। हो सकता है कि एक विवाहके अवसर पर किमी रिश्तेदारका जो गोत्र टाला गया वह कालान्तरमें न टाला जाय अथवा उसी गोत्रमें कोई दूसरा विवाह भी कर लिया जाय; क्योंकि रिश्तेदारीकी वह स्थिति उत्तरोत्तर सतन्त्रिमें बदलती रहती है।

ही गोत्रमें विवाह करते हैं अथवा यो कहिये कि पिछली गोत्रकल्प-नाको निकाल देने पर उनके वे विवाह सगोत्रविवाह ठहरते हैं । दूसरे गोत्रोंकी भी प्रायः ऐसी ही हालत है । इसके सिवाय, ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिससे यह मालूम होता हो कि पहले एक नगर-ग्रामके निवासी आपसमें विवाह-सम्बन्ध नहीं किया करते थे । और यदि कहीं ऐसा होता भी हो तो आजकल जब वह प्रथा नहीं रही और एक ही नगर-ग्रामके निवासी खडेलवाल घरस्परमें विवाह कर लेते हैं तब उनके लिये एक ही नगर-ग्रामके निवासियोंसे बने हुए अपने एक गोत्रमें विवाह सम्बन्ध कर लेने पर सिद्धान्तकी दृष्टिसे कौन बाधा आती है अथवा उसका न करना कहां तक युक्तियुक्त हो सकता है इसका विचार पाठकजन स्वयं कर सकते हैं ।

(३) 'जैनसम्प्रदायशिक्षा' में यति श्रीपालचन्द्रजीने ओसवाल वंशकी उत्पत्तिका जो इतिहास दिया है उससे मालूम होता है कि रत्नप्रभसूरि ने, 'महाजन वंश' की स्थापना करते हुए, 'तातहड' आदि अठारह गोत्र और 'सुघड' आदि बहुतसे नये गोत्र स्थापित किये थे । और उनके पीछे, वि० स० सोलहसी तक बहुतसे जैनाचार्योंने राजपूत, महेश्वरी, वैश्य और ब्राह्मण जातिवालोंको प्रतिबोध देकर—उन्हे जैनी बना कर—महाजन वंशका विस्तार किया और उन लोगोमें अनेक नये गोत्रोंकी स्थापना की । इन सब गोत्रोंका यतिजीने जो इतिहास दिया है और जिसे प्रामाणिक तथा अत्यन्त खोजके बाद लिखा हुआ इतिहास प्रकट किया है उसमेंसे कुछ गोत्रोंके इतिहासका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१ कुकुडचोपडा आदि गोत्र—जिनवल्लभसूरि (वि० स० ११५२)ने मंडोरके राजा 'नानुदे' पडिहारके पुत्र धवलचंद्रके गलितकुष्ठको कुकडी गायके घीको मंत्रित करके तीन दिन चुपडवाने द्वारा नीरोग

किया। इससे राजाने कुटुम्ब-सहित जैनधर्म ग्रहण किया और सूरि-जीने उसका महाजन वंश तथा 'कुकडचोपडा' गोत्र स्थापित किया। मन्त्रीने भी धर्म ग्रहण किया और उसका गोत्र 'गणधर चोपडा' निश्चित किया गया। कुकडचोपडा गोत्रकी बादको चार शाखाएँ हुईं जिनमें से एक 'कोठारी' शाखा भी है जो इस वंशके एक 'ठाकरसी' नामक व्यक्तिसे प्रारम्भ हुई। ठाकरसीको राव चु डेने अपना कोठारी निश्चित किया था तभीसे ठाकरसीकी सतानवाले 'कोठारी' कहलाने लगे।

२ धाडीवाल गोत्र—डीडो नामक एक खीची राजपूत धाडा मारता था। उसको वि० स० ११५५ में जिनवल्लभसूरिने प्रतिबोध देकर उसका महाजन वंश और 'धाडीवाल' गोत्र स्थापित किया।

३ लालासी आदि गोत्र—लालसिंहको जिनवल्लभसूरिने प्रतिबोध देकर उसका 'लालासी' गोत्र स्थापित किया और उसके पाँच बेटोंसे फिर बाठिया, जोरावर, विरमेचा, हरखावत, और मल्लावत गोत्र चले। इसी तरह एक 'काला' व्यक्तिकी श्रीलादवाले 'काला' गोत्री कहलाये।

४ पारख गोत्र—पासूजीने एक हीरेकी परख की थी उसी दिनसे राजा द्वारा 'पारख' कहे जानेके कारण उनकी सतानके लोग पारख-गोत्री कहे जाने लगे।

५ लूखावत आदि गोत्र—'लूणे' के वंशज 'लूणावत' गोत्री हुए परन्तु बादको उसके किसी वंशजके युद्धसे न हटने पर उसकी सत्तिका गोत्र 'नाहटा' होगया। और एक दूसरे वंशजको किसी नन्दावने 'रायजादा' कहा। इससे उसका गोत्र 'रायजादा' प्रसिद्ध हुआ।

६ रतनपुरा और कटारिया गोत्र—चौहान राजपूत रतनसिंह-को, जिसने रतनपुर बसाया था, जिनदत्तसूरिने जैनी बनाकर उसका 'रतनपुरा' गोत्र स्थापित किया। इसके वंशमें भामरसिंह

नामका व्यक्ति अपने पेटमें कटार मारकर मर गया था। इससे उसकी संततिका गोत्र 'कटारिया' प्रसिद्ध हुआ।

७ राँका तथा सेठिया गोत्र—'काकू' नामका एक व्यक्ति बहुत दुर्बल शरीरका था इससे लोग उसे 'राँका' पुकारने लगे। उसे नगर-सेठका पद मिला और इसलिये उसकी सतानका गोत्र 'राँका' तथा 'सेठिया' प्रसिद्ध हुआ।

गोत्रोकी ऐसी कृत्रिम, विचित्र और क्षणिक स्थितिके होते हुए पूर्व पूर्व गोत्रोकी दृष्टिसे सगोत्र-विवाहोका होना बहुत कुछ स्वाभाविक है। इसके सिवाय, प्रायः सभी जैनजातियोमें गोद लेने अथवा दत्तकपुत्र ग्रहण करनेका रिवाज है, और दत्तकपुत्र अपने गोत्रसे भिन्न गोत्रका भी लिया जाता है। साथ ही, यह माना जाता है कि उसका गोत्र दत्तक लेनेवालेके गोत्रमें परिणत हो जाता है—उसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं रहती—इसीसे विवाहके अवसर पर उसके गोत्रका प्रायः कोई खयाल नहीं किया जाता और यदि कहीं कुछ खयाल किया भी जाता है तो वह प्रायः उस दत्तकपुत्रके विवाह तक ही परिमित रहता है—उसके विवाहमें ही उसका पूर्व गोत्र बचा लिया जाता है—आगे होनेवाली उसकी उत्तरोत्तर सततिमें फिर उसका कोई खयाल नहीं रक्खा जाता और न रक्खा जा सकता है, क्योंकि एक एक वंशमें न मालूम कितने दत्तक दूसरे वंशों तथा गोत्रोंके लिये जा चुके हैं उन सबका किसीको कहाँ तक स्मरण तथा खयाल हो सकता है। यदि उन पर खयाल किया जाय - विवाहोंके अवसर पर उन्हें ढाला जाय—तो परस्परमें विवाहोका होना ही प्रायः असंभव हो जाय। इसी तरह परस्त्रियोंके गोत्र भी उनके विवाहित होने पर बदल जाते हैं और उनकी प्रायः कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं रहती। यदि उनकी स्वतंत्र सत्ता मानी जाय तब तो एक कुलमें कितने ही गोत्रोका समिश्रण हो जाता है और सबको बचाते हुए विवाह करना और भी ज्यादा असंभव ठहरता है। साथ ही, यह

कहना पड़ता है कि भिन्न भिन्न गोत्रके स्त्री-पुरुषोंके सम्बन्धसे संकर-गोत्री सतान उत्पन्न होती है और उस संकरताकी उत्तरोत्तर वृद्धि होते रहनेसे किसी भी गोत्रका अपनी शुद्ध-स्थितिमें उपलब्ध होना प्रायः अमभव है। गोत्रोंकी इस कृत्रिमता और परिवर्तनशीलताकी कितनी ही सूचना भगवज्जिनसेनाचार्यके निम्न वाक्यसे भी मिलती है और उससे यह साफ मालूम होता है कि जैनधर्ममें दीक्षित होने पर—जैनोपासक अथवा श्रावक बनते हुए—अजैनोके गोत्र और जाति आदिके नाम प्रायः बदल जाते थे—उनके स्थानमें दूसरे समयोचित नाम रखे जाते थे। यथा —

जैनोपासकशिक्षा स्यात्ममय समयोचितम् ।

दधतो गोत्रजात्यादिनामान्तरमत परम् ॥ ५६ ॥

—आदिपुराण, ३६ वाँ पर्व

ऐसी हालतमें गोत्रोंकी क्या असलियत है—उनकी स्थिति कितनी परिकल्पित और परिवर्तनशील है—और उन्हें विवाह शादियोंके अवसर पर कितना महत्त्व दिया जाना चाहिये इसका पाठक स्वयं अनुभव कर सकते हैं। पहले जमानेमें गोत्रोंको इतना महत्त्व नहीं दिया जाता था जितना कि वह आज दिया जाता है।

यहाँ पर मैं इतना और बतला देना चाहता हूँ कि श्रीजिनसेनाचार्यके हरिवंशपुराणसे जहाँ यह पाया जाता है कि देवकी और वसुदेव दोनों यदुवंशी थे, एक कुटुम्बके थे, दोनोंमें चचा-भतीजीका सम्बन्ध था और इसलिये उनका पारस्परिक विवाह सगोत्र-विवाहका एक बहुत बड़ा प्रमाण है, वहाँ यह भी मालूम होता है कि हरिवंशी राजा वसु के एक पुत्र 'वृहदध्वज' की सततिमें यदुवंशी राजा उपसेन हुआ, दूसरे पुत्र 'सुवसु' की सततिमें जरासन्ध हुआ और जरासन्धकी बहन पद्मावती उपसेनसे व्याही गई। इससे जाहिर है कि राजा वसुके एक वंश और एक गोत्रमें होनेवाले दो व्यक्तियोंका परस्पर विवाह-सम्बन्ध हुआ। और इससे यह जाना जाता है कि उस

सक्य एक गोत्रमें विवाह होनेका रिवाज था । साथ ही, उक्त पुराण-से इस बातका भी पता चलता है कि पहले सगे भाई बहनोंकी औलादमें जो परस्पर विवाह-सम्बन्ध हुआ करता था उसका एक कारण अथवा उद्देश्य 'गोत्रप्रीति' भी होता था । यथा —

नीलस्तस्व सुनः कन्या मान्या नीलाव्रणाभिधा ।

कुमारकन्ययोर्वृत्ता सकथा च तयोरिति॥ ४॥

पुत्रो मे ते यदा कन्या भविता भविता तयो ।

अविवादे विवाहोऽत्र गोत्रप्रीत्यै परस्परम् ॥ ५ ॥

—२३ वॉ मर्ग

इन पद्योमे नील और नीलाजना नामके दो सगे भाई बहनोके इस ठहरावका उल्लेख किया गया है कि 'यदि मेरे पुत्र और तुम्हारे पुत्री होगी तो गोत्रमे प्रीतिकी वृद्धिके लिये उन दोनोंका निर्विवाद रूपसे परस्परमे विवाह कर देना होगा ।'

परन्तु आजकल गोत्र-प्रीतिकी बात तो दूर रही, एक गोत्रमे विवाह करना 'गोत्र-घात' अथवा 'गोत्रघाव' समझा जाता है । जैनियोंकी कितनी ही जातियोंमें तो, विवाहके अवसरपर, पिताके गोत्रके अतिरिक्त माता, माताके मामा, और पिताके मामा आदि तकके गोत्रोको भी टालनेकी फिकर की जाती है - कहीं चार चार और कहीं आठ आठ गोत्र बचाये जाते हैं - और इसतरह पर मामा-फूफीकी कन्याओसे विवाह करनेके प्राचीन प्रशस्त विधानसे इनकार ही नहीं किया जाता बल्कि उनके गोत्रो तकमे विवाह करनेको अनुचित ठहराया जाता है । मालूम नहीं इस सब कल्पनाका क्या आधार है - वह किस सिद्धान्त पर अवलम्बित है - और इन गोत्रोके बचाने-से उस सिद्धान्तकी वस्तुतः कोई रक्षा हो जाती है या कि नहीं । शायद सगोत्र-विवाहको अच्छी तरहसे टालनेके लिये ही यह सब कुछ किया जाता हो, परन्तु गोत्रकी वर्तमान स्थितिमें, वास्तविक दृष्टिसे, सगोत्र-विवाहका टालना कहाँ तक बन सकता है, इसे पाठक

ऊपरके कथनसे भले प्रकार समझ सकते हैं। हो सकता है कि इस कल्पनाके मूलमें कोई प्रौढ सिद्धान्त न हो और वह पीछेसे कुछ कारणोंको पाकर निरी कल्पना ही कल्पना बन गई हो। परन्तु कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि यह कल्पना प्राचीन कालके विचारों और उस वक्तके विवाह-सम्बन्धी रीति-रिवाजोंसे बहुत कुछ विलक्षण तथा विभिन्न है—इसमें निराधार खीचातानीकी बहुलता पाई जाती है—और उसके द्वारा विवाहका क्षेत्र अधिक सकीर्ण हो गया है। समझमें नहीं आता, जब बहुत प्राचीन कालसे गोत्रोंमें बराबर अलटा-पलटी होती आई है, अनेक प्रकारसे नवीन गोत्रोंकी सृष्टि होती रही है, एक पुत्र भी पिताके गोत्रको छोड़कर अपनेमें नये गोत्रकी कल्पना कर सकता था और इस तरह अपने अथवा अपनी सततिके विवाह-क्षेत्रको विस्तीर्ण बना सकता था तब वे सब बातें आज क्यों नहीं हो सकती—उनके होनेमें कौनसा सिद्धान्त बाधक है ? गोत्र-परिपाटीको कायम रखते हुए भी, प्राचीन पूर्वजोंके अनुकरण-द्वारा विवाह-क्षेत्रको बहुत कुछ विस्तीर्ण बनाया जा सकता है। अतः समाजके शुभचिंतक सहृदय विद्वानोंको इस विषय पर गहरा विचार करके गोत्रोंकी वर्तमान समस्याको हल करना चाहिये और समाजको उसकी उन्नतिका साधक कोई योग्य तथा उचित मार्ग सुझाना चाहिये।

असवर्ण और अन्तर्जातीय विवाह

‘वर्ण’ के चार भेद हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ये वर्ण इसी क्रमको लिये हुए हैं, और इनकी सत्ता यहाँ युगकी आदिसे चली आती है। इन्हे ‘जाति’ भी कहते हैं। यद्यपि ‘जाति’ नामक नामकर्मके उदयसे मनुष्यजाति एक ही है और उस मनुष्यजातिकी दृष्टिसे सब मनुष्य समान हैं—मनुष्योंके शरीरमें ब्राह्मणादि वर्णोंकी अपेक्षा आकृति आदिका कोई खास भेद न होनेसे और शूद्रादिकोंके द्वारा ब्राह्मणी आदिमें गर्भकी प्रवृत्ति भी हो सकनेसे उनमें जातिकृत कोई ऐसा भेद नहीं है जैसा कि गौ और अश्वादिकमें पाया जाता है^१—फिर भी वृत्ति अथवा आजीविकाके भेदसे मनुष्यजातिके उक्त चार भेद माने गये हैं। जैसा कि भगवज्जनसेनके निम्न वाक्यसे सूचित होता है —

मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा ।

वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्बिध्यामहाश्रुते ॥ ४५ ॥

—आदिपुराण, पर्व ३८ वाँ ।

१ वर्णकृत्यादिभेदानां देहेऽस्मिन्न च दर्शनात् ।

ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैर्गर्भाधानप्रवर्तनात् ॥ ४६१ ॥

नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणां गवाश्ववत् ।

आकृतिग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्पते ॥ ४६२ ॥

—उत्तरपुराण, ७४ वाँ पर्व

इन चार प्रधान जातियों अथवा वर्णोंमेंसे ही अग्रवाल, खंडेल-वाल, आदि नवीन जातियोंकी सृष्टि हुई है और इसीसे उन्हें उपजातियाँ कहते हैं। उनमें भी वृत्तिकी दृष्टिसे वर्ण भेद पाया जाता है। अस्तु।

इन वर्णोंमेंसे प्रत्येक वर्णका व्यक्ति जब अपने ही वर्णकी स्त्री-से विवाह करता है तो उसे 'सवर्णविवाह' और जब अपनेसे भिन्न वर्णके साथ विवाह करता है तो उसे 'असवर्णविवाह' कहते हैं। असवर्णविवाहके 'अनुलोम' और 'प्रतिलोम' ऐसे दो भेद हैं। अपनेसे नीचे वर्णवालोकी कन्याओंसे विवाह करना 'अनुलोमविवाह' और अपनेसे ऊपरके वर्णवालोकी कन्याओंसे विवाह करना 'प्रतिलोमविवाह' कहलाता है। यद्यपि इन दोनों प्रकारके असवर्ण विवाहोंमें अनुलोमविवाह अधिक मान्य किया गया है परन्तु फिर भी सवर्ण विवाहके साथ भारतवर्षमें दोनों ही प्रकारके असवर्णविवाहोंका प्रचार रहा है और उनके विधि-विधानों अथवा उदाहरणोंसे जैन तथा जैनतर हिन्दू साहित्य भरा हुआ है।

भगवज्जिनसेनाचार्य, आदिपुराणमें, अनुलोमरूपसे असवर्ण-विवाहका विधान करते हुए, स्पष्ट लिखते हैं —

शूद्रा शूद्रेण बोढव्या नान्या स्वा ता च नैगम ।

बहेस्वा ते च राजन्य स्वा द्विजन्मा क्वचिच्च ताः ॥

अर्थात्— शूद्रका शूद्रास्त्रीके सिवाय और किसी वर्णकी स्त्रीके साथ विवाह न होना चाहिये, वैश्य अपने वर्णकी और शूद्रवर्णकी स्त्रीसे भी विवाह कर सकता है, क्षत्रिय अपने वर्णकी और वैश्य तथा शूद्रवर्णकी स्त्रियाँ व्याह सकता है और ब्राह्मण अपने वर्णकी तथा शेष तीन वर्णोंकी स्त्रियोंका भी पाणिग्रहण कर सकता है।

श्रीसोमदेवसूरि भी, नीतिवाक्यामृतमें, ऐसा ही विधान करते हैं। यथा —

आनुलोम्येन चतुस्त्रिद्विवर्णकन्याभाजना ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशः ।

अर्थात् - अनुलोमविवाहकी रीतिसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य क्रमशः चार, तीन और दो वर्णोंकी कन्याओंसे विवाह करनेके अधिकारी हैं।

इन दोनों उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि जैनशास्त्रोमे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके लिये असवर्णविवाह ही नहीं किन्तु शूद्रा तकसे विवाह कर लेना भी उचित ठहराया है। हिन्दुओंकी मनुस्मृतिमे भी प्रायः ऐसा ही विधान पाया जाता है। यथा —

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशा स्मृते ।

ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मन ॥

—अ० ३, श्लो० १३ वाँ

यह श्लोक आदिपुराणके उक्त श्लोकसे बहुत कुछ मिलता-जुलता है और इसमे प्रत्येक वर्णके मनुष्योंके लिये भार्याओं (विवाहित स्त्रियों) का जो विधान किया गया है वह वही है जो आदिपुराणके उक्त श्लोकमे पाया जाता है। अर्थात् शूद्रकी शूद्रा, वैश्यकी वैश्या और शूद्रा, क्षत्रियकी क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा, और ब्राह्मणकी ब्राह्मणी, क्षत्रिय, वैश्या और शूद्रा, ऐसे अनुलोम-क्रमसे भार्याएँ मानी गई हैं।

मनुस्मृतिके ६ वे अध्यायमे दो श्लोक निम्न प्रकारसे भी पाये जाते हैं —

अक्षमाला वसिष्ठेन सयुक्ताऽधमयोनिजा ।

शारङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम् ॥२३॥

एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः ।

उत्कर्षं योषितं प्राप्ता स्वैस्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः ॥२४॥

इन श्लोकोंमे यह बतलाया गया है कि— 'अधम-योनिसे उत्पन्न हुई - निकृष्ट (अछूत) जातिकी - अक्षमाला नामकी स्त्री वसिष्ठ ऋषिसे और शारङ्गी नामकी स्त्री मन्दपाल ऋषिके साथ विवाहित होने पर पूज्यताको प्राप्त हुई। इनके सिवाय और भी दूसरी कितनी

ही हीन जातियोंकी स्त्रियाँ उच्च जातियोंके पुरुषोंके साथ विवाहित होने पर—अपने अपने भर्तारके शुभ गुणोंके द्वारा इस लोकमें उत्कर्षको प्राप्त हुई हैं।” और उन दूसरी स्त्रियोंके उदाहरणमें टीकाकार कुल्लूक भट्टजीने “अन्याश्च सत्यवत्यादयो” इत्यादि रूपसे ‘सत्यवती’ के नामका भी उल्लेख किया है। यह ‘सत्यवती,’ हिन्दू शास्त्रोंके अनुसार, एक धीवरकी—कैवर्त्य अथवा अन्त्यजकी—कन्या थी। इसकी कुमारावस्थामें पराशर ऋषिने इससे भोग किया और उससे व्यासजी उत्पन्न हुए जो ‘कानीन’ कहलाते हैं। बादको यह भीष्मके पिता राजा शान्तनुसे व्याही गई और इस विवाहसे ‘विचित्र-वीर्य’ नामका पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसे राजगद्दी मिली और जिसका विवाह राजा काशीराजकी पुत्रियोंसे हुआ। विचित्रवीर्यके मरने पर उसकी विधवा स्त्रियोंसे व्यासजीने, अपनी माता सत्यवतीकी अनुमतिसे, भोग किया और पाण्डु तथा धृतराष्ट्र नामके पुत्र पैदा किये, जिनसे पाण्डवों आदिकी उत्पत्ति हुई।

इस तरह पर हिन्दूशास्त्रोंमें हीन-जातिकी अथवा शूद्रा स्त्रियोंसे विवाहके कितने ही उदाहरण पाये जाते हैं और उनकी सततिसे अच्छे अच्छे पुरुषों तथा वशोका उद्भव होना भी माना गया है। और जैनशास्त्रोंसे म्लेच्छ, भील तथा वेश्या-पुत्रियों जैसे हीनजातिके विवाहोंके उदाहरण विवाहक्षेत्र-प्रकाशके ‘म्लेच्छोंसे विवाह’ आदि प्रकरणोंमें दिये गये हैं। इन सब उल्लेखोंसे प्राचीनकालमें अनुलोम-रूपसे असवर्णविवाहोंका होना स्पष्ट पाया जाता है।

अब प्रतिलोमविवाहको भी लीजिये। धर्मसंग्रहश्रावकाचारके ९वे अधिकारमें लिखा है —

परस्पर त्रिवर्णांना विवाह पक्तिभोजनम् ।

कर्तव्यं न च शूद्रैस्तु शुद्राणां शूद्रके सह ॥२५६॥

अर्थात्—प्रथम तीन वर्णवालों (ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य) को आपसमें एक दूसरेके साथ विवाह और पक्ति-भोजन करना चाहिये

किन्तु शूद्रोंके] साथ नहीं करना चाहिये । शूद्रोंका विवाह और पंक्ति-भोजन शूद्रोंके साथ होना चाहिये ।

इस वाक्यके द्वारा यद्यपि, श्रीजिनसेनाचार्यके उक्त कथनसे भिन्न प्रथम तीन वर्णोंके लिये शूद्रोंसे विवाहका निषेध किया गया है और उसे मत-विशेष कह सकते हैं, जो बहुत पीछेका मत है^१—हिन्दुओंके यहाँ भी इस प्रकारका मत-विशेष पाया जाता है^२—परन्तु यह स्पष्ट है कि इसमें तीन वर्णोंके लिये परस्पर रोटी-बेटीका खास तौरपर विधान किया गया है । और इससे अनुलोमविवाहके साथ साथ प्रतिलोमविवाहका भी खासा विधान पाया जाता है । अर्थात् क्षत्रियके लिये ब्राह्मणकी और वैश्यके लिये क्षत्रिय तथा ब्राह्मण दोनोंकी कन्याओंसे विवाहका करना उचित ठहराया गया है । जैनकथाग्रन्थोंसे भी प्रतिलोमविवाहका बहुत कुछ पता चलता है, जिसके दो एक उदाहरण नीचे दिये जाते हैं —

(१) वसुदेवजीने, जो स्वयं क्षत्रिय थे, विश्वदेव ब्राह्मणकी क्षत्रिय-स्त्रीसे उत्पन्न 'सोमश्री' नामकी कन्यासे—उसे वेदविद्यामें जोतकर—विवाह किया था । जैसा कि श्रीजिनसेनचार्यकृत हरिवंश-पुराण (२३ वे सर्ग) के निम्न वाक्योंसे प्रकट है —

अन्वये तत्तु जातेय क्षत्रियायां सुकन्यका ।

सोमश्रीरिति विख्याता विश्वदेवद्विजन्मिन ॥४६॥

^१ क्योंकि धर्मसंग्रहशावकाचार' वि० स० १५४१ में बनकर समाप्त हुआ है और इसलिये वह जिनसेनके हरिवंशपुराण से ७०१ वर्ष बादका बना हुआ है ।

^२ अग्नि आदि ऋषियोंके इस मत-विशेषका उल्लेख मनुस्मृतिके निम्न वाक्यमें भी पाया जाता है —

शूद्रावेदी पतत्यत्रैरुतथ्यतनयस्य च ।

शीनकस्य सुतोत्पत्या तदपत्यतया भृगो ॥ ३-१६ ॥

करालब्रह्मादत्तेन मुनिना दिव्यचक्षुषा ।

वेदे जेतु समादिष्टा महत सहचारिणी ॥५०॥

इति श्रुत्वा तदाधीत्य सर्वान्वेदान्यदूत्तम ।

जित्वा सोमश्रियं श्रीमानुपयेमे विधानत ॥५१॥

इन वाक्योंसे अनुलोम और प्रतिलोम दोनों प्रकारके विवाहोका उल्लेख मिलता है ।

(२) श्रीकृष्णाने अपने भाई गजकुमारका विवाह, क्षत्रिय राजा-ओकी कन्याओके अतिरिक्त, सोमशर्मा ब्राह्मणकी पुत्री 'सोमा'से भी किया था, जिसका उल्लेख जिनसेनाचार्य और जिनदास ब्रह्मचारी दोनोंके हरिवंशपुराणोमें पाया जाता है । यहाँ जिनदास ब्र० के हरिवंशपुराणसे एक पद्य नीचे दिया जाता है —

मनोहरतरां कन्यां सोमशर्माग्रजन्मनः ।

सोमाख्या वृत्तवाश्चक्री क्षत्रियाणा तथा परा ॥३४-२६॥

(३) उज्जयिनीके वैश्य-पुत्र 'धन्यकुमार' का विवाह राजा श्रेणिककी पुत्री 'गुणवती' के साथ हुआ था । अपना कुल पूछा जाने पर इन्होंने राजा श्रेणिकसे साफ कह दिया था कि मैं उज्जयिनी-का रहनेवाला एक वैश्यपुत्र हूँ और तीर्थयात्राके लिये निकला हुआ हूँ । इस पर श्रेणिकने गुणवती आदि १६ कन्याओके साथ इनका विवाह किया था । जैसा कि रामचन्द्र-मुमुक्षु-कृत 'पुराणस्रवकथा-कोश'से प्रकट है —

राजा (श्रेणिक) ऽभयकुमारादिभिरद्वैपथमाययौ ।

राजभवन प्रवेश्य किं कुलो भवानिति पप्रच्छ ॥

कुमारो ब्रूते उज्जयिन्या वैश्यात्मजो तीर्थयात्रिकः ।

ततो नृपो गुणवत्यादिभि षोडशकन्याभिस्तस्य विवाहं चकार ॥

इसी पुराणस्रवकथाकोशमें 'भविष्यदत्त' नामके एक वैश्यपुत्र-की भी कथा है, जिसने हरिपुरके अरिजय राजाकी पुत्री 'भविष्यानु-रूपा' से और हस्तिनापुरके राजा भूपालकी कन्या 'स्वरूपा'से विवाह

किया था और जिसके उल्लेखोंको विस्तार-भयसे यहाँ छोड़ा जाता है।

(४) इसी तरह पर हिन्दूधर्मके ग्रन्थोमे भी प्रतिलोमविवाहके उदाहरण पाये जाते हैं जिसका एक नमूना 'ययाति' राजाका उशना ब्राह्मण (शुक्राचार्य) की 'देवयानी' कन्यासे विवाह है। यथा —

तेषा ययाति पच'नारिजित्य वसुधामिमाम्।

देवयानीमुशनम मुता भार्यामवाप म ॥

—महाभा० हरि० अ० ३० वॉ

इसी विवाहसे यदु' पुत्रका होना भी माना गया है, जिससे यदु-वश चला।

इन सब उल्लेखोसे स्पष्ट है कि प्राचीन कालमे अनुलोमरूपसे ही नहीं किन्तु प्रतिलोम रूपसे भी असवर्ण-विवाह होते थे। दाय-भागके ग्रन्थोसे भी असवर्णविवाहकी रीतिका बहुत कुछ पता चलता है—उनमे ऐसे विवाहोसे उत्पन्न होने वाली, सतातके लिये विरासतके नियम दिये हैं, जिनके उल्लेखोको भी यहाँ विस्तार-भयसे छोड़ा जाता है। अस्तु, वर्णकी 'जाति' संज्ञा होने से असवर्ण विवाहोको अन्तर्जातीय विवाह भी कहते हैं। जब भारतकी इन चार प्रधान जातियोमे अन्तर्जातीय विवाह भी होते थे तब इन जातियोसे बनी हुई अग्रवाल, खडेलवाल, पल्लीवाल, ओसवाल और परवार आदि उपजातियोमे, समान वर्ण तथा धर्मके होते हुए भी, परस्पर विवाह न होना क्या अर्थ रखता है और उसके होनेमे कौन सा सिद्धान्त बाधक है यह कुछ समझमे नहीं आता; जान पडता है यह सब आपसकी खीचातानी और परस्परके ईर्ष्याद्वेषादिका परिणाम है—वास्तविक हानि-लाभ अथवा किसी धार्मिक सिद्धान्तसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। वर्णोंकी दृष्टिको छोडकर यदि उपजातियोकी दृष्टि को ही लिया जाय तो उससे भी यह नहीं कहा जा सकता कि पहले उपजातियोमें विवाह नहीं होता था। आर्य-जातिकी अपेक्षा म्लेच्छ-

जाति भिन्न है और स्लेच्छोंमें भी मील, शक, यवन, शबरादिक कितनी ही जातियाँ हैं। जब आर्योंका स्लेच्छों अथवा भीलादिकोंसे विवाह होता था तो वह भी अन्तर्जातीय विवाह था और बहुत बड़ा अन्तर्जातीय विवाह था। उसके मुकाबलेमें तो यह आर्यों-आर्योंकी जातियों अथवा उपजातियोंके अन्तर्जातीय-विवाह कुछ भी गणनामें गिने जानेके योग्य नहीं है। इसके सिवाय पहले भूमिगोचरियोंके साथ विद्याधरोंके विवाह-सम्बन्धका आम दस्तूर था, और उनकी कितनी ही जातियोंका वर्णन शास्त्रोंमें पाया जाता है। वसुदेवजीने भी अनेक विद्याधर-कन्याओंसे विवाह किया था, जिसमें एक 'मदन-वेगा' भी थी और वह श्रीजिनसेनाचार्यके कथनानुसार गौरिक जातिके विद्याधरकी कन्या थी। वसुदेवजी स्वयं गौरिक जातिके नहीं थे और इसलिये गौरिक जातिकी विद्याधर-कन्यासे विवाह करके उन्होंने उपजातियोंकी दृष्टिसे भी स्पष्ट रूपसे अन्तर्जातीय विवाह किया था, इसमें सन्देह नहीं है। आबूके तेजपाल-वस्तुपालवाले जैन मंदिरमें एक शिलालेख सवत् १२६७ का लिखा हुआ है, जिससे मालूम होता है कि प्राग्वाट (पोरवाड) जातिके तेजपाल जैनका विवाह 'मोढ' जातिकी सुहडादेवीसे हुआ था। इस लेखका एक अंश जो जैनमित्र (ता० २३ अप्रैल सन १९२५) में प्रकाशित हुआ, इस प्रकार है —

“ऊँ सवत् १२६७ वर्ष-वैशाख सुदी १४ गुरौ प्राग्वाट ज्ञातीन चड प्रचड प्रसादमह श्री सोमान्वये मह श्रीअसराज सुत मह श्रीतेज-पालेन श्रीमत्पत्तन वास्तव्य मोढ ज्ञातीय ठ० जाल्हरा सुत ठ० आस-सुताया ठकुराज्ञी सतोषा कुक्षिसभूताया महश्री तेज पाल द्वितीय भार्या महश्री सुहडादेवया श्रेयार्थ ”

यह आधुनिक उपजातियोंमें, आजसे करीब ७०० वर्ष पहलेके अन्तर्जातीय-विवाहका एक नमूना है और तेजपाल नामके एक बड़े ही प्रतिष्ठित तथा धर्मात्मा पुरुष-द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इसी

तरहके और भी कितने ही नमूने खोज करने पर मिल सकते हैं। कुछ उपजातियोंमें तो अब भी अन्तर्जातीय विवाह होता रहता है।

ऐसी हालतमें इन अग्रवाल, खडेलवाल आदि जातियोंमें परस्पर विवाह न होनेके लिये सिद्धान्तकी दृष्टिसे, क्या कोई युक्तियुक्त कारण प्रतीत होता है, इसका पाठक स्वयं अनुभव कर सकते हैं। साथ ही, यह भी जान सकते हैं कि दो जातियोंमें परस्पर विवाह सम्बन्ध होनेसे उन जातियोंका लोप होना अथवा जाति-पाँतिका भेदा जाना कैसे बन सकता है ? क्या दो भिन्न गोत्रोंमें विवाह सम्बन्ध होनेसे वे मिट जाते हैं या उनका लोप हो जाता है ? यदि ऐसा कुछ नहीं होता तो फिर दो जातियोंमें परस्पर विवाहके होनेसे उनके नाशकी आशका कैसे की जा सकती है ? अतः इस प्रकारकी चिन्ता व्यर्थ है। जहाँ तक हम समझते हैं एक ही धर्म और आचारके मानने तथा पालनेवाली प्रायः इन सभी उपजातियोंमें परस्पर विवाहके होनेसे कोई हानि मालूम नहीं होती। प्रत्युत इसके, विवाह-क्षेत्रके विस्तीर्ण होनेसे योग्य सम्बन्धोंके लिये मार्ग खुलता है। पारस्परिक प्रेम बढ़ता है, योग्यताके बढ़ानेकी ओर प्रवृत्ति होती है और मृत्युशय्यापर पड़ी हुई कितनी ही अल्पसंख्यक जातियोंकी प्राणरक्षा भी होती है। वास्तवमें ये सब जातियाँ परिकल्पित और परिवर्तनशील हैं—एक अवस्थामें न कभी रही और न रहेगी—इनमें गो-अश्वदि जातियों—जैसा परस्पर कोई भेद नहीं है और इसलिये अपनी जातिका अहंकार करना अथवा उसे श्रेष्ठ तथा दूसरी जातिको अपनेसे हीन मानना मिथ्या है। प० आशाधरजीने भी, अपने अनगारधर्माश्रित ग्रन्थ और उसकी स्वोपज्ञ टीकामें कुल-जाति-विषयक ऐसी अहंकृतिको मिथ्या ठहराया है और उसे आत्म-पतनका हेतु तथा नीचगोत्रके बन्धका कारण बतलाया है। साथ ही, अपने इस मिथ्या ठहरानेका यह हेतु देते हुए कि 'परमार्थसे जाति-कुलकी शुद्धिका कोई निश्चय नहीं बन सकता'—यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक जाति अथवा

कुलकी रक्त-शुद्धि बिना किसी मिलावटके, अक्षुण्ण चली आती है—
उसकी पुष्टिमें नीचे लिखा वाक्य उद्धृत किया है.—

अनादाविह संसारे दुर्वारि मकरध्वजे ।

कुले च कामिनी-मूले का जाति-परिकल्पना ॥

और इस वाक्यके द्वारा यह सूचित किया है कि 'जब ससारमे अनादिकालसे कामदेव दुर्निवार चला आता है और कुलका मूल भी कामिनी है तब किसी 'जाति-कल्पना' को क्या महत्व दिया जा सकता है और उसके आधार पर किसीको क्या मद करना चाहिये?' अतः जाति-विषयक मद त्याज्य है । उसके कारण कमसे कम साध-मियो अथवा समान आचारको पालनेवाली इन उपजातियोमे पार-स्परिक (अन्तर्जातीय) सद्विवाहोके लिये तो कोई रुकावट न होनी चाहिये ।

जाति-पंचायतोंका दंड-विधान

आजकल हमारे बहुधा जैनी भाई अपने अनुदार विचारोंके कारण ज़रा ज़रासी बात पर अपने जाति-भाइयोंको, जातिसे च्युत अथवा बिरादरीसे खारिज करके उनके धार्मिक अधिकारोंमें भी हस्तक्षेप करके उन्हें सन्मार्गसे पीछे हटा रहे हैं, और इस तरह अपनी जातीय तथा सघ-शक्तिको निर्बल और निःसत्व बनाकर अपने ऊपर अनेक प्रकारकी विपत्तियोंको बुलानेके लिये कर्म कर रहे हैं। लोगोको, चारुदत्त सेठके उदाहरण पर ध्यान देते हुए—उसके साथ उस वक्ताकी बिरादरीके किए हुए सलूक और उसके सफलको देखते हुए—दंडविधानके ऐसे अवसरों पर बहुत ही सोच-समझ और गहरे विचार तथा दूरदृष्टिसे काम लेना चाहिए। यदि वे पतितोंका स्वयं उद्धार नहीं कर सकते हो तो उन्हें कमसे कम पतितोंके उद्धारमें बाधक तो नहीं बनना चाहिये और न ऐसा अवसरही देना चाहिये जिससे पतितजन और भी अधिकताके साथ पतित हो जायें। किसी पतित भाईके उद्धारकी चिन्ता न कर उसे जातिसे खारिज कर देना और उसके धार्मिक अधिकारोंको भी छीन लेना ऐसा कर्म है जिससे वह पतित भाई सुधारका अवसर न पाकर और भी ज़्यादा पतित हो जाय अथवा यो कहिये कि वह डूबतेको ठोकर मारकर शीघ्र डुबो देनेके समान है। तिरस्कारसे प्रायः कभी किसीका सुधार नहीं होता

उससे तिरस्कृत व्यक्ति अपने पापकार्यमें और भी दृढ़ हो जाता है और तिरस्कारीके प्रति उसकी ऐसी शत्रुता बढ़ जाती है जो जन्म-जन्मान्तरोमे अनेक दुखों तथा कष्टोका कारण होती हुई दोनोंके उन्नति-पथमें बाधा उपस्थित कर देती है। हाँ, सुधार होता है, प्रेम उपकार और सद्व्यवहारसे। यदि चारुदत्तके कुटुम्बीजन अपने इन गुणों और उदार-परिणतिके कारण, वसन्तसेनाको चारुदत्तके पीछे अपने यहाँ आश्रय न देते बल्कि यह कहकर दुतकार देते कि 'इस पापिनीने हमारे चारुदत्तका सर्वनाश किया है, इसकी सूरत भी नहीं देखनी चाहिये और न इसे अपने द्वार पर खड़े ही होने देना चाहिये' तो बहुत सभव था कि वह निराश्रित-दशामे मजबूर होकर अपनी माताके ही पास जाती और वेश्यावृत्तिके लिये मजबूर होती, और तब उसका वह सुन्दर श्राविकाका जीवन न बन पाता जो उन लोगोंके प्रेमपूर्वक आश्रय देने और सद्व्यवहारसे बन सका था। इसलिये सुधारके अर्थ प्रेम, उपकार और सद्व्यवहारको अपनाना चाहिये, इसकी नितान्त आवश्यकता है। पापीसे पापीका भी सुधार हो सकता है, परन्तु सुधारक होना चाहिये। ऐसा कोई भी पुरुष नहीं है जो स्वभावसे ही 'अयोग्य' हो परन्तु उसे योग्यताकी ओर लगानेवाला 'योजक' होना चाहिये, उसीका मिलना कठिन है। नी-तिकारोने कहा है —

अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः ।

जो जाति अपने किसी अपराधी व्यक्तिको जातिसे खारिज करती है और इस तरह उसके व्यक्तित्वके प्रति भारी घृणा और तिरस्कार-के भाव प्रदर्शित करती है, समझना चाहिये कि वह स्वयं उसका सुधार करनेके लिये असमर्थ है, अयोग्य है और उसमें योजक-शक्ति नहीं है साथही, इस कृतिके द्वारा वह सर्वसाधारणमें अपनी अयोग्यता और अशक्तिकी घोषणा कर रही है — इतना ही नहीं, बल्कि अपनी स्वार्थ-साधुताको भी प्रगट कर रही है। ऐसी अयोग्य और असमर्थ जातिका,

जो अपनेको थाम भी नहीं सकती, कमश. पतन होना कुछ भी अस्वाभाविक नहीं है। पापीका सुधार वही करसकता है जो पापीके व्यक्तित्वसे घृणा नहीं करता बल्कि पापसे घृणा करता है। पापीसे घृणा करनेवाला पापीके पास नहीं फटकता, वह सदैव उससे दूर रहता है और उन दोनोंके बीच मीलोकी गहरी खाई पड़ जाती है। इससे वह पापीका कभी भी कुछ सुधार या उपकार नहीं कर सकता। प्रत्युत इसके, जो पापसे घृणा करता है वह सद्वैद्यकी तरह हमेशा पापीके (रोगीके) निकट होता है और बराबर उसके पाप (रोग) को दूर करने का यत्न करता रहता है। यही दोनोंमे भारी अन्तर है। आजकल अधिकांश जन पापसे तो घृणा नहीं करते परन्तु पापीसे घृणाका भाव जरूर दिखलाते हैं, अथवा घृणा करते हैं। इसीसे ससारमे पापकी उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है और उसकी शान्ति होनेमे नहीं आती। बहुधा जाति-बिरादरियो अथवा पचायतियोकी प्राय ऐसी नीति पाई जाती है कि वे अपने जाति-भाइयोको पापकर्मसे तो नहीं रोकती और न उनके मार्गमे कोई अर्गला ही उपस्थित करती हैं, बल्कि यह कहती हैं कि 'तुम सिंगल-इकहरा पाप मत करो, बल्कि डबल-दोहरा पाप करो, डबल पाप करनेसे तुम्हे कोई दंड नहीं मिलेगा, सिंगल पाप करने पर तुम जातिसे खारिज हो जाओगे। अर्थात् वे अपने व्यवहारसे उन्हे यह शिक्षा दे रही है कि 'तुम चाहे जितना बड़ा पाप करो, हम तुम्हे पाप करनेसे नहीं रोकती, परन्तु पाप करके यह कहो कि हमने नहीं किया, पापको छिपाकर करो और उसे छिपानेके लिये जितना भी मायाचार तथा असत्य-भाषणादि दूसरा पाप करना पड़े उसकी तुम्हे छुट्टी है, तुम खुशीसे व्यभिचार कर सकते हो, परन्तु वह स्थूलरूपमे किसी पर जाहिर न हो, भले ही इस कामके लिये रोटी बनानेवालीके रूपमे किसी स्त्रीको रखलो, परन्तु इससे अपना अनुचित सम्बन्ध मत जाहिर होने दो और यदि तुम्हारे फेल (कर्म)से किसी विधवाको गर्भ रह जाय तो

खुशीसे उसकी भ्रूण-हत्या कर डालो, अथवा बालक प्रसव करा-
कर उसे कहीं जंगल आदिमें डाल आओ या मार डालो, परन्तु खुले
रूपमें जाति-बिरादरीके सामने यह बात न आने दो कि तुमने उस
विधवाके साथ सम्बन्ध किया है इसीमें तुम्हारी खैर है—मुक्ति है
और नहीं तो जातिसे खारिज कर दिए जाओगे। जाति-विरादरियों
अथवा पंचायतियोंकी ऐसी नीति और व्यवहारके कारण ही आज
कल भारतवर्षका और उसमें भी उच्च कहलानेवाली जातियोंका
बहुत ही ज्यादा नैतिक पतन हो रहा है। ऐसी हालतमें पापियोंका
सुधार और पतितोंका उद्धार कौन करे, यह एक बड़ी कठिन समस्या
उपस्थित है।

एक बात और भी नोट किए जाने योग्य है और वह यह कि
यदि कोई मनुष्य पापकर्म करके पतित होता है तो उसके लिए इस
बातकी खास जरूरत रहती है कि वह अपने पापका प्रायश्चित्त
करनेके लिये अधिक धर्म करे, उसे ज्यादा धर्मकी ओर लगाया जाय
और अधिक धर्म करनेका मौका दिया जाय, परन्तु आजकल कुछ
जैन जातियों और जैन पंचायतोंकी ऐसी उल्टी रीति पाई जाती है
कि वे ऐसे लोगोंको धर्म करनेसे रोकते हैं—उन्हे जिनमन्दिरोंमें
जाने नहीं देते अथवा बीतराग भगवानकी पूजा-प्रक्षाल नहीं करने
देते, और भी कितनी ही आपत्तियाँ उनके धार्मिक अधिकारोंपर
खड़ी कर देते हैं। समझमें नहीं आता यह कैसी पापोंसे घृणा और
धर्मसे प्रीति, अथवा पतितोंके उद्धारकी इच्छा है ॥ और किसी
बिरादरी या पंचायतको किसीके धार्मिक अधिकारोंमें हस्तक्षेप कर-
नेका क्या अधिकार है ?

जैनियोंमें अविरत-सम्यग्दृष्टिका भी एक दर्जा (चतुर्थ गुणस्थान)
है। और अविरतसम्यग्दृष्टि उसे कहते हैं जो इन्द्रियोंके विषयो तथा
त्रस-स्थावर जीवोंकी हिंसासे विरक्त नहीं होता—अथवा यो कहिये
कि इन्द्रियसयम और प्राणिसयम नामक दोनों संयमोंमेंसे किसी

भी संयमका धारक नहीं होता, परन्तु जिनेन्द्र भगवानके वचनोमे श्रद्धा जरूर रखता है^१। ऐसे लोग भी जब जैनी होते हैं और सिद्धान्ततः जैनमन्दिरोंमे जाने तथा जिनपूजनादि करनेके अधिकारी हैं^२ तब एक श्रावकसे जो जैनधर्मका श्रद्धालु है, चारित्र्यमोहनीय कर्मके तीव्र-उदयवश यदि कोई अपराध बन जाता है तो उसकी हालत अविरत-सम्यग्दृष्टिसे और ज्यादा क्या खराब हो जाती है, जिसके कारण उसे मन्दिरमे जाने आदिसे रोका जाता है। जान पड़ता है कि इस प्रकारके दड-बिधान केवल नासमभी और पारस्परिक कषाय-भावोंसे सम्बन्ध रखते हैं। अन्यथा, जैनधर्ममे तो सम्यग्दर्शनसे युक्त (सम्यग्दृष्टि) चारण्डालके पुत्रको भी 'देव' कहा है—आराध्य बतलाया है। और उसकी दशा उस अंगारके सदृश प्रतिपादन की है जो बाह्यमे भस्मसे आच्छादित होनेपर भी अंतरंगमे तेज तथा प्रकाशको लिए हुए है और इसलिये कदापि उपेक्षणीय नहीं होता^३। इसीसे बहुत प्राचीन समयमे, जब जैनयोका हृदय सच्ची धर्मभावनासे प्रेरित होकर उदार था और जैनधर्मकी उदार (अनेकान्तात्मक) छत्रछायाके नीचे सभी लोग एकत्रित थे, मातंग (चारण्डाल) भी जैन मन्दिरोंमे जाया करते थे और भगवानका दर्शन-पूजन करके अपना

१ गोइदियेसु विरदो गो जीवे थावरे तसे वापि ।

जो सदृहइ जिरुत्त सम्माइट्टी अविरदो सो ॥ २६ ॥

—गोम्मटसार

२ जिन-पूजाके कौन कौन अधिकारी हैं, इसका विस्तृत और प्रामाणिक कथन लेखककी लिखी हुई 'जिनपूजनाधिकार-मीमांसा' से जानना चाहिये ।

३. सम्यग्दर्शन-सम्पन्नमपि मातंगदेहजम् ।

देवा देव विदुर्भस्म गूढागारान्तरोजसम् ॥

—रत्नकरडै, स्वामियमन्तभद्र

जन्म सफल किया करते थे । इस विषयका अच्छा उल्लेख श्री-जिनसेनाचार्यके हरिवंशपुराण (सर्ग २६) में पाया जाता है और वह इस प्रकार है —

“सम्प्रीका खेचरा याता सिद्धकूट-जिनालयम् ।

एकदा वदितुं सोपि शौरिर्मदनवेगया ॥ २ ॥

कृत्वा जिनमः खेटा प्रबन्ध प्रतिमागृहम् ।

तस्थु स्तभानमाश्रित्य बहुवेषा यथायथम् ॥ ३ ॥

विद्युद्वेगोपि गौरीणां विद्यानां स्तम्भमाश्रितः ।

कृतपूजास्थितः श्रीमान्स्वनिकायपरिष्कृतः ॥ ४ ॥

पष्टया वसुदेवेन ततो मदनवेगया ।

विद्याधरनिकायास्ते यथास्वमिति कीर्तिता ॥ ५ ॥”

“अमी विद्याधरा ह्यार्या समासेन समीरिता ।

मातगानामपि स्वामिन्निकायान् शृणु वच्मि ते ॥ १४ ॥

नीलाम्बुदचयश्यामा नीलाम्बरवरस्त्रजः ।

अमी मातगनामानो मातगस्तभ-सगता ॥ १५ ॥

श्मशानास्थिकृतोत्तंसा भस्मरेणु-विधूसरा ।

श्मशानानिलयास्त्वेते स्मशानस्तभमाश्रिता ॥ १६ ॥

नीलवैडूर्यवर्णानिधायन्त्यंबराणि ये ।

पादुरस्तभमेत्यामी स्थिता पादुखेचरा ॥ १७ ॥

कृष्णाऽजिनधरास्त्वेते कृष्णचर्माम्बरस्त्रजः ।

कानीलस्तभमध्येत्य स्थिता कालश्वपाकिन ॥ १८ ॥

पिंगलैर्मूर्ध्वजैर्युक्तास्तप्रकाचनभूषणा ।

श्वपाकीना च विद्यानां श्रिता स्तभ श्वपाकिनः ॥ १९ ॥

पत्रपणशुकच्छन्न-विचित्र-मुकुट-स्त्रजः ।

पार्वतेया इति ख्याता पार्वतस्तभमाश्रिता ॥ २० ॥

वंशीपत्र कृतोत्तंसा मर्बतु कुसुमस्त्रजः ।

वशस्तमाश्रिताश्चैते खेटा वंशालया मता ॥ २१ ॥

महाभुजगशोभांकसंहृष्टवरभूषणा ।

वृक्षमूलमहास्तंभमाश्रिता वार्त्तमूलका ॥ २२ ॥

स्ववेषकृतसंचारा स्वचिन्हकृतभूषणा ।

समासेन समाख्याता निकाया खचरोद्गताः ॥ २३ ॥

इति भार्योपदेशेन ज्ञातविद्याधरान्तर ।

शौरिर्यति निज स्थान खेचराश्च यथायथम् ॥ २४ ॥”

इन पद्योका अनुवाद प० गजाधरलाजीने अपने भाषा हरिवश-पुराण^१ में निम्नप्रकार दिया है —

“एक दिन समस्त विद्याधर अपनी अपनी स्त्रियों के साथ सिद्ध-कूट चैत्यालयकी वन्दनार्थ गये । कुमार (वसुदेव) भी प्रियतमा मदन-वेगाके साथ चल दिये ॥ २॥ सिद्धकूटपर जाकर चित्र-विचित्र वेषोके धारण करनेवाले विद्याधरोंने सानन्द भगवानकी पूजा की, चैत्यालयको नमस्कार किया एवं अपने अपने स्तभोका सहारा लेकर जुदे-जुदे स्थानोपर बैठ गये । कुमारके श्वसुर विद्युद्वेगने भी अपनी जातिके गौरिक निकायके विद्याधरोके साथ भले प्रकार भगवानकी पूजा की और अपनी गौरी विद्याओके स्तभका सहारा लेकर बैठ गए । कुमारकी विद्याधरोकी जातिके जाननेकी उत्कठा हुई, इसलिये उन्होंने उनके विषयमें प्रियतमा मदनवेगासे पूछा और मदनवेगा यथायोग्य विद्याधरोकी जातियोंका इस प्रकार वर्णन करने लगी —”

“प्रभो । ये जितने विद्याधर हैं वे सब आर्यजातिके विद्याधर हैं । अब मैं मातगजातिके विद्याधरोको बतलाती हूँ आप ध्यान-पूर्वक सुने ।”

“नीलमेघके समान श्याम नीली माला धारण किये, मातगस्तभ के सहारे बैठे हुए ये मातगजातिके विद्याधर हैं ॥ १४-१५ ॥ मुर्दोंकी हड्डियोंके भूषणोंसे भूषित, भस्म (राख) की रेणुओंसे मटमैले

और श्मशान (स्तभ) के सहारे बैठे हुए ये श्मशान-जातिके विद्याधर हैं ॥१६॥ वैदूर्यमणि के समान नीले नीले वस्त्रोंको धारण किए पांडुर-स्तभके सहारे बैठे हुए ये पांडुकजातिके विद्याधर हैं ॥१७॥ काले काले मृगचर्मोंको ओढ़े, काले चमड़ेके वस्त्र और मालाओंको धारे कालस्तभका आश्रय लेकर बैठे हुए ये कालश्वापाकी जातिके विद्याधर हैं ॥१८॥ पीले वर्णके केशोंसे भूषित, तप्तस्वर्णके भूषणोंके धारक श्वपाकविद्याओंके स्तभके सहारे बैठनेवाले ये श्वपाकजातिके विद्याधर हैं ॥१९॥ वृक्षोंके पत्तोंके समान हरे वस्त्रोंको धारण करनेवाले, भाति भातिके मुकुट और मालाओंके धारक पर्वतस्तभका सहारा लेकर बैठे हुए ये पार्वतीयजातिके विद्याधर हैं ॥२०॥ जिनके भूषण बासके पत्तोंके बने हुए हैं, जो सब ऋतुओंके फूलोंकी मालाएँ पहिने हुए हैं और वशस्तभके सहारे बैठे हुए हैं वे वशालयजातिके विद्याधर हैं ॥२१॥ महासर्पके चिन्होंसे युक्त उत्तमोत्तम भूषणोंको धारण करनेवाले वृक्षमूल नामक विशाल स्तभके सहारे बैठे हुए ये वार्क्षमूलकजातिके विद्याधर हैं ॥२२॥ इस प्रकार रमणी मदनवेगा-द्वारा अपने अपने वेष और चिन्ह-युक्त भूषणोंसे विद्याधरोंका भेद जानकर कुमार अति प्रसन्न हुए और उसके साथ अपने स्थान चले आए, एव अन्यविद्याधर भी अपने अपने स्थान चले गए ।”

इस उल्लेखपरसे इतना ही स्पष्ट मालूम नहीं होता कि मातंग जातियोंके चाडाल लोग भी जैन मन्दिरोंमें जाते और पूजन करते थे, बल्कि यह भी मालूम होता है कि श्मशानभूमिकी हड्डियोंके आभूषण पहने हुए तथा मृगछाल ओढ़े, चमड़ेके वस्त्र पहिने और चमड़ेकी मालाएँ हाथमें लिये हुए भी जैनमन्दिरोंमें जा सकते थे ।

१ यहाँ किसीको यह समझने की भूल न करना चाहिये कि लेखक आजकल ऐसी अपवित्र दशामे मन्दिरोंमें जानेकी प्रवृत्ति चलाना चाहता है ।

और न केवल जा ही सकते थे बल्कि अपनी शक्ति और भक्तिके अनुसार पूजाकरनेके बाद उनके वहाँ बैठनेके लिये स्थान भी नियत था, जिससे उनका जैन मन्दिरमें जानेका और ज्यादा नियत अधिकार पाया जाता है^१। जान पड़ता है उस समय सिद्धकूट-जिनालयमें प्रतिमागृहके सामने एक बहुत बड़ा विशाल मंडप होगा और उसमें स्तम्भोंके विभागसे सभी आर्य-अनार्य-जातियोंके लोगोंके बैठनेके लिये जुदा जुदा स्थान नियत कर रखे होंगे। आजकल जैनियोंमें उक्त सिद्धकूट-जिनालयके ढंगका, उसकी नीतिका अनुसरण करनेवाला, एक भी जैन मन्दिर नहीं है^२। लोगोंने बहुधा जैन मन्दिरोंको देव-सम्पत्ति न समझकर अपनी घरू सम्पत्ति समझ रक्खा है, उन्हें अपनी ही चहल-पहल तथा आमोद-प्रमोदादिके एक प्रकारके साधन बना रक्खा है। वे प्रायः उन महीदार्य-सम्पन्न लोक-पिता वीतराग भगवानके मन्दिर नहीं जान पड़ते, जिनके समवसरणमें पशु तक भी जाकर बैठते थे। और न वहाँ, मूर्तिको छोड़कर, उन पूज्य पिताके वैराग्य, औदार्य तथा माम्यभावादि गुणोंका कहीं कोई आदर्श ही नजर आता है। इसीसे वे लोग उनमें चाहें जिस जैनीको आने देते

१ श्रीजिनसेनाचार्यने ६ वीं शताब्दीके वातावरणके अनुसार भी ऐसे लोगोंका जैनमन्दिरमें जाना आदि आपत्तिके योग्य नहीं ठहराया और न उससे मन्दिरके अपवित्र हो जानेको ही सूचिन किया। इससे क्या यह न समझ लिया जाय कि उन्होंने ऐसी प्रवृत्तिका अभिनन्दन किया है अथवा उसे बुरा नहीं समझा ?

२ चादनपुर श्रीमहावीरजीके मन्दिरमें तो वर्षभरमें दो एक दिन के लिये यह हवा आ जाती है कि सभी ऊँच-नीच जातियोंके लोग बिना किसी रुकावटके अपने प्राकृत वेषमें—जूते पहने और चमड़े-के ढोल आदि चीजे लिए हुए वहाँ चले जाते हैं, और अपनी भक्तिके अनुसार दर्शन पूजन तथा परिक्रमण कर वापिस आते हैं।

हैं और चाहे जिसको नहीं। कई ऐसे जैन मन्दिर भी देखनेमें आए हैं जिनमें ऊनी वस्त्र पहिने हुए जैनियोंको भी घुसने नहीं दिया जाता। इस अनुदारता और कृत्रिम धर्मभावनाका भी कहीं कुछ ठिकाना है। ऐसे सब लोगोको खूब याद रखना चाहिये कि दूसरोके धर्म-साधनमें विघ्न करना, बाधक होना, उनका मन्दिर जाना बन्द करके उन्हें देव-दर्शनादिसे विमुख रखना और इस तरह पर उनकी आत्मोन्नतिमें रुकावट डालना बहुत बड़ा भारी पाप है। अजनासुन्दरीने अपने पूर्व जन्ममें थोड़े ही कालके लिये जिनप्रतिमाको छिपाकर अपनी सौतके दर्शन-पूजनमें अन्तराय डाला था, जिसका परिणाम यहाँ तक कटुक हुआ कि उसको अपने इस जन्ममें २२ वर्ष तक पतिका दु सह वियोग सहना पड़ा और अनेक सकट तथा आपदाओंका सामना करना पड़ा, जिनका पूर्ण विवरण श्रीरविषेणाचार्य-कृत पद्मपुराणके देखनेसे मालूम हो सकता है। श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने अपने 'रयणसार' ग्रन्थमें यह स्पष्ट बतलाया है कि 'दूसरोके पूजन और दान-कार्यमें अन्तराय (विघ्न) करनेसे जन्म-जन्मान्तरमें क्षय, कुष्ट, शूल, रक्तविकार, भगदर जलोदर, नेत्रपीडा शिरोवेदना आदि रोग तथा शीत-उष्णके आताप और कुयोनियोमें परिभ्रमण आदि अनेक दु खोकी प्राप्ति होती है। यथा'—

स्वय-कुट्टसूलमूलो लोयभगदरजलोदरक्खिसिरो ।

सीदुगह बह्वराई पूजादाणतराय-कम्मफल ॥ ३३ ॥

इसलिये जो कोई जाति-बिरादरी अथवा पंचायत किसी जैनीको जैनमन्दिरमें न जाने अथवा जिनपूजादि धर्म कार्योंसे वंचित रखनेका दंड देती है वह अपने अधिकारका अतिक्रमण और उल्लंघन ही नहीं करती, बल्कि घोर पापका अनुष्ठान करके स्वयं अपराधिनी बनती है। ऐसी जाति-बिरादरियोंके पचोकी निरकुशताके विरुद्ध आवाज उठनेकी जरूरत है और उसका बातावरण ऐसे ही लेखकों द्वारा पैदा किया जा सकता है। आजकल जैन पंचायतोंने 'जाति-

बहिष्कार' नामके तीक्ष्ण हथियारको जो एक खिलौनेकी तरह अपने हाथमें ले रक्खा है और बिना उसका प्रयोग जाने तथा अपने बला-दिक और देश-कालकी स्थितिको पहचाने जहाँ तहाँ यद्वा तद्वा रूपमें उसका व्यवहार किया जाता है वह धर्म और समाजके लिये बड़ा ही भयकर तथा हानिकारक है। इस विषयमें श्रीसोमदेवसूरि अपने 'यशास्तिलक' ग्रन्थ (शक स० ८८१) में लिखते हैं —

नवै सदिग्ध निर्वाहै बिदग्धाद्गणवर्धनम् ।

एकदोषकृते त्याज्य प्राप्तत्त्व कथं नर ॥

यत समयकार्यार्थो नाना-पञ्चजनाश्रय ।

अत सबोध्य यो यत्र योग्यस्त तत्र योजयेत् ॥

उपेक्षाया तु जायेत तत्त्वाद्दूरतरो नर ।

तनस्नस्य भवो दीर्घ समयोपि च हीयते ॥

इन पद्योका आशय इस प्रकार है -

'ऐसे ऐसे नवीन मनुष्योंसे अपनी जातिकी समूह-वृद्धि करनी चाहिये जो सदिग्धनिर्वाह है—अर्थात् जिनके विषयमें यह सन्देह है कि वे जातिके आचार-विचारका यथेष्ट पालन कर सकेंगे। (और जब यह बात है तब) किसी एक दोषके कारण कोई विद्वान् जातिसे बहिष्कारके योग्य कैसे हो सकता है ? चूँकि सिद्धान्ताचार-विषयक धर्म-कार्योंका प्रयोजन नाना पञ्चजनोंके आश्रित है—उनके सहयोगसे सिद्ध होता है—अतः समझाकर जो जिस कामके योग्य हो उसको उसमें लगाना चाहिये—जातिसे पृथक् न करना चाहिये। यदि किसी दोषके कारण एक व्यक्तिकी—खासकर विद्वानकी - उपेक्षा की जाती है—उसे जातिमें रखनेकी पर्वाह न करके जातिसे पृथक् किया जाता है—तो इस उपेक्षासे वह मनुष्य तत्त्वसे बहुत दूर जा पड़ता है। तत्त्वसे दूर जा पड़नेके कारण उसका ससार बढ़ जाता है और धर्मकी भी क्षति होती है—समाजके साथ साथ धर्मको भी भारीहानि उठानी पड़ती है, उसका यथेष्ट प्रचार और पालन नहीं हो पाता।'

आचार्यमहोदयने अपने इन वाक्यों-द्वारा जैन जातियों और जैन पंचायतोंको जो गहरा परामर्श दिया है और जो दूरकी बात सुभाई है वह सभीके ध्यान देने और मनन करनेके योग्य है । जब जब इस प्रकारके सदुपदेशों और सत्परामर्शों पर ध्यान दिया गया है तब तब जैन समाजका उत्थान होकर उसकी हालत कुछसे कुछ होती रही है—इसमें अच्छे अच्छे राजा भी हुए, मुनि भी हुए और जैनियोंने अपनी लौकिक तथा पारलौकिक उन्नतिमें यथेष्ट प्रगति की, साथ ही जैनधर्मका भी अच्छा अभ्युत्थान हुआ । परन्तु जबसे उन उपदेशों तथा परामर्शोंकी उपेक्षा की गई तभीसे जैनसमाजका पतन हो रहा है और आज उसकी इतनी पतिततावस्था हो गई है कि उसके अभ्युदय और समृद्धिकी प्रायः सभी बातें स्वप्न-जैसी मालूम होती हैं, और यदि कुछ पुरातत्त्वज्ञों अथवा ऐतिहासिक विद्वानों-द्वारा थोड़ासा प्रकाश न डाला जाता तो उन पर एकाएक विश्वास भी होना कठिन था । ऐसी हालतमें, अब जरूरत है कि जैनियोंकी प्रत्येक जातिमें ऐसे वीर पुरुष पैदा हों अथवा खड़े हों जो बड़े ही प्रेमके साथ युक्तिपूर्वक जातिके पक्ष तथा मुखियाओंको उनके कर्तव्यका ज्ञान कराएँ और उनकी समाज-हित-विरोधिनी निरकुश प्रवृत्तिको नियंत्रित करनेके लिये जी-जानसे प्रयत्न करें । ऐसा होने पर ही समाजका पतन रुक सकेगा और उसमें फिरसे वही स्वास्थ्यप्रद, जीवनदाता और समृद्धिकारक पवन बह सकेगा जिसका बहना अब बन्द हो रहा है और उसके कारण समाजका सास घुट रहा है । आशा है समाजके सभी शुभचिन्तक अपने वर्तमान कर्तव्यको समझेंगे और बड़ी दृढ़ताके साथ उसके पालनमें दत्तचित्त होंगे ।

हम दुखी क्यों हैं ?

दुखभरी हालत

इसमे कोई सन्देह नहीं और न किसीको कुछ आपत्ति है कि आज कल हमें सुख नहीं, आराम नहीं और चैन नहीं। हमारी बेचैनी, परेशानी और घबराहट दिन पर दिन बढ़ती जाती है, तरह तरहकी चिन्ताओंने हमको घेर रक्खा है, रात दिन हम इसी उधेड़-बुनमें रहते हैं कि किसी तरह हमको सुख मिले, हम सुखकी नींद सोएँ, हमारे दुख-दर्द दूर हो, हमारी गर्दनसे चिन्ताओंका भार उतरे और हमारी आत्माको शान्तिकी प्राप्ति हो। इसी सुख-शान्तिकी खोजमें—उसकी प्राप्तिके लिये— हम देशविदेशोमें मारे मारे फिरते हैं, जंगल बियावानोंकी खाक छानते हैं, पर्वत-पहाड़ोंसे टक्करे लेते हैं, नदी-नालो और समुन्द्रों तकको लाँघने या उनकी छाती पर भूग दलनेकी कोशिश करते हैं। इसके सिवाय, दिन रात तेलीके बेलकी तरह घरके धन्धोंकी पूर्तिके पीछे ही चक्कर लगाते रहते हैं, उन्हींके जालमें फँसे रहते हैं, उनका कभी ओड (अन्त) नहीं आता, उनकी पूर्ति और भूठी मान-बड़ाईके लिये धनकी चिन्ता हरदम सिर पर सवार रहती है, हरवक्त यही रट लगी रहती है कि 'हाय टका ! हाय टका ! टका कैसे पैदा हो ! क्या करे कहाँ जाँय और कैसे करे ! ! किसी भी तरह क्यों न हो, टका पैदा होना चाहिये, तभी काम

चलेगा, तभी दुख मिटेगा। और इसलिये हर जायज नाजायज तरीके-से—उचितानुचितरूपसे—हम रुपया पैदा करनेके पीछे पड़े हुए हैं, उसीकी एक धुन और उसीका एक स्खलन (पागलपन) हमारे सिरपर सवार है और उसकी सम्प्राप्तिमें इतना सलग्न रहना होता है कि हमें अपने तन-बदनकी भी पूरी सुध नहीं रहती। फिर इन बातोंको तो कौन सोचे और कौन उनपर गहरा विचार करे कि 'हम कौन हैं, कहाँ से आए हैं, क्यों आए हैं, कैसे आए हैं, कहाँ जायँगे, कब जायँगे कैसे जायँगे, हमारा आत्मीय कर्तव्य क्या है, उसे पूरा करनेके लिये हमने कोई कार्रवाई की या नहीं, और हमें इस मनुष्य-शरीरको पाकर ससारमें क्या क्या काम करने चाहिये'। इन सब बातोंको सोचने और विचारनेका हमारे पास समय ही नहीं है। हमको इतनी फुसंत कहाँ जो इस प्रकारके विचारोंके लिए भी कुछ वक्त दे सके या ऐसे विचारोंके साहित्यको ही पढ़-सुन सके ? हमारी इधर प्रवृत्ति ही नहीं होती। गरज यह कि अपने सुखकी सामग्रीको एकत्र करने अथवा जुटानेके लिये हमें रात-दिन खड़ी अंगुलियों नाचना पड़ता है और पूर्णरूपसे उसीमें सलग्न रहना होता है। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी—धन-दौलत और भूठी इज्जत पैदा करनेके यत्नमें इतना अधिक तत्परता होते हुए और उसे बहुत कुछ प्राप्त करते हुए भी—हमें सुख नहीं मिलता शान्ति नसीब नहीं होती। चारों तरफ जिधर भी आँख उठाकर देखते हैं दुःख ही दुःख नजर आता है—हमारे स्वजन परिजन, इष्ट मित्र सगे सम्बन्धी, यार दोस्त, अडोसी-पडोसी, नगर और देहातके प्रायः सभी लोग दुःख-दर्द-से पीड़ित हैं, हर ओरसे दुःखदर्दभरी आवाजे ही सुनाई पड़ती हैं। अपना ही दुःख दूर नहीं होता तब दूसरोंके दुःखको मालूम करने और दूर करनेकी फिर कौन करे ? कौन किसी पर दया अथवा रहम करे ? कौन किसीको मदद करे ? और कैसे कोई किसीके दुःखदर्दमें काम आवे ? हर एकको अपनी अपनी पड़ी है, अपने ही मतलबसे

मतलब है, अपनी स्वार्थसिद्धिके सामने दूसरोकी जान, माल, इज्जत और आबरू (प्रतिष्ठा) कोई चीज नहीं—उसका कुछ भी मूल्य नहीं है। इस तरह और ऐसी हालतमें हमारा दुख घटनेकी जगह उलटा दिनपर दिन बढ़ रहा है और हमें चैन या सुख-शांति नहीं मिलती।

धार्मिक पतन

अब प्रश्न यह पैदा होता है कि ऐसा क्यों हो रहा है ? हमारा दुःख क्यों बढ़ रहा है ? इसका सीधा सादा उत्तर, यद्यपि, यह दिया जा सकता है कि हमसे धर्म उठ गया और रहा सहा भी उठता जा रहा है उसीका यह नतीजा है कि हम दुःखी हैं और हमारा दुःख बढ़ रहा है। और इस उत्तरकी यथार्थता अथवा उपयुक्ततापर कोई आपत्ति भी नहीं की जा सकती, क्योंकि धर्म सुखका कारण है और कारणसे ही कार्यकी सिद्धि होती है, इसे सबही मतमतान्तरके लोग मानते हैं। बड़े बड़े ऋषियो मुनियो और महात्माओंने धर्मको ही लोक-परलोकके सभी सुखोंका कारण बतलाया है और यह प्रतिपादन किया है कि वह जीवोंको ससारके दुःखोंसे निकालकर उत्तम सुखोंमें धारण करनेवाला है। और वही अकेला एक ऐसा मित्र है जो परलोकमें भी साथ जाकर इस जीवके सुखका साधन बनता है—उसे सुखकी सामग्री प्राप्त कराता है—उसीसे आत्माका अभ्युदय और उत्थान होकर मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है। धर्मके स्वरूप पर विचार करनेसे भी ऐसा ही मालूम होता है—उसकी महिमा तथा शक्तिमें कुछ भी विवाद नहीं है। प्रत्युत इसके, अधर्म या पाप दुःखका कारण है, हर एक जिल्लत—मुसीबतका सबब अथवा दुर्गति—विपत्तिका निदान है। अतः हमारी मौजूदा दुःखमयी हालत हमारे पापी आचरणकी दलील है, बुरे कर्मोंका नतीजा है और इस बातको जाहिर करती है कि हममें धर्मका आचरण प्रायः नहीं रहा।

वास्तवमें, हम धर्म-कर्मसे बहुत गिर गये हैं और हमारा बहुत कुछ पतन हो चुका है। चाहे जिस आचरणको धर्मकी कसौटीपर कसिये, प्रायः पीतल या मुलम्मा मालूम होता है। हमारी पूजा, भक्ति, सामायिक, व्रत, नियम, उपवास, दान, शील, तप और सयम आदिकी जो भी क्रियाएँ धर्मकं नामसे नामांकित हैं—जिनको हम 'धर्म' कहकर पुकारते हैं—उनमें भी धर्म प्रायः नहीं रहा है। वे भाव-शून्य होनेसे बकरीके गलेमें लटकते हुए थनोके समान हैं^१। बकरीके गलेके थन जिस प्रकार देखनेके लिये थन होते हैं—उनका आकार थनो जैसा होता है—परन्तु वे थनोका काम नहीं देते, उनसे दूध नहीं निकलता। ठीक वही हालत हमारी उक्त धार्मिक क्रियाओंकी हो रही है। वे देखने-दिखानेके लिये ही धार्मिक क्रियाएँ हैं, परन्तु उनमें प्राण नहीं, जीवन नहीं, धर्मका भाव नहीं और न हमें उनका रहस्य ही मालूम है। वे प्रायः एक दूसरेकी देखादेखी, रीति-रिवाजकी पाबन्दी अथवा रूढ़िका पालन करने, धर्मात्मा कहलाने, यश कीर्ति प्राप्त करने और या किसी दूसरे ही लौकिक प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिये नुमाइशी तौरपर की जाती हैं। उनके मूलमें प्रायः अज्ञानभाव, लोकादिखावा, रूढ़िपालन, मानकषाय और दुनियासाजीका भाव भरा रहता है, यही उनकी कूक और यही उनकी चाबी-कुजी है। उन क्रियाओंको सम्यक्चारित्र नहीं कह सकते, सम्यक्चारित्रके लिये सम्यग्ज्ञानपूर्वक होना लाजिमी है और वह लौकिक प्रयोजनोसे रहित होता है। जो क्रियाएँ सम्यग्ज्ञानपूर्वक अपना आत्मीय कर्तव्य समझ कर नहीं की जाती, वे सब मिथ्या, झूठी अथवा नुमाइशी क्रियाएँ हैं, मिथ्याचारित्र हैं, और अन्त में ससारके दुखोका कारण हैं। और इसलिये, धार्मिक दृष्टिसे, हमारी इन धर्मके नामसे प्रसिद्ध होनेवाली

१ भावहीनस्य पूजादि-तपो-दान-जपादिकम् ।

व्यर्थं दीक्षादिकं च स्यादजाकठस्तनाविव ॥

वर्तमान क्रियाओंको 'सम्यक्चारित्र' न कहकर 'यात्रिक चारित्र' अथवा जड़-मशीनो-जैसा आचरणक हना चाहिये । उनसे धर्म-फल-की प्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि बिना भावके क्रियाएँ फलदायक नहीं होती ।

इसके सिवाय, जिधर देखिये उधर ही हिंसा, भूठ, चोरी, लूट-खसोट मारकाट सीनाजोरी विश्वासघात, रिश्वत-धूस, व्यभिचार, बलात्कार, विलासप्रियता विषयाशक्ति और फूटका बाजार गर्म है, छल-कपट, दभ-मायाचार, धोखा, दगा, फरेब, जालसाजी और चालबाजीका दौरदौरा है; जूआ भी कुछ कम नहीं, और सट्टे ने तो लोगोका बधना-बोरिया ही इकट्ठा कर रक्खा है, लोगोके दिलोमे ईर्ष्या, द्वेष घृणा और अदेखसकाभावकी अग्नि जल रही है, आपस-के वैर-विरोध, मनमुटाव और शत्रुताके भावसे सीने स्याह अथवा हृदय काले हो रहे है, भाई भाईमे अनबन, बाप बेटेमे खिचावट, मित्रो-मित्रोमे वैमनस्य और स्त्री-पुरुषोमे कलह है, चारो ओर अन्याय और अत्याचार छाया हुआ है, लोग क्रोधके हाथोसे लाचार हैं, भूटे मानकी शानमे हैरान व परेशान है और लोभकी मात्रा तो इतनी बढ़ी हुई है तथा बढ़ती जाती है कि दयाधर्मके माननेवाले और अपनेको ऊँच जाति तथा कुलका कहनेवाले भी अब अपनी प्यारी बेटियोको बेचने लगे हैं, उन्हें अपनी छोटी छोटी सुकुमार कन्याओंका हाथ बूढ़े बाबाओंको पकडाते हुए जरा भी सकोच नहीं होता, जरा भी तरस या रहम नहीं आता और न उनका वज्र हृदय ही ऐसा घोर पाप करते हुए घडकता या काँपता है । फिर लज्जा अथवा शरम बेचारीकी तो बात ही क्या है ? वह तो उनके पास भी नहीं फटकती । प्राय सभी जातियोमे कन्याविक्रयका व्यापार

१ यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्या ।

—कल्याणमंदिर

बढ़ा हुआ है, खूब सौदे होते हैं, असंतोष फैल रहा है और तृष्णाकी कोई हद नहीं। लोग मंदिर-मूर्तियों और धार्मिक संस्थाओं तकका माल हजम कर जाते हैं, देवद्रव्यको खा जाने और तीर्थोंका माल उड़ा जानेमें उन्हें कोई संकोच नहीं होता। इधर भूठी मान-बड़ाई-के लोलुपी अथवा मिथ्या प्रतिष्ठाके उपासक, विधवाओंके गर्भ गिराकर या उनके नवजात बच्चोंको, प्रसव गुप्त रखनेके अभिप्रायसे, वन-उपवन, कूप-बावड़ी नदी-सरोवर या सडास आदिमें डालकर अथवा जीता गाड़कर, गर्भपात और बालहत्यादिकके अपराधोंकी सख्या बढ़ा रहे हैं। और अब तो कहीं कहींसे रोगटे खड़े करनेवाले ऐसे दुराचार भी सुननेमें आने लगे हैं कि एक प्रतिष्ठित पुरुष अपनी स्त्री-के पेटसे लड़का पैदा करनेकी धुनमें, नहीं नहीं पागलपनमें, दूसरे मनुष्यके निर्दोष बच्चेको मारकर उसके गर्म गर्म खूनसे अपनी गर्भवती स्त्रीको नहलाता और खुश होता है। ओह ! कितना भयकर दृश्य है !।। कितनी सगदिली अथवा हृदयकी कठोरता है !। धर्मका, श्रद्धाका, मनुष्यताका कितना दिवाला और आत्माका कितना अधिक पतन है !।। खुदगरजीकी भी हद हो गई !।। ये सब बातें धर्मके पतन और उसकी हममें अनुपस्थितिको दिनकर-प्रकाशकी तरहसे प्रकट कर रही हैं। ऐसी हालतमें 'हमसे धर्म उठ गया' यह कहना कुछ भी अनुचित या बेजा नहीं है।

परंतु फिर यह सवाल पैदा होता है कि धर्म क्यों उठ गया ? किन कारणोंसे हम उसे छोड़ने अथवा उसकी तरफ पीठ देनेके लिए मजबूर हो रहे हैं ? क्यों उसके धारण या पालन करनेमें हमारी प्रवृत्ति नहीं होती ? और इसलिये हमारा दुःख क्यों बढ़ रहा है इस प्रश्नका यह उत्तर कि 'हमसे धर्म उठ गया और रहा सहा भी उठता जाता है' ठीक होते हुए भी पर्याप्त नहीं है—काफ़ी नहीं है। इतने परसे ही हमारी संतुष्टि अथवा भरपाई नहीं होती—हमारे ध्यानमें अपने दुःखोंके कारणोंका नकशा पूरी तौरसे नहीं बैठता—

हमें स्पष्टताके साथ यह जाननेकी जरूरत है कि हमारा दुःख क्यों बढ़ रहा है ? वास्तवमें जो कारण हमारे दुःखके बढ़नेका है वही हममेंसे धर्मके उठ जानेका है । एकके मालूम होनेपर दूसरेको मालूम करनेकी जरूरत नहीं रहती । एक सवालके अच्छी तरहसे हल हो जानेपर दूसरा खुद-ब-खुद (स्वयमेव) हल हो जाता है, और इसलिये हमें वह खास कारण मालूम करना चाहिये जिसकी वजहसे हमारा दुःख बढ़ रहा है या हममें से धर्म उठ गया और उठता जाता है ।

आवश्यकताओंकी वृद्धि

जहाँ तक मैंने इस मामलेपर गौर तथा विचार किया और उसके हर पहलू पर नज़र डाली, हमारे दुःखोका प्रधान कारण सिवाय इसके और कुछ प्रतीत नहीं होता कि 'हमने अपनी जरूरियातको—आवश्यकताओंको—फिज़ूल बढ़ा लिया है, वैसा करके अपनी आदत, प्रकृति और परिणतिको बिगाड़ लिया है और दिनपर दिन उनमें और वृद्धि करते चले जाते हैं । फिज़ूलकी जरूरियातका बढ़ा लेना ऐसा ही है जैसा कि अपनेको ज़ज़ीरोसे बाँधते जाना । एक हाथी पैरमें ज़ज़ीरके पड जानेसे ही पराधीन हो जाता है —अपनी इच्छानुसार जहाँ चाहे घूम-फिर नहीं सकता—उसको वह सुख नसीब नहीं होता जो स्वाधीनतामें मिलता था । पराधीनतामें सुख है ही नहीं । कहावत भी प्रसिद्ध है—'पराधीन सुपनेहु सुख नाही' । फिर जो लोग चारों तरफसे ज़ज़ीरोमें जकड़े हुए हो—फिज़ूलकी जरूरियातके बन्धनोंमें बँधे हो—उनकी पराधीनताका क्या ठिकाना है ? और उन्हें यदि सुख न मिले—शांति नसीब न हो—तो इसमें आश्चर्य तथा विस्मयकी बात ही क्या है ? व्यर्थकी जरूरियातको बढ़ा लेना वास्तवमें दुःखोको निमंत्रण देना ही नहीं, उन्हें मोल ले लेना है ।

एक मनुष्य छह सौ रुपये मासिक वेतन (तनख्वाह) पाता है

और दूसरा पचास रुपये मासिक। पचास रुपये पानेवाले भाईकी तरक्की (वृद्धि) होकर सौ रुपये मासिक हो गये और छह सौ रुपये मासिक पानेवाले भाईकी तनज्जुली (पदच्युति) ने एकदम दो सौ रुपयेकी रकम कम कर दी, और उनकी तनखाह सिर्फ चार सौ रुपये मासिक रह गई। पचास रुपये पानेवाला भाई अपनी उन्नति तथा पदवृद्धिके समाचार पाकर खुश हो रहा है, आनंद मना रहा है, अगमे फूला नहीं समाता और इष्टमित्रोमे मिठाइया बाँटता है। प्रत्युत इसके, छह सौ रुपये माहवारका तनखाहदार (वेतन-भोगी) अपनी अवनति अथवा पदच्युतिकी खबर पाकर रो रहा है, भीक रहा है, दुःखितचित्त और शोकानुर हुआ सोच रहा है कि 'मुझसे कौनसी खता अथवा चूक हुई ? क्या अपराध बन गया ? मैंने कौनसा बिगाड किया, जिससे मेरा दर्जा घटा दिया गया ? किसने मेरी चुगली की ? किसने आफीसर (हाकिम) के सामने मेरी झूठी-सच्ची बातें जाहिर की ? हाय ! मेरी तकदीर फूट गई ! भाग्य उलट गया ! ' अब क्या करूँ, कहाँ जाऊँ और कैसे करूँ ! ' बड़ा दुःख है । । । '

इन दोनों भाइयोके अन्त करणकी हालतको यदि ठीक तौरसे देखा जा सके, तो इसमे सदेह नहीं कि बड़ी तनखाहवाला दुखी और छोटी तनखाहवाला सुखी मिलेगा। परंतु यह क्यों ? रुपयेकी कमी-बेशी ही यदि सुख दुखका कारण हो, तो बड़ी तनखाहवाले को, जिसकी तनखाह घट जानेपर भी दूसरे तरकी पानेवाले भाईसे चौगुनी रहती है, ज्यादा सुखी होना चाहिये—उसके सुखकी मात्रा दूसरेसे चौगुनी नहीं तो। तगुनी या दुगुनी तो जरूर होनी चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता, वह दूसरेके बराबर भी अपनेको सुखी अनुभव नहीं करता। इसकी वजह है और वह यह है कि, पचास रुपये पाने वाले भाईने तो अपनी जरूरियातको पचास रुपयेकी बना रक्खा था—पचास रुपयेके भीतरही अपने सम्पूर्ण खर्चोंको परिमित

कर रक्खा था—वेतन आते ही आटा, दाल, घी, तेल, नमक, मिरच, मसाला, कपड़ा लत्ता, जेवर और रिजर्व फंड वगैरह सब विभागोंमें वह उसका बटवारा कर देता था। अब वेतनके बढ़ जानेपर एकदम पचास रुपयेको बचत होने लगे और खच प्रायः ज्योका त्यो रहा, इससे उसे आनंद ही आनंद मालूम होने लगा। परन्तु छह सौ रुपये वाले भाईकी हालत दूसरी थी—उसकी ज़रूरियात पचास रुपये या सौ दोसौ रुपयेकी नहीं थी बल्कि छह सौ रुपये मासिकसे भी बढी हुई थी। उसने अपनी जाहिरी हैसियत अथवा स्थातिको छह सौ रुपये से भी अधिककी बना रक्खा था—नौकर चाकर, घोड़ा गाड़ी, बाग बगीचे, फूल फुलवाड़ी, कमरेकी शोभा सजावट वगैरह सब तरहका साज सामान था, रोजाना हजामत बनती थी, तीसरे दिन पोशाक बदली जाती थी, हर साल घरभरके लिये अच्छे नये नये कपड़े सिलते थे और दो चार बार पहनकर ही रद्दी कर दिये जाते थे, मेहमानोकी सेवा-शुश्रूषा भी खूब दिल खोलकर होती थी, घरमे भेवा, मिठाई, फल, फूल और नाना प्रकारके भोजनोकी हरदम रेल पेल अथवा चहल पहल रहती थी, स्त्रियाँ देवागनाओ जैसे वस्त्राभूषणोंसे भूषित नजर आती थी, उनके जेवरोकी कोई सख्या अथवा सीमा न थी, और बच्चे मखमल, कीमत्त्वाब, अतलस तथा रेशमसे घिरे हुए और जूरी तथा सलमासितारेके कामोंसे जड़े हुए मालूम होते थे, नाटक थियेटरका भी शौक चलता था, प्रायः दो चार मित्रोको साथ लेकर और उनका भी खर्च स्वयं उठाकर ही वह उन तमाशोको देखने जाया करता था, बाकी विवाह-शादीके खर्चोंका तो कोई परिमाण अथवा हिसाब ही नहीं था—उनके लिये तो अकसर कर्ज भी ले लिया जाता था और साथ ही पूवजोकी पैदा की हुई सम्पत्ति (जायदाद) का भी सफाया बोल दिया जाता था। अब एकदम दोसौ रुपये मासिककी आमदनी कम हो जानेसे उसको फिक्र पड़ी और चिन्ताने आधेरा। वह सोचने लगा कि 'किसी नौकरको हटा दूँ, गाड़ी टमटम

बगैरहमेंसे किसीको अलग कर दूँ, कमरेकी शोभा-सजावट और अपने मनोविनोद (दिल बहलाव)का सामान कम कर दूँ, महमानोकी सेवा-मुश्रूषामे आनाकानी करने लगूँ या उसमे कमी कर दूँ, स्त्रियो तथा बच्चोका पहनावा बदल दूँ या उमे कुछ घटिया कर दूँ, इष्ट-मित्रोसे आँखे चुगाने लगूँ, नाटक-थियेटरमे जाना या वहाँ खास सीटोका रिजर्व कराना बन्द कर दूँ, खाने-पीनेकी मामग्री जुटानेमे कफायत और अहतियातसे काम लेने लगूँ और या विवाह-शादी बगैरहके खर्चोमे कोई आदर्श कमी कर दूँ । गरज, जिस चीजको कम करने, घटाने या बदलने बगैरहकी बात वह सोचता है उसीसे उसके दिलको धक्का लगता है, चोट पहुँचती है हैसियत अथवा पोजीशनके बिगडने और शानमे बट्ठा लग जानेका खयाली भूत सामने आकर खड़ा हो जाता है, वह जिस ठाट-बाट, साज-सामान और आन बानसे अब तक रहता आया है, उसीमे रहना चाहता है, अभ्यासके कारण वे सब बाते उसकी आदत और प्रकृतिमे दाखिल हो गई है, उनमे ज़रा भी कमी या तबदीली उसे बहुत ही अखरती है और इस तरह वह दुःख ही दुःख महसूस (अनुभव) करता है । दूसरे शब्दोमे यो कहना चाहिये कि अधिक धनके नशेमे जिन जरूरियातको फिजूल बढा लिया था वे ही अब उसके गलेका हार बनी हुई है, उन्हें न तो छोडे सरता है और न पूरा किये बनता है, दोनो पाटोके बीच जान अजब अजबमे अथवा सकटापन्न है । और इससे साफ जाहिर है कि जरूरियातको फिजूल बढा लेना अपने हाथो खुद दुःखोको मोल ले लेना है—जो जितना ज्यादा अपनी जरूरियातको बढाता है वह उतना ही ज्यादा अपनेको दुःखोके जालमे फँसाता है ।

×

×

×

दुःख-सुख-विवेक

यहाँपर इतना और भी समझ लेना चाहिये कि बड़ी हुई जरूरत-यातके पूरा न होनेमे ही दुख नहीं है, बल्कि उनको पूरा करनेमे भी नाना प्रकारके कष्ट उठाने पड़ते हैं—उनकी सामग्रीके जुटानेका फिक्र, जुटाई अथवा एकत्र की हुई सामग्रीकी रक्षाकी चिन्ता, रक्षित सामग्रीके खोए जाने या नष्ट हो जानेका भय और फिर उसके जुदा हो जाने, गिरने पड़ने, फूटने, गलने-सड़ने, बिगड़ने, मैली-कुचैली, बेआव और बेकार हो जानेपर दिलकी बेचैनी, परेशानी, अफसोस रज खेद और शोक, इष्ट सामग्रीके साथ अनिष्टका सयोग हो जाने-पर चित्तकी व्याकुलता, घबराहट और उसके वियोगके लिये तड़प, और साथही इन सबके ससर्ग अथवा सम्बन्धसे नई नई चीजोंके मिलने मिलाने या दूसरे साज-सामानके जोड़नेकी इच्छा और तृष्णा। ये सब भी दुखकी ही पर्याये हैं उसीकी जुदागाना शकलें अथवा विभिन्न अवस्थाएँ हैं। दुःखके विरोधी सुखका लक्षण ही निराकुलता है और वह चिन्ता, भय, शोक, खेद, अफसोस, रज बेचैनी, परेशानी, आकुलता घबराहट, इच्छा, तृष्णा, बेताबी और तड़प वगैरह दुःखकी पर्यायोसे रहित होता है। जहाँ ये नहीं, वहाँ दुःख नहीं और जहाँ ये मौजूद हैं वहाँ सुखका नाम नहीं। दूसरे शब्दोंमें यो कहिये कि यदि दुःखकी ये पर्याय—शकलें और हालते—बनी हुई हैं, तो कोई मनुष्य बाहरके बहुतसे ठाट-बाट, साज-सामान और वैभवके होते भी सुखी नहीं हो सकता।

उदाहरणके लिये लीजिये, एक ऐसे मनुष्य को जिसे १०५ दर्जेसे भी ऊपरका बुखार (ज्वर) है और इसीलिये उसकी बेचैनी और परेशानी बढ़ी हुई है, उसको रेशमकी डोरीसे बुने हुए मखमल बिछे हुए सोने चाँदीके पलंग पर लिटा देने और ऊपरसे कीमत्वाब का जरीदोज चँदोवा बांध देनेसे क्या उसके उस दुःखमें कोई वमी हो

सकती है ? कदापि नहीं । एक दूसरे आदमीके पास खूब धन-दौलत, ज़मीन, जायदाद, जेवर कपड़े, महल मकान हाट दुकान, बाग-बागीचे, नौकर-चाकर, घोड़ा, गाड़ी रथ, बहल, सुशीला स्त्री, आज्ञाकारी बच्चे और प्रेमी भाई-बहन वगैरह सब कुछ विभूति मौजूद है । आप कहेंगे कि वह बड़ा सुखी है । परन्तु उसके शरीरमें एक असाध्य रोग होगया है, जो बहुत कुछ उपचार करनेपर भी दूर नहीं हो सका । उसकी वजहसे वह बहुत ही हैरान और परेशान है, उसको किसी भी चीजमें आनन्द मालूम नहीं होता और न किसीका बोल सुहाता है, वह अलग एक चारपाई पर पड़ा रहता है भूँगकी दालका पानी भी उसको हजम नहीं होता—नहीं पचता—दूसरोको नानाप्रकारके भोजन और तरह तरहकी चीजे खाते पीते देखकर वह भुरता है, अपने भाग्यको कोसता है, और जब उसे ससारसे अपने जल्दी उठ जाने और उस सपूर्ण विभूतिके वियोगका खयाल आ जाता है, तो उसकी वेदना और तड़पका ठिकाना नहीं रहता, वह शोकके सागरमें डूब जाता है, और तब उसकी वह सारी विभूति मिलकर भी उसे उस दुःखसे निकालनेमें जरा भी समर्थ नहीं होती ।

अब एक तीसरे ऐसे शख्सको लीजिये जिसके पास उपर्युक्त सपूर्ण विभूतिके साथ साथ शारीरिक स्वास्थ्यकी—तन्दुरुस्तीकी—भी खास सम्पत्ति मौजूद है और जो खूब हट्टा-कट्टा हष्ट-पुष्ट तथा बलवान् और ताकतवर बना हुआ है । उसे तो आप जरूर कहेंगे कि वह पूरा सुखिया है । परन्तु उसके पीछे फौजदारीका एक ज़बरदस्त मुकद्दमा लगा हुआ है, जिसकी वजहसे उसकी जान अज़ाबमें अथवा सकटापन्न है । वह रात-दिन उसीके फ़िक्रमें डूबा रहता है । चलते-फिरते खाते-पीते और सोते-जागते उसीकी एक चिंता और उसीकी एक धुन उसके सिरपर सवार है, उसकी मौजूदगीमें अपना सब ठाट-बाट और साज-सामान उसे फीका फीका नजर आता है । रसोईमें छत्तीस प्रकारके भोजन तय्यार हैं और स्त्री बड़ी विनय-भक्तिके साथ

लघुपुत्र-सहित खडी हुई प्रेमभरे शब्दोंमें प्रार्थना कर रही है कि 'हे नाथ ! कुछ थोड़ासा भोजन तो जरूर कर लीजिये' । परन्तु उसे इस सम्पूर्ण आनन्दकी सामग्रीमें कुछ भी आनन्द और रसका अनुभव नहीं होता, वह बड़ी उपेक्षा, बेरुखी अथवा भु भलाहटके साथ उत्तर देता है कि 'तुम्हें भोजनकी पडी है यहाँ जानको बन गयी है, दस बज गये, रेलका वक्त हो गया, मुकद्दमेकी पेशी पर जाना है ।' इससे साफ जाहिर है कि चिन्ता आदिसे अभिभूत होनेपर—फिरात वगैरहके गालिब आने पर—बाहरकी बहुतसी सुन्दर विभूत और उत्तमसे उत्तम सामग्री भी मनुष्यको सुखी नहीं बना सकती—वह प्रायः दुखोंसे ही घिरा रहता है । अनेक कवियोंने तो चिन्ताको चिताके समान बतलाया है । दोनोंमें भेद भी क्या है ? एक नुक्ते या बिन्दीका ही तो भेद है । उद्गम लिखिये तो चितापर चितासे एक नुक्ता () ज्यादा आया और हिन्दीमें लिखनेसे एक बिन्दी अधिक लगानी होगी । परन्तु इस नुक्ते या बिन्दीने गजब ढा दिया । चिता तो मुर्देको जलाती है परन्तु चिता जीवितको भस्म कर देती है । जिस शरीररूपी बनमें यह चिता-ज्वाला दावानलकी तरहसे खेल जाती है, उसमें प्रकटरूपसे धुँआं नजर न आते हुए भी भीतर ही भीतर धुँआंधार रहता है, काँच की भट्टीसी जलती रहती है और उससे शरीरका रक्त-मांस सब जल जाता है, सिर्फ हाडोंका पजर ही पजर चमड़ेसे लिपटा हुआ शेष रह जाता है । ऐसी हालतमें जीवनका रहना कठिन है, यदि कुछ दिन रहा भी तो उस जीनेको जीना नहीं कह सकते । इसीसे ऐसे लोगोंके जीवनपर आश्चर्य प्रकट करते हुए कविराय गिरधरजी लिखते हैं—

चिन्ता ज्वाल शरीर बन दावानल लग जाय ।

१ चिन्ता चिता समाख्याता बिन्दुमात्रविशेषतः ।

सजीव दहते चिता निर्जीव दहते चिता ॥

अगट धुआँ नहिं देखिये उर अन्तर धुँधवाय ॥

उर अन्तर धुँधवाय जले ज्यों काँचकी भट्टी ।

रक्त-मांस जर जाय रहे पिंजर को टट्टी ॥

कहैं गिरधर कविराय सुनो रे मेरे मिता ।

वे नर कैसे जियें जाहि तन व्यापी चिंता ॥

नि सन्देह, चिन्ता ऐसी ही बुरी चीज है, वह मनुष्यको खा जाती है और उसकी जननी जरूरियातकी अफजूनी—आवश्यकताओंकी वृद्धि—है। जितनी जितनी जरूरियात बढ़ती जाती हैं उतनी उतनी चिन्ताएँ पैदा होती जाती हैं। इसीसे भगवान महावीर और दूसरे धर्माचार्योंने गृहस्थोंके लिये जरूरियातको घटानेकी—परिग्रहको कम करके सतोष धारण करनेकी—बात कही है, परिग्रहको पाप लिखा है और अधिक आरभी तथा अधिग्र परिग्रह को नरकका अधिकारी अथवा महमान बतलाया है। अतः सुखप्राप्तिके लिये जरूरियातको कम करना कितना जरूरी और लाजिमी है, इसे बुद्धिमान पुरुष स्वयं समझ सकते हैं।

वास्तवमें सुख कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो कहीपर बिकती हो, किसी दुकान, हाट या बाजारसे किसी भी कीमतपर खरीदी जा सके, किसीकी खुशामद, सिफारिश या प्रेरणासे मिल सके या बदला करके लाई जा सके, बल्कि वह आत्माका निज गुण है—आत्मासे बाहर उसकी कही भी सत्ता नहीं है। ससारी जीव आत्माको भूल रहे हैं और इसलिये अपनी आत्मामें सुखकी जो अनुपम तथा अपार निधि गड़ी हुई है, उसे नहीं पहचानते और न उसकी प्राप्तिके लिये कोई यथेष्ट उपाय ही करते हैं। वे अपनी आत्मासे भिन्न दूसरे पदार्थोंमें सुखकी कल्पना किये हुए हैं, उनको ही अपने सुखका एक आधार मान बैठे हैं—उन्हे ही सब कुछ समझ रहे हैं—और इसलिये उन्हींके पीछे भटकते और उन्हींकी प्राप्तिके लिये रात दिन हैरान-परेशान और दत्तावधान हुए मारे मारे फिरते हैं। परन्तु उनको यह खबर नहीं कि

पर-पदार्थ तीन कालमें भी अपना नहीं हो सकता और न जड़ कभी चेतन बन सकता है, उसे अपना समझकर सुखकी कल्पना कर लेना भूल है, उसके संयोगके साथ वियोग लगा हुआ है—जिसका कभी संयोग होता है उसका एक न एक दिन वियोग जरूर होता है—चाहे वह हमसे पहले बिछुड़ जाय और या हम ही उससे पहले चलते बने, गरज वियोग जरूर होता है। और जिसके संयोगमें सुख मान लिया जाता है अथवा यो कहिये कि माना हुआ होता है उसके वियोगमें नियमसे दुःख उठाना पड़ता है। इसलिये ऐसे सब ही परपदार्थ अतको दुःखके कारण होते हैं। बीचमें भी किसी चिन्ता आदिके उपस्थित हो जानेपर उनका सारा सुख हवा हो जाता अथवा काफूर बन जाता है। अपनी ही खास स्त्रीकी बाबत यदि यह मालूम हो जाय कि वह अब बदचलन या दुःशीला हो गई है—गुप्त व्यभिचार करती है—तो उसके साथ मिलने जुलनेका आनन्द जाता रहे, एक मित्रकी बाबत यदि यह पता चल जाय कि वह परोक्षरूपसे अपनेको हानि पहुँचाता है तो मित्रका सारा मजा किरकिरा हो जाय, और यदि एक अच्छे प्यारे सुन्दर तथा सुडोल बने हुए मकानकी बाबत बादको यह बात दिलमें बैठ जाय कि वह मनहूस है—अशुभ अथवा अमांगलिक है—तो वह उसी वक्तसे अपनेको काटने लगे और उसमें रहना भारी पड़ जाय। दूसरे चेतन-अचेतन पदार्थोंका भी प्रायः ऐसा ही हाल है।

इसी तरह उनको यह भी खबर नहीं कि बाह्य पदार्थोंमें जो सुखका अनुभव होता है वह खास उन पदार्थोंका अथवा उनसे उत्पन्न होनेवाला सुख नहीं, बल्कि उनकी प्राप्तिके लिये हमारे अन्तःकरणमें जो एक प्रकारकी तड़प, वेदना या तृष्णा हो रही थी उसकी यत्किञ्चित् शान्तिका सुख है। यदि वैसी कोई वेदना, तड़प या तृष्णा न हो, तो उन पदार्थोंके सम्बन्धसे कुछ भी सुखका अनुभव नहीं किया जा सकता, और इसीलिये वह सुखकी अनुभूति प्रायः वेदनाके अनुकूल होती है—वेदनाकी कभी-बेशी आदिकी अवस्था

अनुसार बाह्य पदार्थोंके सम्बन्ध पर आधार रखती है। यदि ऐसा न माना जाय, बल्कि उन बाह्य पदार्थोंको ही स्वयं सुखका मूलकारण समझ लिया जाय तो चार रोटी खानेवालेको आठ रोटी खा लेनेसे डबल सुख होना चाहिये और जाडोके लिहाफ वगैरह भारी गर्म कपडोको सख्त गर्मीके दिनोमें ओढने-पहननेसे जाडो-जैसा आनन्द मिलना चाहिये। परन्तु मामला इससे बिल्कुल उलटा है—आठ रोटी खा लेनेसे उस आदमीकी जान पर आ बने, पेट फूल जाय, दर्द या कै (वमन) होने लगे अथवा चूर्ण-गोलीकी जरूरत खड़ी हो जाय, और जाडोके वे भारी भारी गर्म कपडे गर्मियोंमें पहनने-ओढनेसे चित्त एकदम घबरा उठे और सिरमें चक्कर आने लगे। इससे स्पष्ट है कि बाह्य पदार्थोंमें स्वयं कोई सुख नहीं रक्खा है और न वेदनाके पैदा होते रहने और उसका इलाज या उपचार करते रहनेमें ही कोई सुख है, बल्कि उसके पैदा न होने और इलाज तथा उपचारकी जरूरत न पड़नेमें ही सुख है।

वास्तवमें यदि ध्यानसे देखा जाय तो पर-पदार्थोंमें सुख है ही नहीं, उनमें सुखका आधार एक मात्र हमारी कल्पना है और उस कल्पित सुखको सुख नहीं कह सकते, वह सुखाभास है—सुखसा दिखलाई देता है—मृगतृष्णा है। और इसलिये पर-पदार्थोंमें सुख कल्पित करनेवालोंकी हालत ठीक उन लोगो-जैसी है जो एक पर्वतकी दो चोटियोंके मध्य-स्थित सरोवरमें किसी बहुमूल्य हारके पीछे गोते लगाते और लगवाते हुए बहुत कुछ थक गये थे, उनको पानीमें वह हार दिखलाई तो जरूर पडता था लेकिन पकड़नेपर इधरसे उधर उच्चक जाता था—हाथमें नहीं आता था, और इसलिये वे बहुत ही हैरान तथा परेशान थे कि मामला क्या है ? इतनेमें एक जानकार शरूंसने आकर उन्हें बतलाया था कि 'हार उस सरोवरमें नहीं है, और इसलिये कोटि वर्ष-पर्यन्त बराबर गोते लगाते रहने पर भी तुम उसे नहीं पा सकते, वह इस सरोवरके बहुत

ऊपर पर्वतकी दोनो चोटियोंके अग्रभागसे बँधे हुए एक तारके बीचमे लटक रहा है और अपने प्रतिबिम्बसे जलको प्रतिबिम्बित कर रहा है। यदि तुम उसे लेना चाहते हो, तो ऊपर चढ़कर वहाँ तक पहुँचनेकी कोशिश करो, तभी तुम उसे पा सकोगे, अन्यथा नहीं— तुम्हारी यह गोताखोरी अथवा जलावगाहनकी क्रिया व्यर्थ है।'

इसमे सन्देह नहीं कि जो चीज जहाँ मौजूद ही नहीं वह वहाँ पर कितनी भी ढूँढ खोज क्यो न की जाय कदापि नहीं मिल सकती। कोई चीज ढूँढने अथवा तलाश करनेपर वहीसे मिला करती है जहाँपर वह मौजूद होती है। जहाँ उसका अस्तित्व ही नहीं वहाँसे वह कैसे मिल सकती है? सुख चूँकि आत्मासे बाहर दूसरे पदार्थोंमे नहीं है इसलिये उन पदार्थोंमे उसकी तलाश फिज़ूल है, उसे अपनी आत्मामे ही खोजना चाहिये और यह मालूम करना चाहिये कि वह कैसे कैसे कर्मपटलोके नीचे दबा हुआ है, हमारी केसी पार-रातिरूपी मिट्टी उसके ऊपर आई हुई है और वह कैसे हटाई जा सकती है। परन्तु हम अपनी आत्माकी सुध भूले हुए है, उसकी सुखकी निधिसे बिन्कुल ही अपरिचित और अनभिज्ञ है और इसलिये सुखकी तलाश आत्मासे बाहर दूसरे पदार्थोंमे— विजातीय वस्तुओंमें—करते है। सुखकी प्राप्तिके लिये उन्हीके पीछे पड़े हुए है— यहाँसे भी सुख मिलेगा, यह भी हमको सुख दे सकेगा इसी प्रकारके विचारोंसे बँधे हुए हम उन्ही पदार्थोंका सग्रह बढ़ाते जाते है, उन्हीकी ज़रूरियातको अपने जीवनके साथ चिपटाते रहते हैं और इस तरह खुद ही अपनेको दुखोके जालमे फँसाते और दुखी होते है, यह अजब तमाशा है ॥

×

×

×

अपनी भूल

एक तोता नलिनी पर आकर बैठता है और उसकी नलीके घूम जाने से उलटा होकर उसे पकड़े हुए लटका रहता है, उड़नेकी खुली शक्ति होते हुए भी नहीं उड़ता, इसका क्या कारण है ? इसका कारण यही है कि वह उस वक्त अपनी आकाश-गतिको भूल जाता है उड़नेकी शक्तिका उसे ध्यान नहीं रहता और यह समझने लगता है कि मुझे इस नली ने पकड़ रक्खा है। यद्यपि उस नलीने उसे ज़रा भी नहीं पकड़ा, उसने खुद ही अपने पंजोंसे उसे दबा रक्खा है, वह चाहे तो अपने पंजोंको खोलकर उस नलीको छोड़ सकता है और खुशिके साथ आकाशमें उड़ सकता है। परन्तु अपनी भूल और ना-समझीकी वजहसे वह वैसा न करके उलटा लटका रहता है और फिर शिकारीके हाथमें पड़कर तरह तरहके दुःख तथा कष्ट उठाता है। ठीक ऐसी ही हालत हमारी है, हम अपने आत्माके स्वरूप और उसके सुखस्वभावको भूले हुए हैं और यह गलत समझे हुए हैं कि इन परिग्रहों अथवा ज़रूरियातने, जिनको हमने ही बढ़ाया और हमने ही अपने पीछे लगाया है, हमारा पिंड पकड़ रक्खा है और वे अब हमको छोड़ते नहीं हैं। इसीसे उस तोतेकी तरह हम भी नाना प्रकारके बन्धनोंमें पड़कर दुःखोंमें अपना आत्म-समर्पण कर रहे हैं—अपनेको दुःखोंकी भेंट चढ़ा रहे हैं। हमारी इस दशा-का ध्यानमें रखते हुए ही कविवर प० दौलतरामजीने यह वाक्य कहा है —

अपनी सुधि भूल आप, आप दुख उपायौ ।

ज्यों शुक नभ चाल बिसरि, नलिनी लटकायौ ॥

यह वाक्य हम पर बिल्कुल चरितार्थ होता है। यदि अब भी हम अपनी भूलको सुधारने और अपने सुख-दुखके साधनों तथा कारणोंको ठीक तौरपर समझ जायें तो हम आज भी अपनी ज़रूरि-

यातको घटाकर, परिग्रहको कम करके और रीतिरिवाजको बदलकर बहुत कुछ सुखी हो सकते हैं । यह सब हमारे ही हाथका खेल है और उसे करनेके लिये हम सब प्रकारसे समर्थ हैं—सिर्फ भूलका ज्ञान और उसके सुधारके लिये मनोबलकी जरूरत है ।

यहाँपर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि बाह्य पदार्थोंके सम्बन्धसे यदि हमें सुख मिल सकता है, तो वह तभी मिल सकता है जब कि जगतके सम्पूर्ण पदार्थ हर वक्त हमारी इच्छाके अनुसार प्रवर्त्ता करे—उनके सम्पूर्ण परिवर्तन अथवा अलटन-पलटन और उनकी गति-स्थितिको लिये हुए समस्त क्रियाएँ हमारी मर्जी तथा रुचिके अनुकूल हुआ करे । परन्तु ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि उन पदार्थोंका परिणामन—उनमें किसी परिवर्तन अथवा क्रिया-प्रक्रियादिका होना स्वयं उनके अधीन है—उनके स्वभाव आदिके आश्रित है—हमारे अधीन नहीं ।

जो लोग उनको सब तरहसे अपने अधीन चाहते हैं और खाली इस प्रकारकी कामनाएँ किया करते हैं कि—इस वक्त वर्षा हो जाय, क्योंकि सख्त गर्मी पड़ रही है या हमारा खेत सूखा जा रहा है, इस समय वर्षा न होवे या बन्द हो जाय, क्योंकि हम सफर (यात्रा) में हैं या सफरको जा रहे हैं, हमारे मकान टपके नहीं, उनमें वर्षाकी बौछार न आवे, जाड़ोमें ठंडी और गर्मियोंमें गर्म हवा न घुसे, वे ज्योंके त्यों बने रहे, टूटे-फूटे भी नहीं और न मैले-कुचैले ही हो, हमारे शरीरमें कोई रोग पैदा न हो, कोई बीमारी हमारे पास न आए, हम खूब हूँट-पुँट, तन्दुरुस्त, बलवान और जवान बने रहे, हमारे बाल भी सफेद न होने पाएँ, हमारे कपड़े जैसे तैसे उजले और नए बने रहे वे फटे भी नहीं और न उनपर कहीं कोई दाग धब्बा या खुरे आदिका निशान ही होने पावे, हमारी किसी चीज़को नुकसान न पहुँचे, किसीका रंग रूप भी न बिगड़े और न कोई घिसे या-घिसावे, हमको किसी भी इष्ट वस्तुका वियोग न सहना पड़े, हमारे

कुटुम्बके सब लोग तथा मित्रादिक कुशल-क्षेमसे रहें हमें उनमेंसे एक का भी दुःख न देलना पड़े, हमारा कोई विरोधी या शत्रु पैदा न हो, किसी अनिष्टका हमारे साथ सयोग न हो सके, हमारी पैदा की हुई इच्छत प्रतिष्ठा या बातमें किसी तरह भी फर्क न आवे—वह ज्यों की त्यों बनी रहे—और हम सब प्रकारके आनन्द तथा सुख भोग करते हुए चिरकाल तक जीवित रहे, वगैरह वगैरह। ऐसे लोग फिजूल हैरान तथा परेशान होते हैं और व्यर्थ ही अपनेको दुखी बनाते हैं, क्योंकि उन कामनाओंका पूरा होना सब तरहमें उनके अधीन नहीं होता, वे जिन सुखोंको चाहते हैं वे सब बहुत कुछ पराश्रित और पराधीन हैं और पराधीनतामें कहीं भी सुख नहीं है। सुखका सच्चा उपाय 'स्वाधीन-वृत्ति' है। जितनी जितनी स्वाधीनता—आजादी और खुदमुख्तारी—बढ़ती जाती है, दूसरेकी बीचमें जरूरत या अपेक्षा नहीं रहती, उतनी उतनी ही हमारे सुखमें बढ़वारी होती जाती है, और जितनी जितनी पराधीनता—गुलामी मुहताजी और बेबसी—उन्नति करती जाती है उतनी-उतनी ही हमारे दुःखमें वृद्धि होती जाती है। फिजूलकी जरूरियातको बढ़ा लेनेसे पराधीनता बढ़ती है और उससे हमारा दुःख बढ़ जाता है। अतः हमको, जहाँ तक बन सके, अपनी जरूरियातको बढ़ाना नहीं चाहिये, बल्कि घटाना चाहिये और ऐसी तो किसी भी जरूरतका अपनेको आदी, व्यसनी या वशवर्ती न बनाना चाहिये जो फिजूल हो या जिससे वास्तवमें कोई लाभ न पहुँचता हो। ऐसा होनेपर हमारा दुःख घट जायगा और हमें सुख आसानीसे मिल सकेगा।

×

×

×

एक प्रश्न

यहाँ पर यह प्रश्न पैदा हो सकता है कि जरूरियात तो जरूरियात ही होती हैं उनमें फिज़ूलियात क्या, जिनको छोड़ । या घटाया जावे ? अतः इसकी भी कुछ व्याख्या कर देनी जरूरी और मुनासिब मालूम होती है । यह ठीक है कि जरूरियात जरूरियात ही होती हैं परन्तु बहुतसी जरूरियात ऐसी भी होती है जो फिज़ूल पैदा करली जाती हैं या जिनको पूरा न करनेसे वस्तुतः कोई हानि नहीं पहुँचती । ऐसी सब जरूरियात फिज़ूलियातमें दाखिल हैं और वे आसानीसे छोड़ी या घटाई जा सकती है । कल्पना कीजिये, एक मनुष्य क्रोधकी हालतमें अपने पेटमें छुरी या सिरमें ईंट मार कर घाव कर लेता है और फिर उस पर मरहम पट्टी करने बैठता है, घावको वह मरहम-पट्टी जरूरी हो सकती है, परन्तु यह जरूर कहना होगा कि उसने उसकी जरूरियातको फिज़ूल अपने आप पैदा किया है और वह आगेको वैसी कुचेष्टाओंसे बाज (विमुख) रह सकता है । एक आदमी बहुतसी शराब पीकर अपनी विषयवासनाको भडकाता अथवा उत्तेजित करता है और इससे उसे बेवक्त ही एक स्त्रीकी जरूरत पैदा होती है, यह जरूरत भी फिज़ूलकी जरूरत है—स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक नहीं है—और उसको पूरा न करनेसे कोई स्वास नुकसान नहीं पहुँचता । इस तरहकी न मालूम कितनी जरूरियातको हम पैदा करते रहते हैं और उनको पूरा करनेमें अपनी शक्तिका व्यर्थ ही नाश तथा दुरुपयोग करते चले जाते हैं ।

एक छोटेसे बच्चेको, जिसे भले-बुरेकी कुछ भी पहिचान अथवा तमीज़ नहीं है और जिसे चाहे जिस साँचेमें ढाला जा सकता है, उसके माता पिता यदि बाँढ़िया बढिया रेशम, कीमत्वाब, अतलस, मस्त्रमल और सुनहरी कामके वस्त्र पहनाते हैं और इस तरह उसमें शौकीनी तथा विलासिताका भाव भरते हैं, जिसकी वजहसे वह बादको साधा-

रण सादे वस्त्र पहनना पसंद नहीं करता और उसके शौक तथा हठ-को पूरा करनेके लिये फिर बैसे ही या उससे भी अच्छे बढिया बहु-मूल्य वस्त्रोंकी जरूरत खड़ी होती है तो क्या यह फ़िज़ूलकी जरूरत पैदा करना नहीं है ? अवश्य है । और यदि उसे पैदा न करके या पूरा न करके उस बच्चेको सादा कपड़े ही पहननेको दिये जायें तो इससे उस बच्चेकी तन्दुरुस्ती या स्वास्थ्य बगैरहको कोई नुकसान नहीं पहुँच सकता ।

खाना-पीना जीवित रहनेके लिये जरूरी जरूर है परन्तु बढिया, शौकीनी, चटपटे मसालेदार, अधिक गरिष्ठ, अधिक भारी देरसे पचनेवाला और खूब उत्तेजक खाना-पीना, परिमाणसे अधिक खाना और हर वक्त या बेवक्त खाना उसके लिये कोई जरूरी नहीं है । ऐसे खाने-पीने तथा आटेके स्थानमे मैदेका ही अधिक व्यवहार करनेकी वजहसे यदि पेट खराब हो जाय, पाचन शक्ति जाती रहे, स्वास्थ्य बिगड़ जाय और हर वक्त चूरा गोली या दवाईके सेवनकी अथवा हकीम डाक्टर या वैद्यके पास जानेकी जरूरत रहने लगे, तो क्या इस व्यर्थकी जरूरतकी कमी पीठ ठोकी जा सकती है ? कदापि नहीं । उसे जहाँ तक बन सके शीघ्रही भोजनमे सुधार और समयसे काम लेकर दूर कर देना चाहिये । हमारे स्वास्थ्यकी खराबीका अधिकतर आधार इस खाने-पीनेकी गड़बड़ी, असावधानी या जिह्माकी लोलुपता शौकीनी और समयकी कमी पर ही है, और इससे हमारी शक्तियोंका बहुत ही दुरुपयोग हो रहा है और हम अपने बहुतसे कर्तव्योंकी पूर्तिसे वंचित रहते हैं ।

पहनने-ओढ़नेका भी ऐसा ही हाल है । कपड़ा तन-बदनको ढकने और सर्दी-गर्मीसे बचनेके लिये होता है और उसकी यह गरज बहुत सादा तरीक़ों पर अच्छी तरहसे पूरी की जा सकती है । कोई पचास साठ वर्ष पहले हमारो माताएँ और बहने अपने काते हुए सूतके कपड़े तय्यार कराती थी और वे गाढेके कपड़े घर भरके

लिये काफी हो जाते थे । करीब चालीस पचास रुपयेकी लागतमें एक अच्छे कुटुम्बका खुशीसे पूरा पट जाता था । स्त्रियाँ अपने दावन (लहंगे) ओढ़ने कसू भे आदिके प्राकृतिक रंगमें ही रंग लेती थी और प्रायः वैसे ही दावन ओढ़ने विवाह-शादियोंमें दुलहनो (बहुओ)को चढ़ाए जाते थे । परन्तु आज नुमाइशका भूत या खल्लत हमारे सिर पर कुछ ऐसा सवार है कि उसके पीछे हम हर साल लाखों और करोड़ों रुपये फिजूल खर्च कर डालते हैं, विदेशी कपड़ोंकी चमक-दमक और रंग-ढगने हमारी आँखें खराब कर रक्खी हैं और हमें अपने पीछे पागलसा बना रक्खा है । कपड़ोंकी भी कोई गिनती नहीं और न उनकी लागतका ही कोई तखमीना, अन्दाज़ा अथवा परिमाण पाया जाता है । भला एक छोटेसे बेखबर बच्चेको बीस, तीस, पचास या सौ रुपयेसे भी अधिक मूल्यकी पोशाक पहना देनेसे क्या नतीजा है, जिसको अपने तन बदनका कुछ भी होश नहीं, जो उस कपड़ोंकी कीमत और कद्रको नहीं जानता, भटसे उसे मैली या खराब कर देता है और जिसको उसके पहननेमें कुछ भी आनन्दका अनुभव नहीं होता, बल्कि कभी कभी तो भारसा मालूम पड़ता है ? इसे खल्लत नहीं तो और क्या कह सकते हैं ? ऐसे बच्चोंके माता पिता सचमुच ही उनके माता पिता अथवा हितैषी नहीं किन्तु शत्रु होते हैं, क्योंकि वे उनमें शौकीनी तथा नुमाइशका भाव भरकर उनकी आगामी ज़रूरयातको फिजूल बढ़ाने और उनके जीवनको भाररूप बनानेका आयोजन करते हैं—सामान जोड़ते अथवा बीड़ा बाँधते हैं । इसी तरह स्त्रियोंकी पोशाक और उनके जेवरोंकी हालत समझिये । उनके पीछे समाजका बेहद रुपया फिजूल खर्च होता है । जिन स्त्रियोंको बोलने तककी तमीज़ नहीं—विवेक नहीं—वे भी सिरसे पैर तक बहुमूल्य वस्त्रों तथा जेवरोंसे लदी रहती हैं । मालूम नहीं, इससे उनको क्या पोष चढ़ता है, उनकी आत्माको क्या लाभ और उनकी तन्दुरुस्तीको क्या फायदा पहुँचता है ?

बाकी रहे विवाह-शादियोंके खर्च, उनका तो कोई ठिकाना ही नहीं । उनके साथमे तो फिजूलियातका एक बड़ा अध्यायका अध्याय खुला हुआ है—रोपना, सगाई, सजोया, टोरी, चिट्ठी, टेवा, हलद, मैठा लगन, भात, जीमन-जोनार, भाजी, नौता, गाना-बजाना, नाचना, सीठना, बेल बासना, घोड़ीका चाव, चढत, बढियार, फेरे, सस्कार, बूर, बखेर, पत्तल, परोसा, दात, खैरात, मिलाई, दहेज, बरीपट्टा, रुखसत, बिदा और गौना वगैरहकी न मालूम कितनी और कैसी कैसी रस्मे अदा करनी पडती हैं और उनमें कितना खर्च होता है ॥ एक लाला साहबसे मालूम हुआ कि उनके पहले पुत्रकी शादीमे दुलहनके लिये दावनकी जो तीयल तैय्यार कराई गई थी उसको पाँचसौ रुपयेकी लागत लगती रही थी, दूसरे पुत्रकी शादीमे नौसौ रुपयेकी लागत आई और अब तीसरे पुत्रके विवाहमे पन्द्रहसौ रुपयेसे भी अधिक लागतकी तीयल तैय्यार कराई गई है । एक दावन, ओढने और आगीकी लागतका जब यह हाल है तब विवाहके कुल खर्चोका तखमीना जिसमे जेवर भी शामिल हैं, कितने हजार होगा, इसे पाठक स्वयं ही समझ सकते हैं ।

अब तो टोपियोके साथ चाँदीके बर्तन वगैरहके अतिरिक्त बड़ा ग्रामोफोन बाजा और बर्फ बनानेकी मशीन तक भी खेल-खिलौनोंके तौर पर दी जाने लगी हैं । इससे जाहिर है कि विवाह-शादियोंके खर्च दिनपर दिन बढ़ते जाते हैं और ये सब फिजूल खर्च हमारे खुदके बढाए हुए हैं । समझमे नहीं आता, जब विवाहकी असली गरज और उसका खास काम बहुत थोड़ेसे रुपयोमें भी पूरा हो सकता है, तब उसके लिए हजारो रुपये खर्च करना कौन बुद्धिमत्ता और अक्लमदी की बात है ? और वह फिजूलियात नहीं तो और क्या है ? क्या एक विवाहमे अधिक खर्च कर देनेसे घरमें एककी जगह दो बहुएँ आजायेगी या लडकीका सुहाग (सौभाग्य) कुछ बढ़ जायगा ? और क्या स्त्रियाँ यदि बहुमूल्य वस्त्राभूषण न पहनकर मादा लिबासमें

रहने लों तो इससे उनका स्त्रीपना ही नष्ट-भ्रष्ट अथवा रद्द और अमान्य हो जायगा ? यदि ऐसा कुछ नहीं है तो फिर फिजूल ज्यादा खर्च करके अपनेको दीन, हीन तथा मुहताज बनाने और मुसीबतोंके जालमें फँसानेकी क्या जरूरत है ? इन विवाह-शादियोंके फिजूल खर्चोंने ही लड़कियोंको माता-पिताके लिये भारी बना दिया है और वे अक्सर उनका मरना मनाते रहते हैं । यह कितने दुख और अफसोसकी बात है ।।

इसी तरहकी और भी मरने, जीने, मिलने, बिछुडने, उत्सव, त्यौहार, बनावट, सजावट, खेल, तमाशे, शौकीनी, विलासिता और मनोविनोद आदिसे सम्बन्ध रखनेवाली बहुतसी जरूरियात फिजूल है, जिनको हमने ख्वाहमख्वाह अपने पीछे लगा रक्खा है और यदि हम चाहे तो उनको खुशीसे छोड़ सकते या कम कर सकते हैं । इन सब फिजूलकी जरूरियातने ही हमारे दुखको बढ़ा रक्खा है, हमारे जीवनको बहुत ही खर्चीला (expensive) या अधिक धन पर आधार रखनेवाला बनाकर हमको अच्छी तरहसे तबाह और बर्बाद कर रक्खा है, इन्हींकी बदौलत हमारी आदत और प्रकृति बिगड़ गई है और हम धर्म या ईश्वरके उपासक न रहकर खाली धनके उपासक बन गये हैं, और इन्हींके कृपाकटाक्षका यह फल है जो हमारा धर्म-कर्म सब उठ गया, हममें वे सब बुरे कर्म अथवा पापाचरणा घुस गये जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है, और हम अपने पूर्वजोंके आदर्शसे बिल्कुल ही गिर गये हैं ।

आदर्शसे गिर जाना

हमारे पूर्वज पहले कितने सादा चालचलनके होते थे और कितना सादा जीवन व्यतीत करते थे, यह बात किसीसे भी गुप्त अथवा छिपी नहीं है । उनका खाना-पीना, पहनना-ओढ़ना, शयन-आसन और रहन-सहनका सब सामान सादा तथा परिमित था, वे

व्यवस्था टीपटाक, मुमकिन अथवा लोक-विशेषको पसन्द नहीं करता था और न अपनी व्यक्ति को व्यर्थ खोता उन्हें अन्धकार मझूम होता था । इसीसे फिकात उन्हें नहीं सताते थे, भ्रम-विकार जन्मसंग्राम अधिकार जमाने नहीं पाते थे, और वे खूब हृष्ट-पुष्ट, नीरोग, तन्दुरुस्त, बलवान, बहादुर, पराक्रमी, निर्भयप्रकृति, प्रसन्नचित्त, हँसमुख, उदारचिन्ता, वचनके सच्चे, प्रणके पक्के, धर्मपर स्थिर, और अपने कर्तव्यका पालन करनेमें बहुत कुछ सावधान तथा कटिबद्ध होते थे । उनके समयमें यदि कोई किसीसे कर्ज लेता था तो उसके लिए ग्राम-तौरपर किसी रुक्के, चिट्ठी, प्रामेसरी नोट तमस्सुक या रजिस्टरीकी कोई जरूरत नहीं होती थी, एक अनपढ़ अथवा अशिक्षित व्यक्ति महज कसमकी छू देना या उससे कोई तिरछी-झाँकी लकीरसी खींच देना भी रजिस्टरीसे ज्यादा असर रखता था; उस वस्तुके कर्जमें तमादी आरिज नहीं होती थी—कालकी कोई मर्यादा उन्हें अदेय नहीं ठहराती थी—किसीका लेकर नहीं भी दिया करते यह बात सिख-लाई ही नहीं जाती थी । यदि किसीको कर्जा देते अथवा अपना ऋण चुकाते नहीं बनता था या उसके भुगतानमें देर हो जाती थी और इसपर साहूकार उससे यह कहता था कि भाई ! तुमसे कर्जा देते अथवा ऋण चुकाते नहीं बनता है, अतः मैं हिसाब-बहीमें तुम्हारे नामको छेक दूँ, बिदिया दूँ और अपनी रकमको बट्टेखाते डाल दूँ तो इसको सुनकर वह क्रजंदार (ऋणी पुरुष) काँप जाता था और हाथ जोड़कर कहने लगता था कि 'नहीं, ऐसा कभी मत करना, जब तक मेरे दममें दम और बदनमें जान-आस बाकी है, मैंने जिन आँखों आपका कर्जा लिया है उन्हीं आँखों उसे भुगतान कर दूँगा, कौड़ी कौड़ी अदा करूँगा, देर जरूर है मगर धनधर नहीं, और यदि अपने जीवनमें किसी तरहपर मैं अदा न कर सका तो मेरे बेटे, पोते पड़पोते, यहाँ तक कि-सेही सात पीढ़ी उसको अदा करेगी, आप इसकी चिन्ता न करें । जब आपसे लिया गया है तब वह आपको दिये

क्यों न जाय ?" कितने मार्मिक तथा हृदयस्पर्शी उद्गार हैं—दिलको हिला देनेवाले कलाम अथवा वचन हैं—और इनसे किस दर्जे सचाई तथा ईमानदारीका प्रकाश होता है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। सचमुच ही वह जमाना भी कितना अच्छा और सच्चा था और उसकी बातोंसे कितना सुख तथा शांतिरस टपकता है।

परन्तु आज नकशा बिल्कुल ही बदला हुआ है। आज उस कज तथा दूसरे ठहरावोंके लिये दस्तावेजात लिखाई जाती हैं, दस्तखत (हस्ताक्षर) होते हैं, अमूठे लगते हैं, रजिष्टरी कराई जाती है और रजिष्टरीपर रुपया दिया जाता है, फिर भी बादको ऐसी भूठी उज्जदारियाँ (आपत्तियाँ) होती हैं कि दस्तावेज ज़रूर लिखी, दस्तखत किये या अँगूठा लगाया और रजिष्टरीपर रुपया भी बसूल पड़ा, लेकिन दस्तावेज फर्जी थी, किसी अनुरोधित दबावके कारण लिखी गई थी, रुपया बादको वापिस दे दिया गया था या किसी योग्य कार्यमें खर्च नहीं हुआ, और इस लिये मुद्दई (बादी) उसके पानेका या दस्तावेजके आधारपर किसी दूसरे हकके दिलाए जानेका मुस्त-हक (अधिकारी) नहीं है। ओह ! कितना अधिक पतन और बेईमानीका कितना दौर-दौरा है !।

उस वक्त अदालतोंके दर्वाजे शायद ही कभी खटखटाए जाते थे, पंचायतोंका बल बड़ा हुआ था, याद कोई मामला होता था तो वह प्रायः घरके घरमें या अपने ही गाँवमें आसानीसे निपट जाया करता था—जरा भी बढ़ने नहीं पाता था। परन्तु आज बात-बातमें लोग अदालतोंमें दौड़े जाते हैं, उन्हींकी एक शरणा लेते हैं, बस्ता बगलमें दबाए उन्हींकी परिक्रमा किया करते हैं, उनके पडे पुजारियों—वकील—बैरिष्टर—मुस्तार—अहलकारों—के आगे बुरी तरहसे गिड़-गिड़ाते हैं—वह भी प्रायः न्यायके लिये नहीं, बल्कि किसी तरहसे बात रह जाय या उनकी बेईमानीको मदद मिल जाय—और इन्हीं अदालती मन्दिरोंमें वे अपने धर्मकर्मकी अच्छी खासी बलि दे

जाते हैं। अदालतोंके न्यायका कोई ठिकाना नहीं, उन्हें प्रायः 'बूढ़ा मरो या जवान अपनी ह या अथवा भुगतानसे काम' होता है, गरीबों और बे-पैसे या बे-आदमियोंवालोंकी वहाँ कोई पहुँच अथवा पूछ नहीं होती, एक अदालतके फैसलेको दूसरी दूसरीके निर्णयको तीसरी और तीसरीके हुकमको चौथी अदालत तोड़ देती है और कभी कभी एक ही अदालतका एक हाकिम दूसरे हाकिमके हुकमको या खुद अपने हुकमको भी तोड़ देता अथवा रद्द कर देता है। इस तरह न्यायके नाम पर बड़ा ही अजीब नाटक होता है।

पचायतोका कोई बल रहा नहीं, पंच लोग अपनी बेईमानी और एक दूसरेकी बेजा तरफदारीकी वजहसे अपनी सारी प्रातिष्ठा, पद्धति और शक्तिको खो बैठे हैं, उन पर लोगोका विश्वास नहीं रहा, इससे चारों ओर हाहाकार मचा हुआ है। लोग फिर फिरकर अदालतोंकी ही शरणमें जाते हैं और अपनेको नष्ट तथा बर्बाद करनेके लिये मजदूर होते हैं। मुकद्दमेबाजीका बेहद खर्चा बढ़ा हुआ है - तीसरी चौथी अदालतके हारनेवाला प्रायः नगा हो जाता है और जीतनेवालेके पास एक लंगोटी ही शेष रह जाती है। इससे न्याय यदि कभी मिलता भी है तो वह बहुत ही महँगा पड़ता है।

लोग कहते हैं कि आजकल ज़माना उन्नतिक़ा है। परन्तु मुझे तो इन हालो वह कुछ उन्नतिक़ा ज़माना मालूम नहीं होता, बल्कि खासा अवनतिक़ा जान पड़ता है। जब हमारी आत्मिक शक्ति, शारीरिक बल नीति, सभ्यता, शिष्टता, धर्मकर्म और सुखशान्तिक़ा बराबर दिवाला निकलता चला जाता है तब इस ज़मानेको उन्नतिक़ा ज़माना कैसे कह सकते हैं ? उन्नतिक़ा ज़माना तो तब होता जब इन बातोंमें कोई आदर्श उन्नति नज़र आती। परन्तु आदर्श उन्नति तो दूर, उलटी अवनति ही अवनति दिखलाई दे रही है। और हम इन सब बातोंमें अपने पूर्वपुरुषोंसे बहुत ही ज्यादा पिछड़े हुए हैं और पिछड़ते जाते हैं। हमने अपनी जरूरियातको बढ़ाकर फिज़ूल

अपने पैरमे आप कुल्हाड़ी मार रखी है और व्यर्थकी मुसीबत अपने ऊपर ले रखी है। इन ज़रूरियातको पूरा करनेकी धुन, फ़िक्र और चक्करमें हम अपनी आत्माकी तन-बदनकी और धर्म-कर्मकी सारी सुविधि भूलें हुए हैं और हमारी वह सब हालत हो रही है जिसका लेखके आरम्भमे ही कुछ चित्र खींचकर पाठकोके सामने रक्खा गया है। हमारे सामने हरदम रुपये-पैसे या टकेका ही एक सवाल खड़ा रहता है, रात दिन उसीका चक्कर चलता है और उसीके पीछे हमारे जीवनकी समाप्ति हो जाती है।

जब हमारे पास आमदनी कम और खर्च ज्यादा है और हम अपनी ज़रूरियातको पूरा करनेके लिए न्यायमार्गसे काफी रुपया पैदा नहीं कर सकते तब उन्हें पूरा करनेके लिये हम छल, कपट, फरेब, धोखा, दगाबाजी, जालसाजी, चालबाजी, चोरी, सीनाझोरी, घूसखोरी, विश्वासघात, असत्यव्यवहार, न्यासापहार (घरोहर-मारना), हत्या और बेईमानी नहीं करेंगे तो और क्या करेंगे ? उस वक्त धर्मके पैसे पर, मन्दिरों तीर्थों या दूसरी सस्थाओंके रुपये पर यदि हमारी नियत डिग जाय, हम अपनी सुकुमार कन्याओं तकको बेचने लगे और आपसमें खीचातानी बढ़ाकर मुकद्दमेबाजी पर उतर आवें तो इसमे आश्चर्यकी बात ही क्या है ?

वास्तवमें हमारी सारी खराबी और गिरावटका कारण ये फिज़ूलकी ज़रूरियात ही हैं। इन्हींकी वजहसे हमारी उन्नति रुकी हुई है। हम अपनी आत्माका कल्याण नहीं कर सकते, आपसमे प्रेम-से नहीं रह सकते एक दूसरेकी सहायता नहीं कर सकते और न सचमुचमें मनुष्य ही बन सकते हैं। इनकी बढवारीसे ही हमारा दुःख बढ़ा हुआ है। यदि हम उस दुःखको घटाना या दूर करना चाहते हैं तो हमें अपनी उन ज़रूरियातको घटाना या दूर कर देना होगा। बाकी यह खयाल गलत है कि ज़रूरियातको पूरा करके हम अपने दुःख-दर्द एवं वेदनाको दूर कर सकेंगे उसमें कोई वास्तविक

अथवा स्थायी कमी ला सकेंगे । ज्वररियातको पूरा करके दुखोंकी शान्तिकी आशा रखना प्रायः ऐसा ही है जैसा कि अग्नि पर ईंधन और तेल डालकर उसकी शांति चाहना । यह ज्वररियातकी पूर्ति ऐसी महमपट्टी है जो उस वक्त तो घावमें जरासी देरके लिये कुछ चैन डाल देती है परन्तु पीछेसे बिया जाती है और तरह तरहकी वेदनाओं तथा कष्टोंकी जन्मदाता बन जाती है । अतः दुखोंको यदि वास्तवमें दूर करना और सुख-शांति चाहना है तो इस झयाल-के घोलेमें न रहकर हमें सबसे पहले, जितना भी शीघ्र बन सके, इन फिजूलकी ज्वररियातको अलग कर देना चाहिये । यही हमारे हित का साधन और हमारे परलोकके सुघरनेका एक खास मार्ग है । इसीसे हमको वास्तविक सुख-शान्तिकी प्राप्ति हो सकेगी ।

आशा है, सुखके सच्चे अभिलाषी और भुतलाशी (खोजी) अपनी उस वेदना और तृष्णारूपी अग्निको, जो बाह्य पदार्थोंके लिये उनके हृदयमें जल रही है, ज्ञान तथा विवेकरूपी जलसे शांत करेंगे, सतोषको अपनाएँगे, सादा जीवन व्यतीत करना सीखेंगे और यह समझकर कि इन फिजूलकी ज्वररियातने ही हमारी जान अज्ञा-बमें डाल रखी है, हमारी मिट्टी खराब कर रखी है, ये ही हमारे दुखोंकी खास कारण हैं और ये ही हमारी उन्नति तथा प्रगतिमें रोड़ा अटकानेवाली अथवा विघ्नस्वरूप हैं, इन्हें मन-वचन-कामसे हठताके साथ दूर करने-करानेकी पूरी कोशिश करेंगे । और इसके लिये उन्हें यदि किसी रीति-रिवाजको तोड़ना या बदलना भी पड़े, तो खुशीसे पूर्ण मनोबलके साथ खुद ही उसके लिये आगे कदम बढ़ाएँगे—अगुआ बनेंगे—और इस तरह अपना एक उदाहरण या नमूना दूसरोंके सामने रखकर उनका मार्ग साफ करेंगे और उन्हें भी वैसा करने करानेकी हिम्मत तथा साहस प्रदान करेंगे । देश और जातिके सुधारका भी इसी पर एक आधार है और इसीके सहारे घर सबका बेड़ा पार है ।

जैनी नीति

जिनेन्द्रदेवकी अथवा जैनधर्मकी जो मुख्य नीति है और जिस पर जिनेन्द्रदेवके उपासको, जैनधर्मके अनुयायियों तथा अपना हित चाहनेवाले सभी सज्जनोको चलना चाहिये, उसे 'जैनी नीति' कहते हैं। वह जैनी नीति क्या है अथवा उसका क्या स्वरूप और व्यवहार है, इस बातको श्रीअमृतचन्द्राचार्यने अपने एक वाक्यमें अच्छी तरहसे दर्शाया है, जो इस प्रकार है —

एकेनाऽऽकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुनश्चमितरेण ।

अन्तेन जयति जैनी नीतिर्भन्थाननेत्रमिष गोपी ॥

इसमें, जैनी नीतिको दूध-दही बिलोनेवाली गोपी (ग्वालिनी)-की उपमा देते हुए बतलाया है कि—जिम प्रकार ग्वालिनी बिलोते समय मथानीकी रस्सीको दोनो हाथोंमें पकड़ कर उसके एक सिरे- (अन्त) को एक हाथसे अपनी ओर खींचती और दूसरे हाथसे पकड़े हुए सिरेको ढीला करती जाती है, एकको खींचनेपर दूसरेको बिल्कुल छोड़ नहीं देती किन्तु पकड़े रहती है, और इस तरह बिलोनेकी क्रियाका ठीक सम्पादन करके मक्खन निकालने रूप अपना कार्य सिद्ध कर लेती है। ठीक उसी प्रकार जैनी नीतिका व्यवहार है। वह जिस समय अनेकान्तात्मक वस्तुके द्रव्य-पर्याय या सामान्य-विशेषादिरूप एक अन्तको—धर्म या अशको—अपनी ओर

खीचती है—अपनाती है—उसी समय उसके दूसरे अन्त (धर्म या अश) को ढोला कर देती है—उसके विषयमे उपेक्षाभाव धारण कर लेती है । फिर दूसरे समय उस उपेक्षित अन्तको अपनाती और पहलेसे अपनाए हुए अन्तके साथ उपेक्षाका व्यवहार करती है—एकको अपनाते हुए दूसरेका सर्वथा त्याग नहीं करती, उसे भी प्रकारान्तरसे ग्रहण किये रहती है । और इस तरह मुख्य-गौणकी व्यवस्थारूप निर्णय-क्रियाको सम्यक् संचालित करके वस्तु-सत्त्वको निकाल लेती है—उसे प्राप्त कर लेती है । किसी एक ही अन्त पर उसका एकान्त आग्रह अथवा कदाग्रह नहीं रहता—वैसा होने पर वस्तुकी स्वरूपसिद्धि ही नहीं बनती । वह वस्तुके प्रधान-अप्रधान सब अन्तो पर समान दृष्टि रखती है—उनकी पारस्परिक अपेक्षाको जानती है—और इसलिये उसे पूर्णरूपमे पहचानती है तथा उसके साथ पूरा न्याय करती है । उसकी दृष्टिमें एक वस्तु द्रव्यकी अपेक्षा-मे यदि नित्य है तो पर्यायकी अपेक्षासे वही अनित्य भी है, एक गुणके कारण जो वस्तु बुरी है दूसरे गुणके कारण वह वस्तु अच्छी भी है एक वस्तुमें जो वस्तु लाभदायक है दूसरे वस्तुमें वही हानिकारक भी है, एक स्थान पर जो वस्तु शुभरूप है दूसरे स्थान पर वही अशुभरूप भी है और एकके लिये जो हेय है दूसरेके लिये वही उपादेय भी है । वह विषको मारनेवाला ही नहीं किन्तु जीवन-प्रद भी जानती है और इसलिये उसे सर्वथा हेय नहीं समझती ।

इस नीतिकी दृष्टिमे नित्यका अनित्यके साथ और अनित्यका नित्यके साथ, विधिक निषेधके साथ और निषेधका विधिके साथ तथा मुख्यका गौणके साथ और गौणका मुख्यके साथ अविनाभाव-सम्बन्ध है - एकके बिना दूसरेका अस्तित्व बन नहीं सकता । जिस प्रकार सम-तुलाका एक पल्ला ऊँचा होने पर दूसरा पल्ला स्वयमेव नीचा हो जाता है—ऊँचा पल्ला नीचेके बिना और नीचा पल्ला ऊँचेके बिना बन नहीं सकता और न कहला सकता है, उसी प्रकार

नत्य-अनित्यकी, विधि-निषेधकी और मुख्य-गौणआदिकी यह सारी व्यवस्था सापेक्ष है - सापेक्षनयवादका विषय है। और इसलिये जो निरपेक्षनयवादका आश्रय लेती है और वस्तुतत्त्वका सर्वथा एकरूपसे प्रतिपादन करती है वह जैनी नीति अथवा सम्यक् नीति न होकर मिथ्या नीति है। उसके द्वारा वस्तुतत्त्वका सम्यग्ग्रहण और प्रतिपादन नहीं बन सकता।

जैनी नीतिका ही दूसरा नाम 'अनेकान्तनीति' है और उसे 'स्याद्वादनीति' भी कहते हैं। यह नीति अपने स्वरूपसे ही सौम्य, उदार, शान्तिप्रिय, विरोधका मथन करनेवाली, वस्तुतत्त्वकी प्रकाशक और सिद्धि की दाता है। खेद है जैनियोंने अपने इस आराध्य देवता 'अनेकान्त' को बिल्कुल भुला दिया है और वे आज एकान्तके अनन्य उपासक बने हुए हैं ! उसीका परिणाम उनका मौजूदा सर्वतोमुखी पतन है, जिसने ज्ञानकी सारी विशेषताओं और गुण-गारि-माओं पर पानी फेर कर उन्हें जगण्य बना दिया है । जैनियोंको फिरसे अपने इस आराध्य देवताका स्मरण कराने हुए उनके जीवन-में इस सन्नीतिकी प्राणप्रतिष्ठा कराने और ससारको भी इस नीति का परिचय देने तथा इसकी उपयोगिता बतलानेके लिये ही 'अनेकान्त' नामसे पत्र निकाला गया है। लोकको इससे सत्प्रेरणा मिले और यह उसके हितसाधनमें महायक होवे ऐसी शुभ भावना है।

जैनी कौन हो सकता है ?

जो जीव जैनधर्मको धारणकरता है वह 'जैनी' कहलाता है । परन्तु आजकलके जैनी जैनधर्मको केवल अपनी ही पेटृक संपत्ति (मौरूसी तरका) समझ बैठे हैं और यही कारण है कि वे जैनधर्म दूसरोको नहीं बतलाते और न किसीको जैनी बनाते हैं । शायद उन्हें इस बातका भय हो कि कहीं दूसरे लोगोके शामिल होजानेसे इस मौरूसी तरकेमें अधिक भागानुभाग होकर हमारे हिस्सेमें बहुत ही थोड़ासा जैनधर्म बाकी न रह जाय । परन्तु यह सब उनकी बड़ी भारी भूल तथा गलती है और आज इसी भूल तथा गलतीको सुधारनेका यत्न किया जाता है ।

हमारे जैनी भाई इस बातको जानते हैं और शास्त्रोंमें भी जगह जगह हमारे परमपूज्य आचार्योंका यही उपदेश है कि, संसारमें दो प्रकारकी वस्तुएँ है—एक चेतन और दूसरी अचेतन । चेतनको जीव और अचेतनको अजीव कहते हैं । जितने जीव हैं वे सब द्रव्यत्वकी अपेक्षा अथवा द्रव्यदृष्टिसे बराबर हैं—किसीमें कुछ भेद नहीं है—सबका असली स्वभाव और गुण एक ही है । परन्तु अनादिकालसे जीवोंके साथ कर्म-मल लगा हुआ है, जिसके कारण उनका असली स्वभाव आच्छादित है, और वे नाना प्रकारकी पर्यायें धारण करते हुए नजर आते हैं । कीड़ा, मकोड़ा, कुत्ता, बिल्ली, शेर,

बबेरा, हाथी, घोडा, ऊट, गाय, बैल, मनुष्य, पशु, देव, और नारकी आदिक समस्त अवस्थाएँ उसी कर्ममलके परिणाम हैं और जीवकी इस अवस्थाको 'विभावपरिणति' कहते हैं।

जब तक जीवोमे यह विभावपरिणति बनी रहती है तब ही तक उनको 'ससारी' कहते हैं और तभी तक उनको ससारमे नाना प्रकार-के रूप धारण करके परिभ्रमण करना होता है। परन्तु जब किसी जीवकी यह विभावपरिणति मिट जाती है और उसका निजस्वभाव सर्वाङ्गरूपसे अथवा पूर्णतया विकसित हो जाता है तब वह जीव मुक्तिको प्राप्त हो जाता है, और इस प्रकार जीवके 'ससारी' तथा 'मुक्त' ऐसे दो भेद कहे जाते हैं।

इस कथनसे स्पष्ट है कि जीवोका जो असली स्वभाव है वही उत्तका धर्म है, और उसी धर्मको प्राप्त करानेवाला जैनधर्म है। अथवा दूसरे शब्दोमे यो कहिये कि जैनधर्म ही सब जीवोका निज धर्म है। इसलिये प्रत्येक जीवको जैनधर्मके धारण करनेका अधिकार प्राप्त है। इसीसे हमारे पूज्य तीर्थंकरो तथा ऋषि-मुनियोने पशु-पक्षियोत कको भी जैनधर्मका उपदेश दिया है और उनको जैनधर्म धारण कराया है, जिनके सैकड़ो ही नहीं किन्तु हजारो दृष्टान्त प्रथमानुयोगके शास्त्रो (कथाग्रन्थो) को देखनेसे मालूम हो सकते हैं।

हमारे अंतिम तीर्थंकर श्रीमहावीरस्वामी जब अपने इस जन्मसे नौ जन्म पहले सिंहकी पर्यायमें थे तब उन्हें किसी वनमे एक महात्माके दर्शन करते ही जातिस्मरण हो आया था। उन्होंने उसी समय, उक्त महात्माके उपदेशसे, श्रावकके बारह व्रत धारण किये, केसरीसिंह होकर भी किसी जीवको मारना और मांस खाना छोड़ दिया और इस प्रकार जैनधर्मको पालते हुए सिंह-पर्यायको छोड़कर वे प्रथम स्वर्गमें देव हुए और वहाँसे उन्नति करते करते अन्तमें जैनधर्मके प्रसादसे उन्होंने तीर्थंकर-पद प्राप्त किया।

पार्श्वनाथपुराणमे, अरविन्दमुनिके उपदेशसे, एक हाथीके जैन-

धर्म धारण करने और श्रावकके व्रत पालन करवेके सम्बन्धमें इस प्रकार लिखा है--

अब हाथो सत्रम साधै । व्रत जीव न भूल विराधै ॥
 समभाव छिमा उर आनै । अरि मित्र बराबर जानै ॥
 काया कसि इन्द्री दंडै । साहस घर प्रौषध मडै ॥
 सूखे तृण पल्लव भच्छै । परमदित मारग गच्छै ॥
 हाथीगण होह्यो पानी । सो पीवै गजपति ज्ञानी ॥
 देखे बिन पौव न राखै । तन पानी पक न नाखै ॥
 निजशील कभी नहिं खेवै । हथिनी दिशमूल न जोवै ॥
 उपसर्ग सहै अति भारी । दुर्घ्यान तजै दुखकारी ॥
 अधके भय अग न हालै । दृढ धीर प्रतिज्ञा पालै ॥
 चिरलौं दुद्धर तप कीनो । बलहीन भयो तन छोने ॥
 परमेष्ठि परमपद ध्यावै । ऐसे गज काल गमावै ॥
 एकैदिन अधिक तिसायौ । तब वेगवती तट आयौ ॥
 जलपीवन उद्यम कीधौ । कदोद्रह कुंज बंधौ ॥
 निश्चय जब मरण विचारौ । सन्यास सुधी तब धारौ ॥

इससे साफ प्रकट है कि अच्छा निमित्त मिल जाने और शुभ कर्मका उदय आ जाने पर पशुओंमें भी मनुष्यता आ जाती है और वे मनुष्योंके समान धर्मका पालन करने लगते हैं, क्योंकि द्रव्यत्वकी अपेक्षा सब जीव, चाहे वे किसी भी पर्यायमें क्यों न हों, आपसमें बराबर हैं । यही हाथीका जीव, जैनधर्मके प्रसादसे, इस पशुपर्यायको छोड़कर बारहवे स्वर्गमें देव हुआ और फिर उन्नतिके सोपानपर चढ़ता चढ़ता कुछ ही जन्म लेनेके पश्चात् हमारा पूज्य तीर्थंकर 'शार्वनाथ' हुआ है ।

इसी तरह और बहुतसे पशुओंने जैनधर्मको धारण करके अपने आत्माका विकास और कल्याण किया है । जब पशुओं तकने जैनधर्मको धारण किया है, तब फिर मनुष्योंका तो कहना ही क्या ? वे

तो सर्व प्रकारसे इसके योग्य और दूसरे जीवोंको इस धर्ममें लगाने-वाले ठहरे। सब पूछा जाय तो, किसी भी देश, जाति या वर्णके मनुष्यको इस धर्मके धारण करनेकी कोई मनाही (निषेध) नहीं है। प्रत्येक मनुष्य खुशीसे जैनधर्मको धारण कर सकता है। इसीसे सोमदेवसूरिने कहा है —

‘मनोवाक्कायधर्माय मता सर्वेऽपि जन्तव ।’

अर्थात्—मन, वचन, तथा कायसे किये जाने वाले धर्मका अनुष्ठान करनेके लिये सभी जीव अधिकारी हैं।

जैन-शास्त्रोंसे तथा इतिहास-ग्रन्थोंके देखनेसे भी यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है और इसमें कोई सन्देह नहीं रहता कि प्रायः सभी जातियोंके मनुष्य हमेशासे इस पवित्र जैनधर्मको धारण करते आए हैं और उन्होंने बड़ी भक्ति तथा भावके साथ इसका पालन किया है।

देखिये, क्षत्रिय लोग पहले अधिकतर जैनधर्मका ही पालन करते थे। इस धर्मसे उनको विशेष अनुराग और प्रीति थी। वे इसी धर्मको जगतका और अपनी आत्माका कल्याण करनेवाला समझते थे। हजारों राजा ऐसे हो चुके हैं जो जैनी थे अथवा जिन्होंने जैनधर्मकी दीक्षा धारण की थी। खासकर, हमारे जितने तीर्थंकर हुए हैं वे सब ही क्षत्रिय थे। इस समय भी जैनियोंमें बहुतसे जैनी ऐसे हैं जो क्षत्रियोंकी सन्तानमेंसे हैं, परन्तु उन्होंने क्षत्रियोंका कर्म छोड़ कर वैश्यका कर्म अंगीकार कर लिया है, इसलिये वैश्य कहलाते हैं। इसी प्रकार ब्राह्मण लोग भी पहले जैनधर्मको पालन करते थे और इस समय भी कहीं कहीं सैकड़ों ब्राह्मण जैनी पाये जाते हैं। जिस समय भगवान् ऋषभदेवके पुत्र भरत चक्रवर्तिनि क्षत्रियो आदिकी परीक्षा लेकर जिनको अधिक धर्मात्मा पाया उनका एक ब्राह्मण वर्ण स्थापित किया था उस समय तो ब्राह्मण लोग गृहस्थ जैनियोंके पूज्य समझे जाते थे और बहुत काल तक बराबर पूज्य बने रहे।

परन्तु पीछेसे जब वे स्वच्छन्द होकर अपने धर्म-कर्ममें सिधिल हो गये और जैनधर्मसे गिर गये तब जैनियोंने ग्राम तौरसे उनका पूजन और मानना छोड़ दिया । परन्तु फिर भी इस ब्राह्मण-वर्गमें बराबर जैनी होते ही रहे । हमारे परमपूज्य गौतम गणधर, भद्रबाहु स्वामी और पात्रकेशरी आदिक बहुतसे आचार्य ब्राह्मण ही थे जिन्होंने चहुँ-ओर जैनधर्मका डका बजाकर जगतके जीवोंका उपकार किया है । रहे वैश्य लोग, वे जैसे इस वक्त जैनधर्मको पालन करते हैं वैसे पहले भी पालन करते थे । ऐसी ही हालत शूद्रोंकी है, वे भी कभी जैनधर्मको धारण करनेसे नहीं चूके और ग्यारहवीं प्रतिमाके धारक बुलबुल तक तो होते ही रहे हैं । इस वक्त भी जैनियोंमें शूद्र, जैनी मौजूद हैं । बहुतसे जैनी शूद्रोंका कर्म (पेशा) करते हैं । और शूद्र ही क्यों ? हमारे पूर्वज तीर्थंकरों तथा ऋषि-मुनियोंने तो चंडालों, भीलों और म्लेच्छों तः को जैनधर्मका उपदेश देकर उन्हें जैनी बनाया है, और न केवल जैनधर्मका अद्वान ही उनके हृदयोंमें उत्पन्न किया है बल्कि श्रावकके व्रत भी उनसे पालन कराये हैं, जिनकी सैकड़ों कथाएँ शास्त्रोंमें मौजूद हैं ।

'हरिवंशपुराण' में लिखा है कि एक 'त्रिपद' नामके घीवर (कहार) की लडकीको, जिसका नाम 'पूतिगंधा' था और जिसके शरीरसे दुर्गंध आती थी, समाधिगुप्त मुनिने श्रावकके व्रत दिये । वह लडकी बहुत दिनों तक आयिकाके साथ रही अंतमें सन्यास धारण करके मरी तथा सोलहवे स्वर्गमें जाकर देवी हुई और फिर वहाँसे आकर श्रीकृष्णकी पटरानी 'रुक्मिणी' हुई ।

चम्पापुर नगरमें अग्निभूत' मुनिने अपने गुरु सूर्यमित्र मुनि-राजकी आज्ञासे, एक चांडाल-लडकीको, जो जन्मसे अंधी पैदा हुई थी और जिसकी देहसे इतनी दुर्गंध आती थी कि कोई उसके पास जाना नहीं चाहता था और इसी कारण वह बहुत दुखी थी, जैन-धर्मका उपदेश देकर श्रावकके व्रत धारण कराये थे । इसकी कथा

सुकुमालचारित्रादिक शास्त्रोंमें मौजूद है । यही चाडालीका जीव दो जन्म लेनेके पश्चात् तीसरे जन्ममें 'सुकुमाल' हुआ था ।

'पूर्णभद्र' और 'मानभद्र' नामके दो वैश्य भाइयोंने एक चाडाल-को श्रावकके व्रत ग्रहण कराए थे और उन व्रतोंके कारण वह चाडाल मर कर सोलहवें स्वर्गमें बड़ी ऋद्धिका धारक देव हुआ था, जिसकी कथा पुराणसूत्र-कथाकोशमें पाई जाती है ।

'हरिवंशपुराण' में लिखा है कि, गंधमादन पर्वत पर एक 'परवर्तक' नामके भीलको श्रीधर आदि दो चारण-मुनियोंने श्रावकके व्रत दिये । इसी प्रकार म्लेच्छोंके जैनधर्म धारण करनेके सम्बन्धमें भी बहुतसी कथाएँ विद्यमान हैं, बल्कि जैनी चक्रवर्ती राजाओंने तो म्लेच्छोंकी कन्याओंसे विवाह तक किया है । ऐसे विवाहोंसे उत्पन्न हुई सन्तान मुन-दीक्षा ले सकती थी, इतना ही नहीं किन्तु म्लेच्छ देशोंसे आए हुए म्लेच्छ तक भी मुनिदीक्षाके अधिकारी ठहराये गये हैं^१।

श्रीनेमिनाथके चचा वसुदेवने भी एक म्लेच्छ राजाकी पुत्रीसे, जिसका नाम 'जरा' था, विवाह किया था, और उससे 'जरकुमार' उत्पन्न हुआ था, जो जैनधर्मका बड़ा भारी श्रद्धालु था और जिसने अतको जैनधर्मकी मुनिदीक्षा धारण की थी । यह कथा भी हरिवंश-

१ जैना कि 'लब्धिसार' की टीकाके निम्न अंशसे प्रकट है —

म्लेच्छभूमिजमनुष्याणां सकलसयमग्रहणं कथं भवतीति नाश-
कितव्यम् । दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागतानां म्लेच्छ-
राजानां चक्रवर्त्यादिभिः सह जातवैवाहिकसम्बन्धानां सयमप्रतिपत्तेर-
विरोधात् । अथवा चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूपन्नस्य मातृपक्षा-
पेक्षया म्लेच्छव्यपदेशभाजं सयमसम्भवात् तथाजातीयकानां दीक्षाह-
त्वे प्रतिषेधाभावात् ।' (गाथा न० १६३ से सम्बद्ध)

पुराणमें लिखी है' । और इसी पुराणमें, जहाँ पर श्रीमहावीरस्वामी-के समवसरणका वर्णन है वहाँपर, यह भी लिखा है कि समवसरणमें जब श्रीमहावीरस्वामीने मुनिधर्म और श्रावकधर्मका उपदेश दिया तो उसको सुनकर 'बहुतसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य लोग मुनि हो गये और चारो ही वर्णके स्त्री-पुरुषोंने श्रावकके बारह व्रत धारण किये' इतना ही क्यों ? उनकी पवित्र वाणीका प्रभाव यहाँ तक पड़ा कि कुछ जानवरोंने भी अपनी शक्तिके अनुसार श्रावकके व्रत धारण किये । इससे भली भाँति प्रकट है कि, प्रत्येक मनुष्य ही नहीं बल्कि प्रत्येक जीव अपनी योग्यताके अनुसार जैनधर्मको धारण कर सकता है । इसलिये जैनधर्म सबको बतलाना चाहिये ।

इन सब उल्लेखों परसे, यद्यपि, प्रत्येक मनुष्य खुशीसे यह नतीजा निकाल सकता है कि, जैनधर्म आजकलके जैनियोंकी खास मीरास नहीं है, उस पर मनुष्य क्या जीवमात्रको पूरा पूरा अधिकार प्राप्त है और प्रत्येक मनुष्य अपनी शक्ति अथवा सामर्थ्यके अनुसार उसको धारण और पालन कर सकता है, फिर भी यहाँपर कुछ थोड़ेसे प्रमाण और उपास्थित किये जाते हैं जिससे इस विषयके सदेह अथवा भ्रमका और भी अच्छी तरह निरसन हो सके :—

(१) 'पूजासार' के श्लोक न० १६ में जिनेन्द्रदेवकी पूजा करने वालेके दो भेद वर्णन किये हैं—एक नित्य पूजन करनेवाला, जिसको 'पूजक' कहते हैं और दूसरा प्रातिष्ठादि विधान करनेवाला, जिसको 'पूजकाचार्य' कहते हैं । इसके पश्चात् दो श्लोकोमें आद्य (प्रथम) भेद, 'पूजक' का स्वरूप दिया है और उसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र, इन चारो ही वर्णोंके मनुष्योंको पूजा करनेका अधिकारी ठहराया है । यथा —

१ हरिवंशपुराणके उल्लेखोंके लिये देखो प० दौलतरामजी-द्वारा अनुवादित भाषा हरिवंशपुराण अथवा जिनसेनाचार्यकृत मूलग्रन्थ ।

ब्राह्मण क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वाऽऽथ सुशीलवान् ।

इद्वन्नतो दृढाचार सत्यशौचममन्वित ॥ १७ ॥

(२) इसी प्रकार 'धर्मसंग्रहश्रावकाचार' के ६ वे अधिकारके श्लोक नं० १४० में श्रीजिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेवालेके उपर्युक्त दोनो श्रेदीका कथन करनेके अनन्तर ही एक श्लोकमें—'पूजक' के स्वरूप-कथनमें—ब्राह्मणादिक चारो वर्णोंके मनुष्योंको पूजा करनेका अधिकारी बतलाया है। वह श्लोक यह है—

ब्राह्मणादिचतुर्वर्ण्ये आद्यः शीलव्रतान्वितः ।

सत्यशौचदृढाचारो हिंसाद्यन्नतदूरग ॥ १४३ ॥

और इसी ६ वे अधिकारके श्लोक नं० २२५ में ब्राह्मणोंके पूजन करना, पूजन कराना, पढ़ना, पढ़ाना, दान देना और दान लेना, ऐसे छह कर्म वर्णन करके उससे अगले श्लोकमें "यजनाध्ययने दान परेषां त्रीणि ते पुनः" इस वचनसे क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके पूजन करना पढ़ना और दान देना, ऐसे तीन कर्म वर्णन किये हैं।

इन दोनो आस्त्रोंके प्रमाणोंसे भली भाँति प्रकट है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चारो वर्णोंके मनुष्य जैनधर्मको धारण करके जैनी हो सकते हैं। तब ही तो वे श्रीजिनेन्द्रदेवकी पूजा करनेके अधिकारी वर्णन किये गये हैं।

(३) 'सागारधर्ममृत' में पं० आशाधरजीने लिखा है —

'शूद्रोऽप्युपस्कराचार-वपुःशुष्याऽस्तु तादृशः ।

जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्मास्ति धर्मभाक् ॥

(अ० २ श्लो० २२)

अर्थात्—आसन और वर्तन वगैरह जिसके शुद्ध हो, मांस और

१. इस पद्यसे पहले स्वोपज्ञटीकामें यह प्रविज्ञावाक्य भी दिया है—

"अथ शूद्रस्याप्याहारादिशुद्धिमतो ब्राह्मणादिवद्वर्त्मकियाकारित्वं यथोचितमनुमन्यमानः प्राह—"

मदिरा आदिके त्यागसे जिसका आचरण पवित्र हो और नित्य स्नान आदिके करनेसे जिसका शरीर शुद्ध रहता हो, ऐसा शूद्र भी ब्राह्मण-आदिक वर्णोंके सदृश श्रावक-धर्मका पालन करनेके योग्य है। क्योंकि जातिसे हीन आत्मा भी कालादिक लब्धिको पाकर जैन धर्मका अधिकारी होता है।

इसी तरह श्रीसोमदेव आचार्यने भी, 'नीतिवाक्यामृत' के नीचे लिखे वाक्यमें, उपर्युक्त तीनों शुद्धियोंके होनेसे शूद्रोंको धर्म साधनके योग्य बतलाया है —

“आचाराऽनवद्यस्व शुचिरुपस्कार शरीरशुद्धिश्च करोति शूद्रानपि देवद्विजातितत्स्विपरिकर्मसु योग्यान् ।”

(४) रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें स्वामी समन्तभद्राचार्य लिखते हैं कि —

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम् ।

देवा देव विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥ २८ ॥

अर्थात् — सम्यग्दर्शनसे युक्त — जैनधर्मके श्रद्धालु — चाडाल पुत्र-को भी गणधरादि देवोंने 'देव' कहा है — आराध्य बतलाया है। उस की दशा उस अंगारके सदृश है जो बाह्यमें भस्मसे आच्छादित होने पर भी अंतरगर्भमें तेज तथा प्रकाशको लिये हुए है और इस लिये कदापि उपेक्षणीय नहीं होता।

इससे चाडालका जैनी बन सकना भली भाँति प्रकट ही नहीं किन्तु अभिमत जान पड़ता है। इसके सिवाय, सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति तो चौथे गुणस्थानमें ही हो जाती है, चाडाल इससे भी ऊपर जा सकता है और श्रावकके व्रत धारण कर सकता है, जैसा कि ऊपर उल्लेख की हुई कथाओंसे प्रकट है। इसमें किसीको भी आपत्ति नहीं है। रविबेणाचार्यने तो 'पद्मपुराण' में ऐसे व्रती चाण्डालको 'ब्राह्मण' का दर्जा प्रदान किया है और लिखा है कि कोई भी जाति बुरी अथवा तिरस्कारके योग्य नहीं है — सभी गुणधर्मकी अधिका-

रिखी हैं। यथा:—

न जातिर्गहिता काचिद् गुणा कल्याणकारणम् ।

व्रतस्थमपि चाण्डाल तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥११—२०३॥

(५) सोमसेनके त्रैवर्णिकाचारमे भी एक पुरातन श्लोक निम्न प्रकारसे पाया जाता है —

विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा प्रोक्ता क्रियाविशेषतः ।

जैनधर्मे परा शक्तास्ते सर्वे बान्धवोपमा ॥ ७-१४२ ॥

इसमे लिखा है कि— 'ब्राह्मण, क्षात्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारो वर्ण अपने अपने नियत कर्मके विशेषकी अपेक्षासे कहे गये हैं, जैन-धर्मको पालन करनेमे इन चारो वर्णोंके मनुष्य परम समथ है और उसे पालन करते हुए वे सब आपसमे भाई भाईके समान है।'।

इन सब प्रमाणोंसे सिद्धान्तकी अपेक्षा, प्रवृत्तिकी अपेक्षा और शास्त्राधारकी अपेक्षा सब प्रकारसे यह बात कि 'प्रत्येक मनुष्य जैन-धर्मको धारण कर सकता है' कितनी स्पष्ट और साफ तौर पर सिद्ध है, इसका अनुमान हमारे पाठक स्वयं कर सकते हैं और मालूम कर सकते हैं कि वर्तमान जैनियोंकी यह कितनी भारी गलती और बे-समझी है जो केवल अपने आपको ही जैनधर्मका मौखसी हकदार समझ बैठे हैं।

अफसोस ! जिनके पूज्य पुरुषो, तीर्थकरो और ऋषि-मुनियो आदिका तो इस धर्मके विषयमें यह खयाल और यह कोशिश कि कोई भी जीव इस धर्मसे वंचित न रहे—यथासाध्य प्रत्येक जीवको इस धर्ममे लगाकर उसका हित साधन करना चाहिये, उन्ही जैनियोंकी आज यह हालत कि वे कजूस और कृपणकी तरह जैनधर्मको छिपाते फिरते हैं। न आप इस धर्मरत्नसे लाभ उठाते है और न दूसरोको ही लाभ उठाने देते हैं। इससे मालूम होता है कि आज-कलके जैनी बहुत ही तगदिल (सकीर्णहृदय) हैं और इसी तगदिली ने उन पर संगादली (पाषाण-हृदयता) की घटा छा रक्खी है।

खुदगर्जी (स्वार्थपरता) का उनके चारों तरफ राज्य है । यही कारण है कि वे दूसरोंका उपकार करना नहीं चाहते और न किसीको जैनधर्मका श्रद्धालु बनानेकी कोई खास चेष्टा ही करते हैं । उनकी तरफसे कोई डूबो या तिरो, उनको इससे कुछ प्रयोजन नहीं । अपने भाइयोकी इस अवस्थाको देखकर बड़ा ही दुःख होता है ।

प्यारे जैनियो ! आप उन वीरपुरुषोकी सन्तान हो, जिन्होंने लौकिक स्वार्थ-बुद्धिको कभी अपने पास तक फटकने नहीं दिया, पौरुषहीनता और भीरुताका कभी स्वप्नमे भी जिनको दर्शन नहीं हुआ, जिनके विचार बड़े ही विशुद्ध, गभीर तथा हृदय विस्तीर्ण थे और जो ससार भरके सच्चे शुभचिंतक तथा सब जीवोका हित साधन करनेमें ही अपनेको कृतार्थ समझनेवाले थे । आप उन्हीकी वंशपरम्परामें उत्पन्न हैं जिनका सारा मनोबल, वचनबल, बुद्धिबल और कायबल निरंतर परोपकारमे ही लगा रहता था, धार्मिक जोश से जिनका मुखमंडल (चेहरा) सदा दमकता था, जो अपनी आत्माके समान दूसरे जीवोकी रक्षा करते थे और इस ससारको असार समझ कर निरंतर अपना तथा दूसरे जीवोका कल्याण करनेमें ही लगे रहते थे; ऐसे ही पूज्य पुरुषोका आप अपने आपको अनुयायी तथा उपासक भी बतलाते हैं जो ज्ञान-विज्ञानके पूर्ण स्वामी थे, जिनकी सभामे पशु-पक्षी तक भी उपदेश सुननेके लिये आते थे, जिन्होंने जैनधर्म धारण कराकर करोड़ों जीवोका उद्धार किया था और भिन्न धर्मावलम्बियों पर जैनियोके अहिंसाधर्मकी छाप जमाई थी । इसलिये आप ही ज़रा विचार कीजिये कि क्या अपनी ऐसी हालत बनाना और दूसरोका उपकार करनेसे इस प्रकार हाथ खींच लेना अथवा जी चुराना आपके लिये उचित और योग्य है ? कदापि नहीं ?

प्यारे धर्म बन्धुओ ! हमें अपनी इस हालत पर बहुत डी

लज्जित तथा शोकित होना चाहिये । हमारी इस लापवाही (उदासीनता) और खामोशी (मौनवृत्ति) से जैन जातिको बड़ा भारी धक्का और धब्बा लग रहा है । हमने अपने पूज्य पुरुषो—ऋषि-मुनियो—के नामको बढ़ा लगा रक्खा है । यह सब हमारी स्वार्थ-परता, निष्पौरुषता, सकीर्णहृदयता और विपरीत-बुद्धिका ही परिणाम है । इसका सारा कलक हमारे ही ऊपर है । वास्तवमें हम अपनी आँखोंके सामने इस बातको देख रहे हैं कि अज्ञानसे अंधे प्राणी बिल्कुल बेसुध हुए मिथ्यात्वरूपी कुएँके सन्मुख जा रहे हैं और उसमें गिर रहे हैं और फिर भी हम भौनावलम्बी हुए चुपचाप बैठे हैं—न उन बेचारोंको उस कुएँसे सूचित करते हैं न कुएँमें गिरनेसे बचाते हैं और न कुएँमें गिरे हुएोंको निकालनेका प्रयत्न करते हैं, तो इससे अधिक और क्या अपराध हो सकता है ? अब हमको इस कलक और अपराधसे मुक्त होनेके लिये अवश्य प्रयत्नशील होना चाहिये ।

सबसे प्रथम हमे अपनेमें इन स्वार्थपरता आदिक दोषोंको निकाल डालना चाहिये । फिर उत्साहकी कटि बाँधकर और परोपकार को ही अपना मुख्य धर्म सकल्प करके अपने पूज्य पुरुषो अथवा ऋषि-मुनियोंके मार्गका अनुसरण करना चाहिये और दूसरे जीवों पर दया करके उनको मिथ्यात्वरूपी अन्धकारसे निकालकर जिनवाणीके प्रकाशरूप जैनधर्मकी शरणमें लाना चाहिये । यही हमारा इस समय मुख्य कर्तव्य है और इसी कर्तव्यको पूरा करनेसे हम उपर्युक्त कलकसे विमुक्त हो सकते हैं । अथवा यो कहिये कि अपने मस्तक पर जो कालिमाका टीका लगा हुआ है उसको दूर कर सकते हैं । हमको चाहिये कि अपने इस कर्तव्यके पालन करनेमें अब कुछ भी बिलम्ब न करे । क्योंकि इस वक्त कालकी गति जैनियोंके अनुकूल है । अब वह समय नहीं रहा कि जब अन्यायी और निष्ठुर राजा तथा बादशाहोंके अन्धाय और अत्याचारोंके कारण

- जैनी अपनेको जैनी कहते हुए डरते थे और अपने धर्म तथा शास्त्रोंको छिपानेके लिए बाध्य होते थे। अब वह समय आ गया है कि लोगोकी प्रवृत्ति सत्यताकी खोज और निष्पक्षपातताकी ओर होती जाती है। इसलिये जैनियोंके लिये यह समय बड़ा ही अमूल्य है। ऐसे अवसर पर हमको अवश्य अपने धर्मरत्नका प्रकाश सर्व-साधारणमें फैलाना चाहिये। सर्व मनुष्योंपर जैनधर्मके सिद्धान्त और उनका महत्व प्रकट करना चाहिये और उनको बतलाना चाहिये कि कैसे जैनधर्म ही सब जीवोका कल्याण कर सकता है और उनको वास्तविक सुखकी प्राप्ति करा सकता है। इस समय हमारे भाइयोकी सिर्फ थोड़ीसी हिम्मत और परोपकारबुद्धिकी जरूरत है। बाकी यह खूबी खुद जैनधर्ममें मौजूद है कि वह दूसरोको अपनी ओर आकर्षित कर लेवे। परन्तु दूसरोको इस धर्मका परिचय तथा जानकारी कराना मुख्य है और यह जैनियोंका कर्तव्य है।

अतः प्यारे जैनियो ! आप कुछ भी न घबराते हुए इस धर्म-रत्नको हाथमें लेकर चीडे मैदानमें खडे हो जाइये और जौहरियोंसे पुकार कर कहिये कि वे आकर इस रत्नकी परीक्षा करे। फिर आप देखेंगे कि कितने धर्मजौहरी इस धर्मरत्नको देखकर मोहित होते हैं और इस पर अपना जीवन अर्पण करनेके लिये उद्यमी नजर आते हैं। अभी हालमें कुछ लोगोके कानो तक इस धर्मका शुभ समाचार पहुँचा ही था कि वे तुरत मन-वचन-कायसे इसके अनुयायी और भक्त बन गये हैं। इसलिये मेरा बार बार यही कहना है कि कोई भी मनुष्य इस पवित्र धर्मसे वंचित न रक्खा जावे, किसी न किसी प्रकारसे प्रत्येक मनुष्यके कानो तक इस धर्मकी आवाज (पुकार) पहुँच जानी चाहिये और इस बातका दिलमें कभी खयाल भी न लाना चाहिये कि अमुक मनुष्य इस धर्मको धारण करनेके अयोग्य है अथवा इस धर्मका पात्र ही नहीं है। क्योंकि यह धर्म प्राणीमात्र-का धर्म है। यदि कोई मनुष्य पूरी तौर पर इस धर्मका पालन नहीं

कर सकता तो भी थोड़ा बहुत जरूर पालन कर सकता है। कमसे कम यदि उसका श्रद्धान भी ठीक हो जायगा तो उससे बहुत काम निकल जायगा और वह फिर धीरे धीरे यथावत् आचरण करनेमें भी समर्थ हो जायगा। इसी लिये शायद सोमदेवसूरिने 'यशस्ति लक' में लिखा है कि—

‘नवै संदिग्धनिर्वाहैर्विदध्याद् गणबर्धनम्।’

अर्थात्—ऐसे ऐसे नए मनुष्योंसे भी अपने समाजकी समूहवृद्धि करनी चाहिये जो संदिग्धनिर्वाह हैं—जिनके विषयमें यह सदेह है कि वे समाजके आचार-विचारका यथेष्ट पालन कर सकेंगे।

दूसरी नीतिका यह वाक्य है कि ‘अयोग्य पुरुषो नास्ति यो-जकस्तत्र दुर्लभः’ अर्थात् कोई भी मनुष्य स्वभावसे अयोग्य नहीं है। परन्तु किसी मनुष्यको योग्यताकी ओर लगाना या किसीकी योग्यतासे काम लेना यही कठिन कार्य है और इसी पर दूसरे मनुष्यकी योग्यताकी परीक्षा निर्भर है। इसलिये यदि हम किसी मनुष्यको जैनधर्म धारण न करावे या किसी मनुष्यको जैनधर्मका श्रद्धानी न बना सकें तो समझना चाहिये कि यह हमारी ही अयोग्यता है। इसमें उस मनुष्यका कोई दोष नहीं है और न इसमें जैनधर्मका ही कोई अपराध हो सकता है। इसलिये इस कच्चे विचार और बाल-खयालको बिल्कुल हृदयसे निकालकर फेंक देना चाहिये कि ‘अमुक मनुष्यको तो जैनधर्म बतलाया जावे और अमुकको नहीं’। प्रत्येक मनुष्यको जैनधर्म बतलाना चाहिये और जैनधर्मका श्रद्धानी बनाना चाहिये; क्योंकि यह धर्म प्राणीमात्रका धर्म है—किसी खास जाति या देशसे सम्बद्ध (बँधा हुआ) नहीं है।

यहाँ पर सब प्रकारके मनुष्योंको जैनधर्मका श्रद्धानी अथवा जैनी बनानेसे हमारे किसी भी भाईको यह समझकर भयभीत न होना चाहिये कि ऐसा होनेसे सबका खाना पीना एकदम एक हो जावेगा। खाना पीना और बात है—वह अधिकांशमें अपने ऐच्छिक

व्यवहारपर निर्भर है, लाजिमी नहीं—और धर्म दूसरी वस्तु है। दूसरे लोगोको जैनधर्ममें दीक्षित करनेके लिये हमें प्रायः उसी सनातन मार्गपर चलना होगा जिस पर हमारे पूज्य पूर्वज और आचार्य महानुभाव चलते आये हैं और जिसका उल्लेख आदिपुराणादि ग्रन्थोंमें पाया जाता है^१। हमारे लिये पहले ही से सब प्रकारकी सुगमताओंका मार्ग खुला हुआ है। उसके लिये व्यर्थ अधिक चिन्ता करने अथवा कष्ट उठाने की जरूरत नहीं है। अतः हमको बिल्कुल निर्भय होकर, साहस और धैर्यके साथ, सब मनुष्योंमें जैनधर्मका प्रचार करना चाहिये। सबसे पहले लोगोका श्रद्धान् ठीक करना और फिर उनका आचरण सुधारना चाहिये। जैनी बनने और बनानेके लिए इन्हीं दो बातोंकी खास जरूरत है। इनके बाद सामाजिक व्यवहार है, जो देश कालकी परिस्थितियों—आवश्यकताओं—और परस्परके प्रेममय सद्बर्तन आदि पर विशेष आधार रखता है। उसके लिए कोई एक नियम नहीं हो सकता। वह जितना ही निर्दोष दृढ़ तथा प्रेममूलक होगा उतना ही समाज और उसके धर्मकी स्थितिके लिये उपयोगी तथा हितकारी होगा।

१ आदिपुराणमें तो म्लेच्छों तकको कुलशुद्धि आदिके द्वारा अपने बना लेनेकी—उन्हे क्रमशः अपनी जातिमें शामिल कर लेनेकी—व्यवस्था की गई है। जैसा कि उसके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

स्वदेशेऽनक्षरम्लेच्छान् प्रजावाधाविधायिनः ।

कुलशुद्धि-प्रदानाद्यैः स्वसात्कुर्यादुपक्रमैः ॥ —पर्व ४२वा

भक्ति-योग-रहस्य

जैनधर्मके अनुसार, सब जीव द्रव्यदृष्टिसे अथवा शुद्ध निश्चय-नयकी अपेक्षा परस्पर समान है—कोई भेद नहीं, सबका वास्तविक गुण-स्वभाव एक ही है । प्रत्येक जीव स्वभावसे ही अनन्तदर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्तवीर्यादि अनन्त शक्तियोंका आधार है—पिंड है । परन्तु अनादिकालसे जीवोंके साथ कर्ममल लगा हुआ है, जिसकी मूल प्रकृतियाँ आठ, उत्तर प्रकृतियाँ एकसी अड़तालीस और उत्तरोत्तर प्रकृतियाँ असंख्य हैं । इस कर्म-मलके कारण जीवोंका असली स्वभाव आच्छादित है, उनकी वे शक्तियाँ अविकसित हैं और वे परतत्र हुए नाना प्रकारकी पर्यायें धारण करते हुए नजर आते हैं । अनेक अवस्थाओंको लिये हुए ससारका जितना भी प्राणिवर्ग है वह सब उसी कर्म-मलका परिणाम है—उसीके भेदसे यह सब जीव-जगत् भेदरूप है, और जीवोंकी इस अवस्थाको 'विभाव-परिणति' कहते हैं । जब तक किसी जीवकी ये विभाव-परिणति बनी रहती है, तब तक वह 'ससारी' कहलाता है और तभी तक उसे ससारमें कर्मानुसार नाना प्रकारके रूप धारण करके परिभ्रमण करना तथा दुःख उठाना होता है । जब योग्य साधनोंके बलपर यह विभाव-परिणति मिट जाती है—आत्मामें कर्म-मलका सम्बन्ध नहीं रहता—और उसका निज स्वभाव सर्वाङ्गरूपसे अथवा

पूर्णतया विकसित हो जाता है, तब वह जीवात्मा संसार-परिभ्रमणसे छूटकर मुक्तिको प्राप्त हो जाता है और मुक्त, सिद्ध अथवा परमात्मा कहलाता है, जिसकी दो अवस्थाएँ हैं—एक जीवन्मुक्त और दूसरी विदेहमुक्त । इस प्रकार पर्यायदृष्टिसे जीवोंके संसारी' और 'सिद्ध' ऐसे मुख्य दो भेद कहे जाते हैं, अथवा अविकसित अल्पविकसित, बहुविकसित और पूर्ण-विकसित ऐसे चार भागोंमें भी उन्हें बाटा जा सकता है । और इसलिये जो अधिकाधिक विकसित हैं वे स्वरूपसे ही उनके पूज्य एव आराध्य हैं, जो अविकसित या अल्पविकसित हैं, क्योंकि आत्मगुणोंका विकाश सबके लिये इष्ट है ।

ऐसी स्थिति होते हुए यह स्पष्ट है कि संसारी जीवोंका हित इसीमें है कि वे अपनी विभाव-परिणतिको छोड़कर स्वभावमे स्थिर होने अर्थात् सिद्धिको प्राप्त करनेका यत्न करे । इसके लिये आत्म-गुणोंका परिचय चाहिये, गुणोंमे वर्द्धमान अनुराग चाहिये और विकास-मार्गकी दृढ़ श्रद्धा चाहिये । बिना अनुरागके किसी भी गुणकी प्राप्ति नहीं होती—अनुरागी अथवा अभक्त-हृदय गुणग्रहणका पात्र ही नहीं, बिना परिचयके अनुराग बढ़ाया नहीं जा सकता और बिना विकास-मार्गकी दृढ़ श्रद्धाके गुणोंके विकासकी ओर यथेष्ट प्रवृत्ति ही नहीं बन सकती । और इसलिये अपना हित एव विकास चाहनेवालोंको उन पूज्य महापुरुषों अथवा सिद्धात्माओंकी शरणमे जाना चाहिये—उनकी उपासना करनी चाहिये, उनके गुणोंमें अनुराग बढ़ाना चाहिये और उन्हें अपना मार्ग-प्रदर्शक मानकर उनके नकशे कदम पर चलना चाहिये, अथवा उनकी शिक्षाओं पर अमल करना चाहिये, जिनमे आत्माके गुणोंका अधिकाधिकरूपमें अथवा पूर्णरूपमे विकास हुआ हो, यही उनके लिये कल्याणका सुगम मार्ग है ।

वास्तवमें ऐसे महान महात्माओंके विकसित आत्मस्वरूपक भजन और कीर्तन ही हम संसारी जीवोंके लिये अपने आत्माका अनुभवन और मनन है । हम 'सोऽहं' की भावना-द्वारा उसे अपने

जीवनमें उतार सकते हैं और उन्हींके—अथवा परमात्मस्वरूपके—आदर्शको सामने रखकर अपने चरित्रका गठन करते हुए अपने आत्मीय गुणोंका विकास सिद्ध करके तद्रूप हो सकते हैं। इस सब अनुष्ठानमें उनकी कुछ भी मरज नहीं होती और न इसपर उनकी कोई प्रसन्नता ही निर्भर है—यह सब साधना अपने ही उत्थानके लिये की जाती है। इसीसे सिद्धिके साधनोंमें 'भक्ति-योग' को एक मुख्य स्थान प्राप्त है, जिसे 'भक्ति-मार्ग' भी कहते हैं।

सिद्धिको प्राप्त हुए शुद्धात्माओंकी भक्ति-द्वारा आत्मोत्कर्ष साधने का नाम ही 'भक्ति-योग' अथवा 'भक्ति-मार्ग' है और 'भक्ति' उनके गुणोंमें अनुरागको, तदनुकूल वर्तनेको अथवा उनके प्रति गुणानुराग-पूर्वक आदर-सत्काररूप प्रवृत्तिको कहते हैं, जो कि शुद्धात्मवृत्तिकी उत्पत्ति एवं रक्षाका साधन है। स्तुति, प्रार्थना, वन्दना, उपासना, पूजा, सेवा, श्रद्धा और आराधना ये सब भक्तिके ही रूप अथवा नामान्तर हैं। स्तुति-पूजा-वन्दनादि रूपसे इस भक्तिक्रियाको 'सम्यक्त्व-वर्द्धिनी क्रिया' बतलाया है, शुभोपयोगि चारित्र्य लिखा है और साथ ही 'कृतिकर्म' भी लिखा है, जिसका अभिप्राय है 'पापकर्म-छेदनका अनुष्ठान'। सद्भक्तिके द्वारा औद्धत्य तथा अहंकारके त्यागपूर्वक गुणानुराग बढ़नेसे प्रशस्त अध्यवसायकी—कुशल परिणामकी—उपलब्धि होती है और प्रशस्त अध्यवसाय अथवा परिणामोंकी विशुद्धिसे संचित कर्म उसी तरह नाशको प्राप्त होता है, जिस तरह काष्ठके एक सिरेमें अग्निके लगनेसे वह सारा ही काष्ठ भस्म हो जाता है। इधर संचित कर्मोंके नाशसे अथवा उनकी-शक्तिके शमनसे गुणावरोधक कर्मोंकी निर्जरा होती या उनका बल-क्षय होता है तो उधर उन अभिलषित गुणोंका उदय होता है, जिनसे आत्माका विकास सधता है। इसीसे स्वामी समन्तभद्र जैसे महान् आचार्योंने परमात्मा-की स्तुतिरूपमें इस भक्तिको कुशल-परिणामकी हेतु बतलाकर इसके द्वारा श्रेयोमार्गको सुलभ और स्वाधीन बतलाया है और अपने

तेजस्वी तथा सुकृती आदि होनेका कारण भी इसीको निर्दिष्ट किया है, और इसीलिये स्तुति-वदनादिके रूपमें यह भक्ति अनेक नैमित्तिक क्रियाओंमें ही नहीं, किन्तु नित्यकी षट् आवश्यक-क्रियाओंमें भी शामिल की गई है, जो कि सब आध्यात्मिक क्रियाएँ हैं और अन्त-दृष्टिपुरुषो (मुनियो तथा श्रावको) के द्वारा आत्मगुणोके विकासको लक्ष्यमें रखकर ही नित्य की जाती हैं और तभी वे आत्मोत्कर्षकी साधक होती है। अन्यथा, लौकिक लाभ, पूजा-प्रतिष्ठा, यश, भय, रुढ़ि आदिके वश होकर करनेसे उनके द्वारा प्रशस्त अध्यवसाय नहीं बन सकता और न प्रशस्त अध्यवसायके बिना सचित पापों अथवा कर्मोंका नाश होकर आत्मीय गुणोंका विकास ही सिद्ध किया जा सकता है। अतः इस विषयमें लक्ष्यशुद्धि एवं भावशुद्धिपर दृष्टि रखनेकी खास जरूरत है, जिनका सम्बन्ध विवेकसे है। विना विवेकके कोई भी क्रिया यथेष्ट फलदायक नहीं होती, और न विना विवेककी भक्ति सद्भक्ति ही कहलाती है।

महावीरकी तीर्थ-प्रवर्तन-तिथिका महत्व

श्रीवर्द्धमान महावीरकी गर्भ-जन्म-तप (दीक्षा)-ज्ञान-निर्वाण नामकी पंच कल्याणक तिथियाँ खूब प्रसिद्ध हैं—प्रायः नित्यकी पूजामें उनका उच्चारण-स्मरण किया जाता है और उन्हें लक्ष्य करके पंच-कल्याणक-व्रतानुष्ठानमें उपवास भी किये जाते हैं। जन्मतिथि तो 'महावीर जयन्ती' के रूपमें प्रायः सर्वत्र उत्सवादि-पूर्वक मनाई जाती है। परन्तु भ० महावीरके उपासकोमें ऐसे बहुत ही कम—नहीके बराबर—लोग निकलेंगे जिन्हें भगवान्की तीर्थ-प्रवर्तन-तिथि अर्थात् वह दिन भी ठीक अवगत हो जिस दिन उन्होंने केवलोत्पत्तिके पश्चात् लोक-हितार्थ अपना उपदेश प्रारम्भ किया था और उसके द्वारा धर्म-अधर्मकी यथार्थ परिभाषा बतलाकर तथा तत्त्व-अतत्त्वका ठीक भेद समझाकर अज्ञानान्धकारमें भूले-भटकते हुए प्राणियोंको सन्मार्ग दिखलाया था, उनके वहमो-मिथ्याविश्वासो-को दूर भगाकर उनकी कुप्रवृत्तियोंको सुधारनेका सातिशय प्रयत्न किया था और अन्याय-अत्याचारोंसे पीड़ित एवं आकुलित जनताको सान्त्वना देकर उसके उद्धारका नेतृत्व ग्रहण करते हुए विश्वभरको सुख-शान्तिका सच्चा सन्देश सुनाया था। कृतज्ञता और उपकार-स्मरण आदिकी दृष्टिसे यदि देखा जाय तो यह तीर्थ-प्रवर्तन-तिथि दूसरी जन्मादि तिथियोंसे कुछ कम महत्वकी नहीं है, बल्कि कितने ही अशोमें अधिक महत्व

रखती हैं। क्योंकि दूसरी तिथिया जब व्यक्तिविशेषके उत्कर्षादिसे सम्बन्ध रखती हैं तब यह तिथि पीडित, पतित और मार्गच्युत जनताके उत्थान एवं कल्याणके साथ सीधा सम्बन्ध रखती है, और इसलिये अपने हितमें सावधान कृतज्ञ जनताके द्वारा खास तौरसे स्मरण रखने तथा महत्त्व दिये जाने योग्य है। परन्तु खेद है कि आज हम अपने कल्याणका सूत्रपात करनेवाली उस पावन तिथिको प्रायः बिल्कुल ही भुला बैठे हैं। हमें यह भी मालूम नहीं कि जिस तीर्थ-प्रवर्तनके कारण हम भ० महावीरको तीर्थंकर मानकर पूजते हैं वह तीर्थप्रवृत्ति अथवा तीर्थोत्पत्ति किस दिन हुई थी। फिर उसकी स्मृतिमें कोई शुभकृत्य करना अथवा किसी उत्सवादिके रूपमें वह पुण्यदिवस मनाना तो दूरकी बात है। अतः आज इस लेख-द्वारा मैं अपने भाईयोका ध्यान उनके इस पवित्र कर्तव्यकी ओर आकर्षित करता हूँ।

‘धवल’ नामक सिद्धान्त ग्रन्थमें, जो अभी तक अलभ्य और दुष्प्राप्य था, उस पुण्यतिथिका उल्लेख निम्न प्रकारसे पाया जाता है —

वासस पदम मासे पदमे पक्खम्मि सावणे बहुले।

पाट्टिवक् पुब्बदिबसे तित्थुप्पत्ती दु अमिज्जिम्हि ॥

इस गायामें साफ तौरसे भ० महावीरके तीर्थकी उत्पत्ति श्रावण कृष्ण प्रतिपदाको पूर्वाह्नके समय अमिजित नक्षत्रमें बतलाई है। साथ ही, यह भी बतलाया है कि वह श्रावणका महीना वर्षका पहला महीना था और वह कृष्ण पक्ष वर्षका पहला पक्ष था, जिससे एक बड़े ही महत्त्वका ऐतिहासिक तत्त्व प्रकाशमें आता है, और वह यह कि महावीरके समयमें यहाँ वर्षका आरम्भ श्रावणके महीने तथा कृष्णपक्षसे होता था—विक्रमादि संवत्की तरह किसी दूसरे महीने अथवा शुक्लपक्षसे नहीं होता था। और इससे यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि आजसे कोई ढाई हजार वर्ष पहले—निर्बारा

संवत्से २६ वर्ष ३॥ महीने पूर्व-हमारे इस कृषि-प्रधान देशमें सावनी-आषाढीके विभागरूप फसली साल प्रवृत्त था । तब आजकल फसली सालकी जो सख्या बतलाई जाती और प्रवृत्तिमें आ रही है वह किस आधार पर अवलम्बित है और कहाँ तक ठीक है, यह अवश्य ही एक विचारणीय विषय है, जिस पर विद्वानोको खासतौरसे अनुसन्धान-पूर्वक प्रकाश डालना चाहिये । अस्तु ।

घवल सिद्धान्तमे एक दूसरी गाथा और दी है, जिससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उक्त श्रावण कृष्ण प्रतिपदाका वह पूर्वाह्नका समय सूर्योदयका समय था, अभिजित नक्षत्रका उस समय योग हुआ ही था और रुद्र नामका प्रथम मुहुर्त वर्त रहा था, उसी समयका यह सब योग जो युगकी आदि-युगारम्भका माना जाता है वही वीरशासनकी उत्पत्तिका समझना चाहिये । वह गाथा इस प्रकार है-

सावणबहुलपडिवदे रुद्रमुहुत्ते सुहोदए रविणो ।

अभिजिस्स पढमजोए तत्थ जुगादो मुखेयव्वो ॥

इस तरह श्रावण कृष्ण प्रतिपदाकी तिथि महावीरकी तीर्थ-प्रवर्तन-तिथि, युगारम्भ-तिथि अथवा शासन-तिथि है और इससे उसका महत्त्व स्वतः स्पष्ट है । उस दिन महावीर-शासनके प्रेमियोंको खास तौर पर उक्त शासनकी महत्ताका विचार कर उसके अनुसार अपने आचार-विचारको स्थिर करना चाहिये और लोकमें महावीर-शासनके प्रचारका—महावीर सन्देशको सर्वत्र फैलानेका—भरसक उद्योग करना चाहिये अथवा जो लोग शासन-प्रचारके कार्यमें लगे हो उन्हें सच्चा सहयोग एवं साहाय्य प्रदान करना चाहिये, जिससे वीरशासनका प्रसार होकर लोकमें सुख-शान्ति-मूलक कल्याणकी अभिवृद्धि होवे । आशा है सहृदय बन्धुजन मेरी इस छोटीसी सूचना एवं प्रेरणा पर अवश्य ही ध्यान देनेकी कृपा करेंगे ।

सकाम-धर्मसाधन

लौकिक-फलकी इच्छाओंको लेकर जो धर्मसाधन किया जाता है उसे 'सकाम-धर्मसाधन' कहते हैं और जो धर्म वैसी इच्छाओंको साथमें न लेकर, मात्र आत्मीय-कर्तव्य समझ कर किया जाता है उसका नाम 'निष्काम-धर्मसाधन' है। निष्काम-धर्मसाधन ही वास्तवमें धर्मसाधन है और वही वास्तविक फलको फलता है। सकाम-धर्मसाधन धर्मको विकृत करता है, सद्बोध बनाता है और उससे यथेष्ट धर्म-फलकी प्राप्ति नहीं हो सकती। प्रत्युत इसके, अधर्मकी और कभी कभी घोर-पाप-फलकी भी प्राप्ति होती है। जो लोग धर्मके वास्तविक स्वरूप और उसकी शक्तिसे परिचित नहीं, जिनके अन्दर धैर्य नहीं, श्रद्धा नहीं, जो निर्बल हैं, कमजोर हैं, उतावले हैं और जिन्हें धर्मके फल पर पूरा विश्वास नहीं, ऐसे लोग ही फल-प्राप्तिमें अपनी इच्छाकी टांगे अड़ा कर धर्मको अपना कार्य करने नहीं देते—उसे पगु और बेकार बना देते हैं, और फिर यह कहते हुए नहीं लजाते कि धर्म-साधनसे कुछ भी फलकी प्राप्ति नहीं हुई। ऐसे लोगोंके समाधानार्थ—उन्हें उनकी भूलका परिज्ञान करानेके लिए ही—यह निबन्ध लिखा जाता है, और इसमें आचार्य-वाक्योंके द्वारा ही विषयको स्पष्ट किया जाता है।

श्रीगुरुभद्राचार्य अपने 'आत्मसुखासन' ग्रन्थमें लिखते हैं—

संकल्प्य कल्पवृक्षस्य चिन्त्य चिन्तामणोरपि ।

असंकल्प्यमसचिन्त्यं फल धर्मादिवाप्यते ॥२२॥

‘फलके प्रदानमे कल्पवृक्ष सकल्पकी और चिन्तामणि चिन्ताकी अपेक्षा रखता है--कल्पवृक्ष बिना सकल्प किये और चिन्तामणि बिना चिन्ता किये फल नहीं देता, परन्तु धर्म वैसी कोई अपेक्षा नहीं रखता—वह बिना सकल्प किये और बिना चिन्ता किये ही फल प्रदान करता है ।’

जब धर्म स्वयं ही फल देता है और फल देनेमे कल्पवृक्ष तथा चिन्तामणिकी शक्तिको भी मात (परास्त) करता है, तब फल प्राप्तिके लिए इच्छाएँ करके—निदान बाधकर—अपने आत्माको व्यर्थ ही सक्तेशित और आकुलित करनेकी क्या जरूरत है ? ऐसा करनेसे तो उलटा फल-प्राप्तिके मार्गमे काँटे बोए जाते हैं, क्योंकि इच्छा फल-प्राप्तिका साधन न होकर उसमें बाधक हैं ।

इसमें सदेह नहीं कि धर्म-साधनसे सब सुख प्राप्त होते हैं, परन्तु तभी तो जब धर्मसाधनमें विवेकसे काम लिया जाय । अन्यथा, क्रियाके—बाह्यधर्माचरणके—समान होने पर भी एकको बन्ध फल, दूसरेको मोक्षफल अथवा एकको पुण्यफल और दूसरेको पाप-फल, क्यों मिलता है ? देखिये, कर्मफलकी इस विचित्रताके विषयमें श्रीगुणचन्द्राचार्य ज्ञानार्णवमें क्या लिखते हैं—

यत्र बालरचरस्यस्मिन्पथि तत्रैव पठित ।

बालः स्वमपि बध्नाति मुच्यते तत्त्वविद्ब्रुवम् ॥७२॥

‘जिस मार्ग पर अज्ञानी चलता है उसी पर ज्ञानी । दोनोंका धर्माचरण समान होने पर भी अज्ञानी अविवेकके कारण कर्म बाँधता है और ज्ञानी विवेक-द्वारा कर्म-बन्धनसे छूट जाता है ।’

ज्ञानार्णवके निम्न श्लोकमें भी इसी बातको पुष्ट किया गया है—

वेष्टयत्यात्मनास्मानमज्ञानी कर्मबन्धनः ।

विज्ञानी मोक्षयत्येव ब्रह्मणः समयान्तरे ॥७३॥

इससे विवेक-पूर्वक आचरणका कितना बड़ा माहात्म्य है उसे बतलानेकी अधिक जरूरत नहीं रहती ।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने, अपने प्रवचनसारके चारित्राधिकारमें, इसी विवेकका—सम्यग्ज्ञानका—माहात्म्य वर्णन करते हुए बहुत स्पष्ट शब्दोंमें लिखा है :—

ज अण्णाणी कम्म खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं ।

त णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥३८॥

अर्थात्—अज्ञानी—अविवेकी मनुष्य जिस अथवा जितने ज्ञान-वर्णादिरूप कर्मसमूहको शत-सहस्र-कोटि-भवोंमें—करोड़ों जन्म लेकर—क्षय करता है उस अथवा उतने कर्म-समूहको ज्ञानी-विवेकी मनुष्य मन-वचन-कायकी क्रियाका निरोध कर अथवा उसे स्वाधीन कर स्वरूपमें लीन हुआ उच्छ्वासमात्रमें—लीलामात्रमें—नाश कर डालता है ।

इससे अधिक विवेकका माहात्म्य और क्या हो सकता है ? यह विवेक ही चारित्रको 'सम्यक्चारित्र' बनाता है और ससार-परिभ्रमण एव उसके दुःख-कष्टोंसे मुक्ति दिलाता है । विवेकके बिना चारित्र मिथ्याचारित्र है, कोरा कायक्लेश है और वह ससार-परिभ्रमण तथा दुःख-परम्पराका ही कारण है । इसीसे विवेकपूर्वक अथवा सम्यग्ज्ञानके अनन्तर चारित्रका आराधन बतलाया गया है, जैसा कि श्रीअमृतचन्द्राचार्यके निम्न वाक्यसे प्रगट है,—

न हि सम्यग्व्यपदेश चारित्रमज्ञानपूर्वकं लभते ।

ज्ञानानन्तरमुक्त चारित्राराधनं तस्मात् ॥३८॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

अर्थात्—अज्ञानपूर्वक—विवेकको साथमें न लेकर—दूसरोंकी देखा देखी अथवा कहने-सुनने मात्रसे—जो चारित्रका अनुष्ठान किया जाता है वह 'सम्यक्चारित्र' नाम नहीं पाता—उसे 'सम्यक्चारित्र' नहीं कहते । इसीसे (आगममें) सम्यग्ज्ञानके अनन्तर—विवेक हो

ज्ञाने पर—चारित्रके आराधनका—अनुष्ठानका—निर्देश किया गया है—रत्नत्रयधर्मकी आराधनामें, जो मुक्तिका मार्ग है, चारित्रकी आराधनाका इसी क्रमसे विधान किया गया है ।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने, प्रवचनसारमे, 'चारित्त खलु धम्मो' इत्यादि वाक्यके द्वारा जिस चारित्रको—स्वरूपाचरणको—वस्तु-स्वभाव होनेके कारण धर्म बतलाया है वह भी यही विवेकपूर्वक सम्यक्-चारित्र है, जिसका दूसरा नाम साम्यभाव है और जो मोह-क्षोभ अथवा मिथ्यात्व-राग-द्वेष तथा काम-क्रोधादिरूप विभाबपरिणतिसे रहित आत्माका निज परिणाम होता है' ।

वास्तवमे यह विवेक ही उस भावका जनक होता है जो धर्माचरणका प्राण कहा गया है । बिना भावके तो क्रियाएँ फलदायक होती ही नहीं है । कहा भी है—

यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भावशून्या २ ।

तदनुरूप भावके बिना पूजनादिककी, तप-दान-जपादिककी और यहाँ तक कि दीक्षाग्रहरादिककी सब क्रियाएँ भी ऐसी ही निरर्थक हैं जैसे कि बकरीके गलेके स्तन (धन), अर्थात् जिस प्रकार बकरीके गलेमे लटकते हुए स्तन देखनेमे स्तनाकार होते हैं, परन्तु वे स्तनोका कुछ भी काम नहीं देते—उनसे दूध नहीं निकलता—उसी प्रकार बिना तदनुरूप भावके पूजा-तप-दान-जपादिककी उक्त सब क्रियाएँ भी देखनेकी ही क्रियाएँ होती है, पूजादिकका वास्तविक फल उनसे कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता ३ ।

१ चारित्त खलु धम्मो धम्मो जो समो त्ति णिहिट्ठो ।

मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥ ७ ॥

२. देखो, कल्याणमन्दिरस्तोत्रका 'आकर्णितोऽपि' आदि पद्य ।

३. भावहीनस्य पूजादि-तपोदान-जपादिकम् ।

व्यर्थं दीक्षादिकं च स्यादजाकटे स्तनाविव ॥

ज्ञानी-विवेकी मनुष्य ही यह ठीक जानता है कि किन भावोंसे पुण्य बँधता है—किनसे पाप और किनसे दोनोका बन्ध नहीं होता ? स्वच्छ, शुभ तथा शुद्ध भाव किसे कहते हैं ? और अस्वच्छ, अशुद्ध तथा अशुभ भाव किसका नाम है ? सासारिक विषय-सौख्यकी तृष्णा अथवा तीव्रकषायके वशीभूत होकर जो पुण्य-कर्म करना चाहता है वह वास्तवमे पुण्यकर्मका सम्पादन कर सकता है या कि नहीं ? और ऐसी इच्छा धर्मकी साधक है या बाधक ? वह खूब समझता है कि सकामधर्मसाधन मोह-क्षोभादिसे घिरा रहनेके कारण धर्मकी कोटिसे निकल जाता है, धर्म वस्तुका स्वभाव होता है और इसलिये कोई भी विभाव परिणति धर्मका स्थान नहीं ले सकती । इसीसे वह अपनी धार्मिक क्रियाओंमे तद्रूपभावकी योजना-द्वारा प्राणका संचार करके उन्हें सार्थक और सफल बनाता है । ऐसे ही विवेकी जनोके द्वारा अनुष्ठित धर्मको सब-सुखका कारण बतलाया है । विवेकी पुट बिना अथवा उसके सहयोगके अभावमे मात्र कुछ क्रियाओंके अनुष्ठानका नाम ही धर्म नहीं है । ऐसी क्रियाएँ तो जड़ मशीने भी कर सकती हैं और कुछ करती हुई देखी भी जाती हैं—फोनोग्राफके कितने ही रिकार्ड खूब भक्ति-रसके भरे हुए गाने तथा भजन गाते हैं और शास्त्र पढ़ते हुए भी देखनेमे आते हैं । और भी जड़मशीनोसे आप जो चाहे धर्मकी बाह्य क्रियाएँ करा सकते हैं । इन सब क्रिया-शोको करके जड़मशीने जिस प्रकार धर्मात्मा नहीं बन सकती और न धर्मके फलको ही पा सकती है, उसी प्रकार अविवेकपूर्वक अथवा सम्यग्ज्ञानके बिना धर्मकी कुछ क्रियाएँ कर लेने मात्रसे ही कोई धर्मात्मा नहीं बन जाता और न धर्मके फलको ही पा सकता है । ऐसे अविवेकी मनुष्यो और जड़मशीनोमे कोई विशेष अन्तर नहीं होता—उनकी क्रियाओंको सम्यक्चारित्र्य न कहकर 'यात्रिक चारित्र्य' कहना चाहिये । हाँ, जड़मशीनोकी अपेक्षा ऐसे मनुष्योंमें मिथ्याज्ञान तथा मोहकी विशेषता होनेके कारण वे उसके द्वारा पाप-बन्ध करके अपना

अहित ज़रूर कर लेते हैं—जब कि जड़मशीने वैसा नहीं कर सकती । इसी यात्रिक चारित्रिके भुलावेमें पड़कर हम अक्सर भूले रहते हैं और यह समझते रहते हैं कि हमने धर्मका अनुष्ठान कर लिया । इसी तरह करोड़ों जन्म निकल जाते हैं और करोड़ों वर्षकी बाल-तपस्यासे भी उन कर्मोंका नाश नहीं हो पाता, जिन्हें एक ज्ञानी पुरुष त्रियोगके ससाधन-पूर्वक क्षणमात्रमें नाश कर डालता है ।

इस विषयमें स्वामी कार्तिकेयने, अपने अनुप्रेक्षा ग्रन्थमें, कितना ही प्रकाश डाला है । उसके निम्न वाक्य खास तौरसे ध्यान देने योग्य है :—

कन्म पुण्ण पाव हेऊ तेसिं च होंति सच्छिदरा ।

मदकमाया मच्छा निव्वकसाया असच्छा हु ॥

जीवो वि हवइ पाव अइतिव्वकमायपरिणदो णिच्च ।

जीवो हवेइ पुण्ण उवसमभावेण सजुत्तो ॥

जोअहिलसेदि पुण्णं सकमाओविसयसोकखतएहाए ।

दूरे तस्म विमोही विसोहिमूलाणि पुण्णाणि ॥

पुण्णासएण पुण्णे जदो णिरीहस्स पुण्णसपत्ती ।

इय जाणिऊण जइणो पुण्णे वि म आयरं कुणह ॥

पुण्ण बधदि जीवो मंदकसाएहिं परिणदो सतो ।

तम्हा मदकसाया हेऊ पुण्णस्स एहि वळा ॥

गाथा ६०, १६०, ४१०—४१२

इन गाथाओंमें बतलाया है कि—‘पुण्यकर्मका हेतु स्वच्छ (शुभ) परिणाम है और पापकर्मका हेतु अस्वच्छ (अशुभ या अशुद्ध) परिणाम । मदकषायरूप परिणामोंको स्वच्छ परिणाम और तीव्रकषायरूप परिणामोंको अस्वच्छ परिणाम करते हैं । जो जीव अतितोव्र-कषायसे परिणत होता है, वह पापी होता है और जो उपशमभावसे—कषायकी मंदतासे—युक्त रहता है वह पुण्या-

त्मा कहलाता है। जो जीव कषायभावसे युक्त हुआ विषयसौख्यकी तृष्णासे—इन्द्रियविषयको अधिकाधिक रूपसे प्राप्त करनेकी तीव्र-इच्छासे—पुण्य करना चाहता है—पुण्य क्रियाओंके करनेमें प्रवृत्त होता है—उससे विगुद्धि बहुत दूर रहती है और पुण्य-कर्म विगुद्धिमूलक-चित्तकी शुद्धि पर आधार रखनेवाले होते हैं। अतः उनके द्वारा पुण्यका सम्पादन नहीं हो सकता—वे अपनी उन धर्मके नामसे अभिहित होनेवाली क्रियाओंको करके पुण्य पैदा नहीं कर सकते। चूंकि पुण्यफलकी इच्छा रखकर धर्मक्रियाओंके करनेसे—सकाम-धर्मसाधनसे—पुण्यकी सम्प्राप्ति नहीं होती, बल्कि निष्काम-रूपसे धर्मसाधन करनेवालेके ही पुण्यकी संप्राप्ति होती है, ऐसा जानकर पुण्यमें भी आसक्ति नहीं रखना चाहिए। वास्तवमें जो जीव मदकषायसे परिणत होता है वही पुण्य बाधता है, इसलिये मन्दकषाय ही पुण्यका हेतु है, विषयवाँछा पुण्यका हेतु नहीं—विषयवाँछा अथवा विषयासक्ति तीव्रकषायका लक्षण है और उसका करनेवाला पुण्यसे हाथ धो बैठता है।'

इन वाक्योंसे स्पष्ट है कि जो मनुष्य धर्म-साधनके द्वारा अपने विषय-कषायोंकी पुष्टि एवं पूर्ति चाहता है उसकी कषाय मन्द नहीं होती और न वह धर्मके मार्ग पर स्थिर ही होता है, इसलिए उसके द्वारा वीतराग भगवान्की पूजा-भक्ति-उपासना तथा स्तुतिपाठ, जप-ध्यान, सामायिक, स्वाध्याय, तप, दान और व्रत-उपवासादिरूपसे जो भी धार्मिक क्रियाएँ बनती हैं वे सब उसके आत्मकल्याणके लिए नहीं होती—उन्हें एक प्रकारकी सासारिक दुकानदारी ही समझना चाहिए। ऐसे लोग धार्मिक क्रियाएँ करके भी पाप उपार्जन करते हैं और सुखके स्थानमें उलटा दुःखको निमन्त्रण देते हैं। ऐसे लोगोंकी इस परिणतिको श्रीशुभचन्द्राचार्यने, ज्ञानार्णवग्रन्थके २५ वे प्रकरणमें, निदान-जनित आर्त्तध्यान लिखा है और उसे घोर दुःखोका कारण बतलाया है। यथा.—

पुरायानुष्ठानजातैरभिलषति पद्मं यज्जिनेन्द्रामराणां,
 यद्वा तैरेव वाञ्छत्यहितकुलकुजच्छेदमस्यन्तकोपात् ।
 पूजा-सत्कार-लाभ-प्रभृतिकमथवा याचते यद्विकल्पै
 स्यादात्तं तन्निदानप्रभवमिह नृणां दुःखदावोग्रघाम ॥

अर्थात्—अनेक प्रकारके पुरायानुष्ठानोको-धर्म कृत्योको-करके जो मनुष्य तीर्थकरपद तथा दूसरे देवोंके किमी पदकी इच्छा करता है अथवा कुपित हुआ उन्ही पुरयाचरणोंके द्वारा शत्रुकुल-रूपी वृक्षोंके उच्छेदकी वाँछा करता है, अथवा अनेक विकल्पोके साथ उन धर्म-कृत्योको करके अपनी लौकिक पूजा-प्रतिष्ठा तथा लाभदिकी याचना करता है, उसकी यह सब सकाम-प्रवृत्ति 'निदानज' नामका आर्तध्यान है। ऐसा आर्तध्यान मनुष्योंके लिए दुःख-दावानलका अग्रस्थान होता है—उससे महादुःखोंकी परम्परा चलती है।

वास्तवमे आर्तध्यानका जन्म ही सबलेश-परिणामोसे होता है, जो पापबन्धके कारण है। ज्ञानार्णवके उक्त प्रकरणान्तर्गत निम्न श्लोकमे भी आर्तध्यानको कृष्ण-नील-कापोत ऐसी तीन अशुभ लक्ष्याओंके बल पर ही प्रकट होनेवाला लिखा है और साथ ही यह सूचित किया है कि आर्तध्यान पापरूपी दावानलको प्रज्वालित करनेके लिए ईन्धनके समान है—

कृष्ण-नीलाद्यमल्लेश्याबलेन प्रविजृम्भते ।

इदं दुरितदावाचि प्रसूतेरिन्धनोपमम् ॥४०॥

इसमे स्पष्ट है कि लौकिक फलोकी इच्छा रखकर धर्मसाधन करना धर्माचरणको दूषित और निष्फल ही नहीं बनाता, बल्कि उलटा पापबन्धका कारण भी होता है, और इसलिए हमे इस विषयमे बहुत ही सावधानी रखनेकी जरूरत है। सम्यक्त्वके आठ अंगोंमें निःकाक्षित नामका भी एक अंग है, जिसका वर्णन करते हुए श्रीअ-मितगति आचार्य उपासकाचारके तीसरे परिच्छेदमें साफ लिखते हैं—

बिधीयमानाः शम-शील-संयमाः श्रियं ममेमे वितरन्तु चिन्तिताम् ।
सांसारिकानेकसुखप्रवृद्धिनी निष्काञ्चितो नेति करोति कांक्षाम् ॥७४

अर्थात्—नि काक्षित अंगका धारक सम्यग्दृष्टि इस प्रकारकी वाछा नहीं करता है कि मैंने जो शम, शील और संयमका अनुष्ठान किया है वह सब धर्माचरण मुझे उस मनोवांछित लक्ष्मीको प्रदान करे, जो नानाप्रकारके सासारिक सुखोमे वृद्धि करनेके लिए समर्थ होती है—ऐसी वाछा करनेसे उसका सम्यक्त्व दूषित होता है ।

इसी नि काक्षित सम्यग्दृष्टिका स्वरूप श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने 'सम-यसार' में इस प्रकार दिया है—

जो एा करेदि तु कख कम्मफले तह य सव्वधम्मेषु ।

सो एिक्कखो चेदा सम्मादिट्ठी मुण्येयव्वो ॥ २४८ ॥

अर्थात्—जो धर्मकर्म करके उसके फलकी—इन्द्रिय-विषय-सुखादिकी - इच्छा नहीं रखता है—यह नहीं चाहता है कि मेरे अमुककर्मका मुझे अमुकलौकिक फल मिले—और न उस फलसाधनकी दृष्टिसे नाना प्रकारके पुण्यरूप धर्मोंको ही इष्ट करता है—अपनाता है—और इस तरह निष्कामरूपसे धर्मसाधन करता है, उसे 'नि.काक्षित सम्यग्दृष्टि' समझना चाहिये ।

यहाँपर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि तत्त्वार्थ-सूत्रमे क्षमादि दश धर्मोंके साथमे 'उत्तम' विशेषण लगाया गया है—उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दवादिरूपसे दश धर्मोंका निर्देश किया है। यह विशेषण क्यों लगाया गया है ? इसे स्पष्ट करते हुए श्रीपूज्यपाद आचार्य अपनी 'सर्वार्थ-सिद्धि' टीकासे लिखते हैं—

दृष्टप्रयोजनपरिवर्जनार्थमुत्तमविशेषणम् ।

अर्थात्—लौकिक प्रयोजनको टालनेके लिए 'उत्तम' विशेषणका प्रयोग किया गया है ।

इससे यह विशेषणपद यहाँ 'सम्यक्' शब्दका प्रतिनिधि जान पड़ता है और उसकी उक्त व्याख्यासे स्पष्ट है कि किसी लौकिक

प्रयोजनको लेकर—कोई दुनियावी ग़र्ज साधनेके लिये—यदि क्षमा, मार्दव-आर्जव-सत्य-शौच-सयम-तप-त्याग-आकिंचन्य-ब्रह्मचर्य इन दश धर्मोंमेंसे किसी भी धर्मका अनुष्ठान किया जाता है तो वह अनुष्ठान धर्मकी कोटिसे निकल जाता है। ऐसे सकाम-धर्मसाधनको वास्तवमें धर्मसाधन ही नहीं कहते। धर्मसाधन तो स्वरूपसिद्धि अथवा आत्मविकासके लिये आत्मीय कर्तव्य समझकर किया जाता है, और इसलिये वह निष्काम-धर्मसाधन ही हो सकता है।

इस प्रकार सकामधर्मसाधनके निषेधमें आगमका स्पष्ट विधान और पूज्य आचार्योंकी खुली आज्ञाएँ होते हुए भी खेद है कि हम आज-कल अधिकांशमें सकाम-धर्मसाधनकी ओर ही प्रवृत्त हो रहे हैं। हमारी पूजा-भक्ति उपासना, स्तुति-वन्दना-प्रार्थना, जप तप-दान और सयमादिकका सारा लक्ष लौकिक फलोकी प्राप्ति ही रहता है—कोई उसे करके धन-धान्यकी वृद्धि चाहता है, तो कोई पुत्रकी संप्राप्ति। कोई रोग दूर करनेकी इच्छा रखता है, तो कोई शरीरमें बल लानेकी। कोई मुकद्दमेमें विजय लाभके लिये उसका अनुष्ठान करता है, तो कोई अपने शत्रुको परास्त करनेके लिये। कोई उसके द्वारा किसी ऋद्धि-सिद्धिकी साधनामें व्यग्र है, तो कोई दूसरे लौकिक कार्योंको सफल बनानेकी धुनमें मस्त। कोई इस लोकके सुखोको चाहता है, तो कोई परलोकमें स्वर्गादिकोके सुखोकी अभिलाषा रखता है। और कोई-कोई तो तृष्णाके वशीभूत होकर यहाँ तक अपना विवेक खो बैठता है कि श्रीवीतराग भगवानको भी रिश्वत (भूस) देने लगता है—उनसे कहने लगता है कि हे भगवन्! आपकी कृपासे यदि मेरा अमुक कार्य सिद्ध हो जाएगा तो मैं आपकी पूजा करूँगा, सिद्धचक्रका पाठ थापूँगा, छत्र-चँवरादि भेंट करूँगा, रथ-यात्रा निकलवाऊँगा, गज-रथ चलवाऊँगा अथवा मन्दिर बनवा दूँगा ॥ ये सब धर्मकी विडम्बनाएँ हैं। इस प्रकारकी विडम्बनाओंसे अपनेको धर्मका कोई लाभ नहीं होता और न आत्म-

विकास ही सध सकता है । जो मनुष्य धर्मकी रक्षा करता है — उसके विषयमें विशेष सावधानी रखता हुआ उसे बिडम्बित या कलंकित नहीं होने देता—वही धर्मके वास्तविक फलको पाता है । 'धर्मों रक्षति रक्षित' की नीतिके अनुसार रक्षा किया हुआ धर्म ही उसकी रक्षा करता है और उसके पूर्ण विकासको सिद्ध करता है ।

ऐसी हालतमें सकामधर्मसाधनको हटाने और धर्मकी बिडम्बनाओंको मिटानेके लिये समाजमें पूर्ण आन्दोलन होनेकी जरूरत है, तभी समाज विकसित तथा धर्मके मार्ग पर अग्रसर हो सकेगा तभी उसकी धार्मिक पोल मिटेगी और तभी वह अपनी पूर्व गौरव-गरिमाको प्राप्त कर सकेगा । इसके लिये समाजके सदाचारनिष्ठ एवं धर्म-परायण विद्वानोंको आगे आना चाहिये और ऐसे दूषित धर्माचरणों की युक्ति-पुरस्सर खरी-खरी आलोचना करके समाजको सजग तथा सावधान करते हुए उसे उसकी भूलोका परिज्ञान कराना चाहिये तथा भूलोके सुधारका सातिशय प्रयत्न कराना चाहिये । यह इस समय उनका खास कर्त्तव्य है और बड़ा ही पुण्यकार्य है । ऐसे आन्दोलन-द्वारा सन्मार्ग दिखलानेके लिये समाजके अनेक प्रमुख पत्रोंको अपनाना—उनका उपयोग करना चाहिये ।

सेवा-धर्म

अहिंसाधर्म, दयाधर्म, दशलक्षणधर्म, रत्नत्रयधर्म, सदाचारधर्म, अथवा हिन्दूधर्म, मुसलमानधर्म, ईसाईधर्म, जैनधर्म, बौद्धधर्म इत्यादि धर्मनामोंसे हम बहुत कुछ परिचित हैं, परन्तु 'सेवाधर्म' हमारे लिये अभी तक बहुत ही अपरिचितसा बना हुआ है। हम प्रायः समझते ही नहीं कि सेवाधर्म भी कोई धर्म है अथवा प्रधान धर्म है। कितनों-ने ही तो सेवाधर्मको सर्वथा शूद्रकर्म मान रक्खा है, वे सेवकको गुलाम समझते हैं और गुलामीमें धर्म कहाँ ? इसीसे उनकी उस प्रकारके संस्कारोंमें पली हुई बुद्धि सेवाधर्मको कोई धर्म अथवा महत्वका धर्म माननेके लिये तैय्यार नहीं—वे समझ ही नहीं पाते कि एक भाड़ेके सेवक, अनिच्छापूर्वक मजदूरीसे काम करनेवाले परतन्त्रसेवक और स्वेच्छासे अपना कर्तव्य समझकर सेवाधर्मका अनुष्ठान करनेवाले अथवा लोकसेवामें दत्तचित्त रहनेवाले स्वयंसेवकमें कितना बड़ा अन्तर है। ऐसे लोग सेवाधर्मको शायद किसी नये धर्मकी ही सृष्टि समझते हों, परन्तु ऐसा समझना ठीक नहीं है। वास्तवमें सेवाधर्म सब धर्मोंमें ओत-प्रोत है और सबमें प्रधान है। बिना इस धर्मके सब धर्म निष्प्राण हैं, निःसत्व हैं और उनका कुछ भी मूल्य नहीं है। क्योंकि मन-वचन-कायसे स्वेच्छा एवं विवेकपूर्वक ऐसी क्रियाओंका छोड़ना जो किसीके लिये हानिकारक हो और ऐसी क्रियाओंका

करना जो उपकारक हों 'सेवा-धर्म' कहलाता है ।

'मेरे द्वारा किसी जीवको कष्ट अथवा हानि न पहुँचे, मैं सावध-योगसे विरक्त होता हूँ,' लोकसेवाकी ऐसी भावनाके बिना अहिंसा-धर्म कुछ भी नहीं रहता; और 'मैं दूसरोंका दुःख-कष्ट दूर करनेमें कैसे प्रवृत्त हूँ' इस सेवा-भावनाको यदि दया-धर्मसे निकाल दिया जाय तो फिर वह क्या अवशिष्ट रहेगा ? इसे सहृदय पाठक स्वयं समझ सकते हैं । इसी तरह दूसरे धर्मोंका हाल है । सेवाधर्मकी भावनाको निकाल देनेसे वे सब थोथे और निर्जीव हो जाते हैं । सेवाधर्म ही उन सबमें, अपनी मात्राके अनुसार, प्राणप्रतिष्ठा करने-वाला है । इसलिये सेवाधर्मका महत्व बहुत ही बड़ा चढ़ा है और वह एक प्रकारसे अवर्णनीय है । अहिंसादिक सब धर्म उसके अंग अथवा प्रकार है और वह सबमें व्यापक है । ईश्वरादिककी पूजा-भक्ति अथवा उपासना भी उसीमें शामिल (गमित) है, जो कि अपने पूज्य एवं उपकारी पुरुषोंके प्रति किये जानेवाले अपने कर्तव्यके पालनादि-स्वरूप होती है । इसीसे उसको 'देवसेवा' भी कहा गया है । किसी देव अथवा धर्म-प्रवर्तकके गुणोंका कीर्तन करना, उसके शासनको स्वयं मानना, सदुपदेशको अपने जीवनमें उतारना और शासनका प्रचार करना, यह सब उस देव अथवा धर्म-प्रवर्तककी सेवा है और इसके द्वारा अपनी तथा अन्य प्राणियोंकी जो सेवा होती है वह सब इससे भिन्न दूसरी आत्मसेवा अथवा लोकसेवा है । इस तरह एक सेवामें दूसरी सेवाएँ भी शामिल होती हैं ।

स्वामी ममन्तभद्रने अपने इष्टदेव भगवान् महावीरके विषयमें अपनी सेवाओंका और अपनेको उनकी फलप्राप्तिका जो उल्लेख एक पद्यमें किया है वह पाठकोंके जानने योग्य है और उससे उन्हें देव-सेवाके कुछ प्रकारोंका बोध होगा और साथ ही यह भी मालूम होगा कि सच्चे हृदयसे और पूर्ण तन्मयताके साथ की हुई वीर-प्रभुकी सेवा कैसे उत्तम फलको फलती है । इसीसे उस पद्यको उनके 'स्तुति-

विद्या नामक ग्रन्थ (जिनशतक) से यहाँ उद्धृत किया जाता है —

सुश्रद्धा मम ते मते स्मृतिरपि त्वय्यर्चनं चापि ते

हस्तावंजलये कथाश्रुतिरतः कर्णोऽक्षि संप्रेक्षते ।

सुस्तुत्या व्यसन शिरोनतिपर सेवेदृशी येन ते

तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती तेनैव तेज पते ॥११४॥

इसमे बतलाया है कि—‘हे भगवन् ! आपके मतमे अथवा आपके ही विषयमें मेरी सुश्रद्धा है—अन्धश्रद्धा नहीं—, मेरी स्मृति भी आपको ही अपना विषय बनाये हुए है, मैं पूजन भी आपका ही करता हूँ, मेरे हाथ आपको ही प्रणामाजलि करनेके निमित्त है, मेरे कान आपकी ही गुणकथा सुननेमे लीन रहते हैं, मेरी आँखें आपके ही रूपको देखती है, मुझे जो व्यसन है वह भी आपकी ही सुन्दर स्तुतियों^१ के रचनेका है और मेरा मस्तक भी आपको ही प्रणाम करनेमे तत्पर रहता है, इस प्रकारकी चूँकि मेरी सेवा है—मैं निरन्तर ही आपका इस तरह पर सेवन किया करता हूँ— इसीलिये हे तेज पते ! (केवलज्ञानस्वामिन् ।) मैं तेजस्वी हूँ, सुजन हूँ और सुकृति (पुण्यवान्) हूँ ।’

यहाँ पर किसीको यह न समझ लेना चाहिये कि सेवा तो बड़ो-की-पूज्य पुरुषो एव महात्माओकी-होती है और उसीसे कुछ फल भी मिलता है, छोटो-असमर्थों अथवा दीन-दुखियों आदिकी सेवामें क्या धरा है ? ऐसा समझना भूल होगा । जितने भी बडे, पूज्य, महात्मा अथवा महापुरुष हुए हैं वे सब छोटो, असमर्थों, असहायों एव दीन-दुखियोंकी सेवासे ही हुए हैं—सेवा ही सेवकोको सेव्य बनाती अथवा ऊँचा उठाती है और इसलिये ऐसे महान लोक-सेवकोकी

१. समन्तभद्रकी देवागम युक्त्यनुशासन और स्वर्गभूस्तोत्र नामकी स्तुतियाँ बडे ही महत्वकी एव प्रभावशालिनी है और उनमे सूत्ररूपसे जैनागम अथवा बीरशासन भरा हुआ है ।

सेवा अथवा पूजा-भक्तिका यह अभिप्राय नहीं कि हम उनका कोरा गुणगान किया करे अथवा उनकी ऊपरी (औपचारिक) सेवा-चाकरीमें ही अपनेको लगाये रखें—उन्हें तो अपने व्यक्तित्वके लिये हमारी सेवाकी जरूरत भी नहीं है—कृतकृत्योको उसकी जरूरत भी क्या हो सकती है? इसीसे स्वामी समन्तभद्रने कहा है—‘न पूज्यार्थस्त्वयि वीतरागे’—अर्थात् हे भगवन् ! पूजा-भक्तिसे आपका कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि आप वीतरागी हैं—रागका अश भी आपकी आत्मामें विद्यमान नहीं है, जिसके कारण किसीकी पूजा-सेवासे आप प्रसन्न होते। वास्तवमें ऐसे महान् पुरुषोंकी सेवा-उपासनाका मुख्य उद्देश्य उपकार स्मरण और कृतज्ञता-व्यक्तीकरणके साथ ‘तद्गुणलब्धि’—उनके गुणोंकी संप्राप्ति—होता है। इसी बातको श्रीपूज्यपादाचार्यने, ‘सर्वार्थसिद्धि’ के मंगलाचरण (‘मोक्षमार्गस्य नेतार’ इत्यादि) में, ‘वन्दे तद्गुणलब्धये’ पदके द्वारा व्यक्त किया है। तद्गुणलब्धिके लिये तद्रूप आचरणकी जरूरत है और इसलिये जो तद्गुणलब्धिकी इच्छा करता है वह पहले तद्रूप आचरणको अपनाता है—अपने आराध्यके अनुकूल वर्तन करना अथवा उसके नकशेकदम पर चलना प्रारम्भ करता है। उसके लिये लोकसेवा अनिवार्य हो जाती है—दीनो, दुखितो, पीड़ितो पतितो, असहायो, असमर्थो, अज्ञो और पथभ्रष्टोकी सेवा करना उसका पहला कर्त्तव्यकर्म बन जाता है। जो ऐसा न करके अथवा उक्त ध्येयको सामने न रखकर ईश्वर-परमात्मा या पूज्य महात्माओंकी भक्तिके कोरे गीत गाता है वह या तो दम्भी है या ठग है—अपनेको तथा दूसरोको ठगता है—और या उन जड़ मशीनोकी तरह अविवेकी है जिन्हें अपनी क्रियाओंका कुछ भी रहस्य मालूम नहीं होता। और इसलिये भक्तिके रूपमें उसकी सारी उच्छल-क्रुद तथा जयकारोका—जय-जयके नारोका—कुछ भी मूल्य नहीं है। वे सब दम्भपूर्ण अथवा भावछून्य होनेसे बकरीके गलेमें लटकते हुए स्तनो (धनो) के समान निरर्थक होते हैं—उनका

कुछ भी वास्तविक फल नहीं होता ।

महात्मा गाँधीजीने कई बार ऐसे लोगोको लक्ष्य करके कहा है कि 'वे मेरे मुँह पर थूकें तो अच्छा, जो भारतीय होकर भी स्वदेशी वस्त्र नहीं पहनते और सिरसे पैर तक विदेशी वस्त्रोको धारण किये हुए मेरी जय बोलते है ।' ऐसे लोग जिस प्रकार गाँधीजीके भक्त अथवा सेवक नहीं कहे जाते बल्कि मज्जाक उड़ानेवाले समझे जाते हैं, उसी प्रकार जो लोग अपने पूज्य महापुरुषोके अनुकूल आचरण नहीं करते—अनुकूल आचरणकी भावना तक नहीं रखते—खुशीसे विरुद्धाचरण करते हैं और उस कुत्सित आचरणको करते हुए ही पूज्य पुरुषकी वदनादि क्रिया करते तथा जय बोलते है, उन्हें उस महापुरुषका सेवक अथवा उपासक नहीं कहा जा सकता—वे भी उस पूज्य व्यक्तिका उपहास करने-करानेवाले ही होते हैं, अथवा यह कहना होगा कि वे अपने उस आचरणके लिए जड़ मशीनोकी तरह स्वाधीन नहीं हैं और ऐसे पराधीनोका कोई धर्म नहीं होता । सेवा-धर्मके लिये स्वेच्छापूर्वक कार्यका होना आवश्यक है, क्योंकि स्व-परहित-साधनकी दृष्टिसे स्वेच्छापूर्वक अपना कर्तव्य समझकर जो निष्काम-कर्म अथवा कर्म त्याग किया जाता है वह सच्चा सेवाधर्म है ।

जब पूज्य महात्माओकी सेवाके लिये गरीबोकी-दीन-दुखियोकी, पीड़ितो-पतितोकी, असहायो-असमर्थोंकी, अज्ञो और पथभ्रष्टोकी सेवा अनिवार्य है—उस सेवाका प्रधान अंग है, विना इसके वह बनती ही नहीं—तब यह नहीं कहा जा सकता और न कहना उचित ही होगा कि "छोटों-असमर्थों अथवा दीन-दुखियो आदिकी सेवामे क्या घरा है ?" यह सेवा तो अहकारादि दोषोको दूर करके आत्माको ऊँचा उठानेवाली है, तद्गुण-लब्धि के उद्देश्यको पूरा करनेवाली है और हर तरह आत्मविकासमें सहायक है, इसलिये परमधर्म है और सेवाधर्मका प्रधान अंग है । जिस धर्मके अनुष्ठानसे अपना कुछ भी आत्मलाभ न होता हो वह तो वास्तवमें धर्म ही नहीं है ।

इसके सिवाय, अनादिकालसे हम निर्बल, असहाय, दीन, दुःखित पतित, मार्गच्युत और अज्ञ-जैसी अवस्थाओंमें ही अधिकतर रहे हैं और उन अवस्थाओंमें हमने दूसरोंकी खूब सेवाएं ली हैं तथा सेवा-सहायताकी प्राप्तिके लिये निरन्तर भावनाएं भी की हैं, और इस-लिये उन अवस्थाओंमें पड़े हुए अथवा उनसे गुजरनेवाले प्राणियोंकी सेवा करना हमारा और भी ज्यादा कर्तव्यकर्म है, जिसके पालनके लिये हमें अपनी शक्तिको ज़रा भी नहीं छिपाना चाहिये — उसमें जी चुराना अथवा आना-कानी करने जैसी कोई बात न होनी चाहिये । इसीको यथाशक्ति कर्तव्यका पालन कहते हैं ।

एक बच्चा पैदा होते ही कितना निर्बल और असहाय होता है और अपनी समस्त आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये कितना अधिक दूसरो पर निर्भर रहता अथवा आधार रखता है । दूसरे जन उसकी खिलाने-पिलाने, उठाने-बिठाने, लिटाने-सुलाने, ओढ़ने-बिछाने, दिल-बहलाने, सर्दी-गर्मी आदिसे रक्षा करने और शिक्षा देने-दिलानेकी जो सेवाएं करते हैं वे सब उसके लिये प्राणादानके समान हैं । समर्थ होने पर यदि वह उन सेवाओंको भूल जाता है और घमडमें आकर अपने उन उपकारी सेवकोंकी—माता-पितादिकोंकी—सेवा नहीं करता — उनका तिरस्कार तक करने लगता है तो समझना चाहिये कि वह पतनकी ओर जा रहा है । ऐसे लोगोंको ससारमें कृतघ्न, गुणमेट और अहसानफरामोश जैसे दुर्नामों से पुकारा जाता है । कृतघ्नता अथवा दूसरोंके किये हुए उपकारों और ली हुई सेवाओंको भूल जाना बहुत बड़ा अपराध है और वह विश्वासघातादिकी तरह ऐसा बड़ा पाप है कि उसके भारसे पृथ्वी भी काँपती है । किसी कविने ठीक कहा है —

करै विश्वासघात जो कोय, कीया कृतको बिसरै जोय ।

आपद् पड़े भिन्न परिहरै, तासु भार धरणी धरहरै ॥

ऐसे ही पापोंका भार बढ़ जानेसे पृथ्वी अक्सर डोला करती

है—भूकम्प आया करते हैं। और इसीसे जो साधु पुरुष—भले आदमी—होते हैं वे दूसरोके किये हुए उपकारो अथवा ली हुई सेवा-ओको कभी भूलते नहीं हैं—‘न हि कृतमुपकार साधवो विस्मरन्ति’—बदलेमे अपने उपकारियोकी अथवा उनके आदर्शानुसार दूसरोकी सेवा करके ऋणमुक्त होते रहते हैं। उनका सिद्धान्त तो ‘परोप-काराय सता विभूतयः’ की नीतिका अनुसरण करते हुए प्रायः यह होता है —

उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः ?

अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते ॥

अर्थात्—अपने उपकारियोके प्रति जो साधुताका—प्रत्युपकारा-दिरूप सेवाका—व्यवहार करता है उसके उस साधुपनमे कौन बड़ाईकी बात है ?—ऐसा करना तो साधारण—जनोचित मामूली-सी बात है। सत्पुरुषोंने उसे सच्चा साधु बतलाया है जो अपना अप-कार एव बुरा करनेवालोके प्रति भी साधुताका व्यवहार करता है—उनकी सेवा करके उनके आत्मासे शत्रुताके विषको ही निकाल देना अपना कर्तव्य समझता है।

ऐसे साधुपुरुषोकी दृष्टिमे उपकारी, अनुपकारी और अपकारी प्रायः सभी समान होते हैं। उनकी विश्वबन्धुत्वकी भावनामे किसी-का अपकार या अप्रिय आचरण कोई बाधा नहीं डालता। ‘अप्रियमपि कुर्वीणो यः प्रियं प्रिय एव स’ इस उदार भावनासे उनका आत्मा सदा ऊँचा उठा रहता है। वे तो सेवाधर्मके अनुष्ठान-द्वारा अपना विकास सिद्ध किया करते हैं, और इसीसे सेवाधर्मके पालनमें सब प्रकारसे दत्तचित्त होना अपना परम कर्तव्य समझते हैं।

वास्तवमें, पैदा होते ही जहाँ हम दूसरोसे सेवाएँ लेकर उनके ऋणी बनते हैं वहाँ कुछ समर्थ होने पर अपनी भोगोपभोगकी सामग्री जुटानेमें, अपनी मान-मर्यादाकी रक्षामें, अपनी कषायोको पुष्ट करनेमें और अपने महत्व या प्रभुत्वको दूसरों पर स्थापित

करनेकी धुनमें अपराध भी कुछ कम नहीं करते हैं। इस तरह हमारा आत्मा परकृत-उपकार-भार और स्वकृत-अपराध-भारसे बराबर दबा रहता है। इन भारोंके हलका होनेके साथ साथ ही आत्मके विकासका सम्बन्ध है। लोकसेवासे यह भार हलका होकर आत्म-विकासकी सिद्धि होती है। इसीसे सेवाको परमधर्म कहा गया है और वह इतना परम-गहन है कि कभी-कभी तो योगियोंके द्वारा भी अगम्य हो जाता है—उनकी बुद्धि चकरा जाती है, वे भी उसके सामने घुटने टेक देते हैं और गहरी समाधिमें उतर कर उसके रहस्य को खोजनेका प्रयत्न करते हैं। लोकसेवाके लिये अपना सर्वस्व अर्पण कर देने पर भी उन्हें बहुधा यह कहते हुए सुनते हैं—

“हा दुष्ट कर्म ! हा दुष्ट भासिय ! चित्ति च हा दुष्ट !

अतो अतो ह्यङ्गमि पञ्चत्तावेण वेयंतो ॥”

मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिमें जहाँ थोड़ीसा भी प्रमत्तता, असावधानी अथवा त्रुटि लोकहितके विरुद्ध दीख पड़ती है वहाँ उसी समय उक्त प्रकारके उद्गार उनके मुँहसे निकल पड़ते हैं और वे उनके द्वारा पश्चात्ताप करते हुए अपने सूक्ष्म अपराधोंका भी नित्य प्रायश्चित्त किया करते हैं। इसीसे यह प्रसिद्ध है कि—

‘सेवाधर्म’ परमगहना योगिनामप्यगम्य ।”

सेवाधर्मकी साधनामें, नि सन्देह, बड़ी सावधानीकी जरूरत है और उसके लिये बहुत कुछ आत्मबलि—अपने लौकिक स्वार्थोंकी आहुति—देनी पड़ती है। पूर्णसावधानी ही पूर्णसिद्धि की जननी है, धर्मकी पूर्णसिद्धि ही पूर्ण आत्मविकासके लिये गारंटी है और यह आत्मविकास ही सेवाधर्मका प्रधान लक्ष्य है, उद्देश्य है अथवा ध्येय है।

मनुष्यका लक्ष्य जब तक शुद्ध नहीं होता तब तक सेवाधर्म उसे कुछ कठिन और कष्टकर जरूर प्रतीत होता है, वह सेवा करके अपना अहसास जताता है, प्रतिस्वेदकी—प्रत्युपकारकी—वाँछा करता है अथवा अपनी तथा दूसरोंकी सेवाकी मापतौल किया करता

है और जब उसकी मापतील ठीक नहीं उतरती—अपनी सेवासे दूसरोकी सेवा कम जान पड़ती है—अथवा उसकी वह वाछा ही पूरी नहीं होती और न दूसरा प्रादमी उसका अहसान ही मानता है, तो वह एकदम झु झला उठता है, खेदखिन्न होता है दुःख मानता है, सेवा करना छोड़ देता है और अनेक प्रकारके राग द्वेषोका शिकार बनकर अपनी आत्माका हनन करता है। प्रत्युत इसके, लक्ष्यशुद्धिके होते ही यह सब कुछ भी नहीं होता, सेवाधर्म एकदम सुगम और सुखसाध्य बन जाता है, उसके करनेमें आनन्द ही आनन्द आने लगता है और उत्साह इतना बढ़ जाता है कि उसके फलस्वरूप लौकिक स्वार्थोंकी सहजमें ही बलि चढ़ जाती है तथा जग भी कष्ट-बोध होने नहीं पाता। इस दशामे जो कुछ भी किया जाता है अपना कर्तव्य समझकर खुशीसे किया जाता है और उसके साथमें प्रतिसेवा, प्रत्युपकार अथवा अपने आदर-सत्कार या अहंकारकी कोई भावना न रहनेसे भविष्यमें दुःख, उद्वेग तथा कषाय-भावोंकी उत्पत्तिका कोई कारण ही नहीं रहता, और इसलिये सहजमें ही आत्मविकास सध जाता है। ऐसे लोग यदि किसीको दान भी करते हैं तो नीचे नयन करके करते हैं। किसीने पूछा 'आप ऐसा क्यों करते हैं?' तो वे उत्तर देते हैं —

“देनेवाला और है, मैं समर्थ नहीं देन।

लोग भ्रम मो करत हैं, याने नीचे नैन ॥”

अर्थात्—देनेवाला कोई और ही है और वह इसका भाग्योदय है—मैं खुद कुछ भी देनेके लिये समर्थ नहीं हूँ। यदि मैं दाता होता तो इसे पहले से क्यों न देता? लोग भ्रमवश मुझे व्यर्थ ही दाता समझते हैं, इससे मुझे शरम आती है और मैं नीचे नयन किये रहता हूँ। देखिये, कितना ऊँचा भाव है। आत्मविकासको अपना लक्ष्य बनानेवाले मानवोंकी ऐसी ही परिणति होती है। अस्तु।

लक्ष्यशुद्धिके साथ इस सेवाधर्मका अनुष्ठान हर कोई अपनी

शक्तिके अनुसार कर सकता है। नौकर अपनी नौकरी, दुकानदार दुकानदारी, वकील वकालत, मुस्तार मुस्तारकारी, मुहरिर मुहरिरी, ठेकेदार ठेकेदारी, ओहदेदार ओहदेदारी, डाक्टर डाक्टरी, हकीम हिकमत, वैद्य वैद्यक, शिल्पकार शिल्पकारी, किसान खेती तथा दूसरे पेशेवर अपने-अपने उस पेशेका कार्य और मजदूर अपनी मजदूरी करता हुआ उसीमेसे सेवाका मार्ग निकल सकता है। सबके कार्योंमें सेवाधर्मके लिये यथेष्ट अवकाश है—गु जाइश है।

सेवाधर्मके प्रकार और मार्ग

अब मैं संक्षेपमे यह बतलाना चाहता हूँ कि सेवा-धर्म कितने प्रकारका है और उसके मुख्य मार्ग कौन-कौन हैं। सेवा धर्मके मुख्य भेद दो है—एक क्रियात्मक और दूसरा अक्रियात्मक। क्रियात्मकको प्रवृत्तिरूप तथा अक्रियात्मकको निवृत्तिरूप सेवाधर्म कहते हैं। यह दोनों प्रकारका सेवाधर्म मन, वचन तथा कायके द्वारा चरितार्थ होता है, इसलिये सेवाके मुख्य मार्ग मानसिक, वाचिक और कायिक ऐसे तीन ही हैं—घनादिकका सम्बन्ध कायके साथ होनेसे वह भी कायिकमे ही शामिल है। इन्ही तीनों मार्गोंसे सेवाधर्म अपने कार्यमे परिणत किया जाता है और उसमें आत्म-विकासके लिये सहायक सारे ही धर्म-समूहका समावेश हो जाता है।

निवृत्तिरूप सेवाधर्ममे अहिंसा प्रधान है। उसमे हिंसारूप क्रियाका—सावद्य-कर्मका—अथवा प्राणव्यपरोपणमें कारणीभूत मन-वचन-कायकी प्रमत्तावस्थाका तथा सकल्पका त्याग किया जाता है। मन-वचन-कायकी इन्द्रिय-विषयोमे स्वेच्छा-प्रवृत्तिका भले प्रकार निरोधरूप 'गुप्ति', गमनादिकमें प्राणि-पीडाके परिहाररूप 'समिति', क्रोधकी अनुत्पत्तिरूप 'क्षमा', मानके अभावरूप 'मार्दव', माया अथवा योगवक्रताकी निवृत्तिरूप 'आर्जव', लोभके परित्यागरूप 'शौच', अप्रशस्त एव असाधु वचनोंके त्यागरूप 'सत्य', प्राणव्यपरोपण और

इन्द्रिय-विषयोंके परिहाररूप 'संयम', इच्छानिरोधरूप 'तप', दुष्ट-विकल्पोंके संत्याग अथवा आहारार्थक देय-पदार्थोंमेंसे ममत्वके परिवर्जनरूप 'त्याग', बाह्य पदार्थोंमें मूर्च्छाके अभावरूप 'आकिंचिन्य', अन्न आथवा मैथुनकर्मकी निवृत्तिरूप 'ब्रह्मचर्य' (ऐसे 'दशलक्षणधर्म'), क्षुधादि-वेदनाओंके उत्पन्न होने पर चित्तमें उद्वेग तथा अशान्तिको न होने देने रूप 'परिषहजय', रागद्वेषादि-विषमताओंकी निवृत्तिरूप 'सामायिक' और कर्म-ग्रहणकी कारणीभूत-क्रियाओंसे विरक्तिरूप 'चारित्र्य', ये सब भी निवृत्तिरूप सेवाधर्मके ही अंग हैं, जिनमेंसे कुछ 'हिंसा' और कुछ 'हिंसेतर' क्रियाओंके निषेधको लिये हुए हैं।

इस निवृत्ति-प्रधानसे वाधर्मके अनुष्ठानके लिए किसी भी कौड़ी-पैसेकी पासमें जरूरत नहीं है। इसमें तो अपने मन-वचन-कायकी कितनी ही क्रियाओं तकको रोकना होता है - उनका भी व्यय नहीं किया जाता। हाँ, इस धर्म पर चलनेके लिये नीचे लिखा गुरुमंत्र बड़ा ही उपयोगी है—अच्छा मार्गदर्शक है —

“आत्मनः प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत् ।”

‘जो जो बातें, क्रियाएँ, चेष्टाएँ तुम्हारे प्रतिकूल हैं—जिनके दूसरों-द्वारा किए हुए व्यवहारको तुम अपने लिये पसंद नहीं करते, अहितकर और दुखदाई समझते हो—उनका आचरण तुम दूसरोंके प्रति मत करो।’

यही पापीसे बचनेका गुरुमंत्र है। इसमें सकेतरूपसे जो कुछ कहा गया है व्याख्या-द्वारा उसे बहुत कुछ विस्तृत तथा पल्लवित करके बतलाया जा सकता है।

प्रवृत्तिरूप सेवाधर्ममें ‘दया’ प्रधान है। दूसरोंके दुःखो-कष्टोंका अनुभव करके—उनसे द्रवीभूत होकर—उनके दूर करनेके लिए मन-कचन-कर्मकी जो प्रवृत्ति है—व्यापार है—उसका नाम ‘दया’ है। अहिंसाधर्मका अनुष्ठाता जहाँ अपनी ओरसे किसीको दुःख-कष्ट नहीं पहुँचाता, वहाँ दयाधर्मका अनुष्ठाता दूसरोंके द्वारा पहुँचाए

गये दुःख-कष्टोंको भी दूर करनेका प्रयत्न करता है। यही दोनोंमें प्रधान अन्तर है। अहिंसा यदि सुन्दर पुष्प है तो दयाको उसकी सुगंध समझना चाहिए।

दयामे सक्रिय परोपकार, दान, वैयावृत्य, धर्मोपदेश और दूसरोंके कल्याणकी भावनाएँ शामिल हैं। अज्ञानसे पीड़ित जनताके हितार्थ विद्यालय-पाठशालाएँ खोलवाना, पुस्तकालय-वाचनालय स्थापित करना, रिसर्व इन्स्टीट्यूटोंका—अनुसन्धान प्रधान संस्थाओंका—जारी कराना, वैज्ञानिक खोजोंको प्रोत्तेजन देना तथा ग्रन्थ-निर्माण और व्याख्यानादिके द्वारा अज्ञानान्धकारको दूर करनेका प्रयत्न करना, रोगसे पीड़ित प्राणियोंके लिए औषधालयों-चिकित्सालयोंकी व्यवस्था करना, बेरोजगारी अथवा भूखसे सतप्त मनुष्योंके लिए रोजगार-धन्धेका प्रबन्ध करके उनके रोटीके सवालको हल करना और कुरीतियों, कुसस्कारों तथा बुरी आदतोंसे जर्जरित एवं पतनोन्मुख मनुष्य-समाजके सुधारार्थ सभा-सोसाइटियोंका कायम करना और उन्हें व्यवस्थितरूपसे चलाना, ये सब उसी दया-प्रधान प्रवृत्तिरूप सेवाधर्मके अङ्ग हैं। पूज्योंकी पूजा-भक्ति-उपासनाके द्वारा अथवा भक्तियोग-पूर्वक जो अपने आत्माका उत्कर्ष सिद्ध किया जाता है वह सब भी मुख्यतया प्रवृत्तिरूप सेवाधर्मका अङ्ग है।

इस प्रवृत्तिरूप सेवाधर्ममें भी जहाँ तक अपने मन, वचन और कायसे सेवाका सम्बन्ध है वहाँ तक किसी कीढ़ी-पैसेकी जरूरत नहीं पड़ती—जहाँ सेवाके लिए दूसरे साधनोंसे काम लिया जाता है वहाँ ही उसकी जरूरत पड़ती है। और इस तरह यह स्पष्ट है कि अधिकांश सेवाधर्मके अनुष्ठानके लिए मनुष्यको टके-पैसेकी जरूरत नहीं है। जरूरत है अपनी चित्तवृत्ति और लक्ष्यको शुद्ध करनेकी, जिसके बिना सेवाधर्म बनता ही नहीं।

इस प्रकार सेवाधर्मका यह सक्षिप्तरूप, विवेचन अथवा दिग्दर्शन है, जिसमे सब धर्मोंका समावेश हो जाता है।

होलीका त्यौहार और उसका सुधार

भारतके त्यौहारोंमें होली भी एक देश-व्यापी मुख्य त्यौहार है । अनेक धर्म-समाजोंमें इसकी जो कथाएँ प्रचलित हैं वे अपनी अपनी साम्प्रदायिक दृष्टिको लेकर भिन्न भिन्न पाई जाती हैं । यहाँ पर उन सबके विचारका अवसर नहीं है । होलीकी कथाका मूलरूप कुछ भी क्यों न रहा हो, परन्तु यह त्यौहार अपने स्वरूपपरसे समता और स्वतंत्रताका एक प्रतीक जान पड़ता है, अथवा इसे सार्वजनिक हँसी-खुशी एवं प्रसन्न रहनेके अभ्यासका देशव्यापी सक्रिय-अनुष्ठान कहना चाहिये ।

इस अवसर पर हर एकको बोलने, मनका भाव व्यक्त करने, स्वाग-तमाशो तथा नृत्य-गानादिके रूपमें यथेष्ट चेष्टाएँ करने, आनन्द मनाने और मानाऽपमानका खयाल छोड़कर—बड़ाई-छोटाई अथवा ऊँचता-नीचताकी कल्पना-जन्य व्यर्थका सकोच त्यागकर—एक दूसरे-के सम्पर्कमें आनेकी स्वतंत्रता होती है । साथ ही, किसीके भी रग डालने, धूल उड़ाने, हँसी-मजाक करने तथा अप्रिय चेष्टाएँ करने आदिको स्वेच्छापूर्वक खुशीसे सहन किया जाता है—अपनी तोहीन (मानहानि) आदि समझकर उस पर क्रोधका भाव नहीं लाया जाता, न अपनी पीजीशनके बिगड़नेका कोई खयाल ही सताता है, और यो एक प्रकारसे समता-सहनशीलताका अभ्यास किया जाता

है। अथवा यो कहिये कि इसके द्वारा राष्ट्रके लिये विघातक ऐसे राग-द्वेषादि-मूलक अनुचित भेद-भावोको कुछ समयके लिये भुलाया जाता है—उन्हे भुलाने तथा जलाने तकका उपक्रम एव प्रदर्शन किया जाता है—और इस तरह राष्ट्रीय एकताको बनाये रखने अथवा राष्ट्रीय-समुत्थानके मार्गको साफ करनेका यह भी एक कदम अथवा ढग होता है। 'होलीकी कोई दाद-फर्याद नहीं' यह लोकोक्ति भी इसी भावको पुष्ट करती है, और इसलिये इस त्यौहारको अपने असली रूपमें समता और स्वतंत्रताका रूपक ही नहीं, किन्तु एक प्रतीक कहना ज्यादा अच्छा मालूम होता है।

समय भी इसके लिये अच्छा चुना गया है, जो कि वसन्त ऋतु-का मध्यकाल होनेसे प्रकृतिके विकासका यौवन-काल है। प्रकृतिके इस विकाससे पदार्थ-पाठ लेकर हमें उसके साथ साथ अपने देश-राष्ट्र एव आत्माका विकास अथवा उत्थान सिद्ध करना ही चाहिये। उसी-के प्रयत्न-स्वरूप—उसी लक्ष्यको सामने रखकर—यह त्यौहार मनाया जाता था, और तब इसका मनाना बड़ा ही सुन्दर जान पड़ता था। परन्तु खेद है कि आज वह बात नहीं रही। उसका वह लक्ष्य और उद्देश्य ही नहीं रहा जो उसके मूलमें काम करता था। उसके पीछे जो शुभ भावनाएँ दृष्टिगोचर होती थी और जिन्हे लेकर ही वह लोकमें प्रतिष्ठित हुआ था उन सबका आज अभाव है ॥ आज तो यह त्यौहार इन्द्रिय-वृत्तियोंको पुष्ट करनेका आधार अथवा चित्तकी जघन्य वृत्तियोंको प्रोत्तेजन देनेका साधन बना हुआ है, जो कि व्यक्ति और राष्ट्र दोनोंके पतनका कारण है और त्यौहारके रूपमें उसका कोई भी महान ध्येय सामने नहीं है। इसीसे होलीका वर्तमानरूप विकृत कहा जाता है, उसमें प्राण न होनेसे वह देशके लिये भाररूप है और इसलिये उसे उसके वर्तमान रूपमें मनाना उचित नहीं है। उसमें शरीक होना उसके विकृत-रूपको पुष्ट करना है।

वर्ष समता और स्वतंत्रताके सिद्धान्तपर अवलम्बित राष्ट्रीय-एकता आदिकी दृष्टिसे, चित्तकी शुद्धिको कायम रखते हुए, यह त्यौहार अपने शुद्धस्वरूपमें मनाया जाय और उससे जनताको उदारता एवं सहनशीलतादिका सक्रिय-सजीव-पाठ पढाया जाय तो इसके द्वारा देशका बहुत कुछ हित-साधन हो सकता है और वह अपने उत्थान एवं कल्याणके मार्गपर लग सकता है।

इसके लिये जरूरत है कांग्रेस-जैसी राष्ट्रीय सस्थाके आगे आने की और इसके शरीरमें घुसे हुए विकारोको दूर करके उसमें फिरसे नई प्राण-प्रतिष्ठा करनेकी। यदि कांग्रेस इस त्यौहारको हिन्दूधर्मकी दलदलसे निकाल कर विशुद्ध राष्ट्रीयताका रूप दे सके, एक राष्ट्रीय सप्ताह आदिके रूपमें इसके मनानेका विशाल आयोजन कर सके और मनानेके लिये ऐसी मर्यादाएँ स्थिर करके दृढताके साथ उनका पालन करानेमें समर्थ हो सके जिनसे अभ्यासादिके बश कोई भी किसीका अनिष्ट न कर सके और जो व्यक्ति तथा राष्ट्र दोनोंके उत्थानमें सहायक हो, तो वह इस बहाने समता और स्वतंत्रताका अच्छा वातावरण पैदा करके देशका बहुत कुछ हित-साधन कर सकेगी और सच्चे स्वराज्यको बहुत निकट ला सकेगी। यदि कांग्रेस ऐसा करनेके लिये तैयार न हो तो फिर हिन्दू-महासभादि देशकी दूसरी सस्थाओं तथा ग्राम-पंचायतोंको इस त्यौहारके सुधारका भारी प्रयत्न करना चाहिये।

क्या ही अच्छा हो यदि देशके प्रमुख-विद्वान, समाज-सेवक, नेता, मंत्रीगण और पंचजन इस त्यौहारके सुधार-विषयमें अपने अपने विचार प्रकट करनेकी कृपा करें और सुधार-विषयक अपनी अपनी योजनाएँ राष्ट्रके सामने रखकर उसे सुधारके लिये प्रेरित करें।

होली-पर्वके सुधार-विषयमें मेरी दस-सूत्री योजना इस प्रकार है —

(१) इस पर्वके दिन अशुभ राग तथा द्वेष-मूलक कार्य न किये

बाने चाहिये । ऐसी कोशिश होनी चाहिये कि हम अपने कामों तथा चेष्टाओंके दूसरोंको कितना प्रसन्न, प्रसुद्धित अथवा आनंदित कर सकते हैं ।

(२) ऐसे किसी भी पदार्थका रंगादिके रूपमें प्रयोग न करना चाहिये जो दूसरोंके स्वास्थ्यमें बाधक हो अथवा भारी-अर्चकका विषय हो, जैसे नालियोक, चोडा-कीचड, गन्दा पानी, गोबर, तार-कोम, वानिश्च रोगन, स्पाही तथा दूसरे भद्दे और पक्के रंग ।

(३) रंगोंमें प्रायः केसरिया, गुलाबी, टेसू जैसे हल्के सुन्दर तथा कच्चे रंगोंका और गुलाम, अबीर तथा रोली-जैसे कोमल पदार्थोंका प्रयोग होना चाहिये ।

(४) किसी अपरिचित व्यक्ति या ऐसे व्यक्ति पर जो होलीके आपके आनन्दमें शरीक होना नहीं चाहता—साफ इनकार कर रहा है—जबरन रंग डालना या मलना न चाहिये, खासकर ऐसे पैदल या कि सवारी पर जाते हुए यात्रियों पर जो पहलेसे होलीके रंगमें रगे हुए भी नहो ।

(५) गालिया बकना, अश्लील गीत गाना, भद्दे मजाक और असभ्यतामूलक कुचेष्टाएँ न होनी चाहिये, जो सब अशुभ रागकी घोटक हैं । उनके स्थान पर अच्छे शिक्षाप्रद तथा मार्गलिक लोक-गीतोंको अपनाना चाहिये ।

(६) सबको इस दिन जाति-पाति, ऊँच-नीच और स्पृश्य-अस्पृश्यके असद्भेदभावको भुलाकर बिना किसी सकोचके परस्परमें मिल बैठकर पर्वके समता कार्यको सम्पन्न करना चाहिए ।

(७) होलीके दिन मदिरा तथा दूसरे ऐसे मादक पदार्थोंका सेवन न किया जाना चाहिये जिससे हम अपना विवेक खो बैठे ।

(८) होलिका-दहनको दोष-दहनका रूप दिया जाना चाहिये । वर्षभरके अपने दोषों, वैर-बिरोधों तथा बुराईयोंको स्थिर न रखकर उन्हें संकल्पपूर्वक त्याग देना अथवा कागज-काष्ठादि पर लिख

कर होलिकाग्निमें उनकी आहुति दे देनी चाहिये और फिर स्वच्छ-हृदयसे प्रेमपूर्वक एक दूसरेसे मिलना चाहिये। ऐसी होली घर-घर जलाई जा सकती है।

(९) किसीका भी कोई काष्ठ, इधन आदि बिना उसकी इजाजतके चोरीसे या जबरन न लेना चाहिये। इस प्रकारसे ग्रहण किया हुआ पदार्थ होलिकाग्नि को दूषित करता है।

(१०) इस पर्वकी आडमे किसीको भी अपनी पुरानी दुश्मनी निकालने या बदला लेनेकी भावनासे अथवा किसीका अनिष्ट करनेकी दृष्टिसे कोई काम न करना चाहिये। ऐसे सब काम द्वेष-मूलक कार्योंमें शामिल हैं, जो पर्वकी पवित्रताको नष्ट करते हैं।

३०

स्व-पर-वैरी कौन ?

स्व-पर-वैरी—अपना और दूसरोका शत्रु—कौन ? इस प्रश्न-का उत्तर ससारमें अनेक प्रकारसे दिया जाता है और दिया जा सकता है । उदाहरणके लिये—

१ स्वपरवैरी वह है जो अपने बालकोको शिक्षा नहीं देता, जिससे उनका जीवन खराब होता है, और उनके जीवनकी खराबी-से उसको भी दुःख-कष्ट उठाना पड़ता है, अपमान-तिरस्कार भोगना पड़ता है और सत्सततिके लाभोसे भी वंचित रहना होता है ।

२ स्वपरवैरी वह है जो अपने बच्चोकी छोटी उम्रमें शादी करता है, जिससे उनकी शिक्षामे बाधा पड़ती है और वे सदा ही दुर्बल, रोगी तथा पुरुषार्थहीन—उत्साहविहीन बने रहते हैं अथवा अकालमें ही कालके गालमें चले जाते हैं । और उनकी इन अवस्था-ओसे उसको भी बराबर दुःख-कष्ट भोगना पड़ता है ।

३ स्वपरवैरी वह है जो धनका ठीक साधन पासमें न होने पर भी प्रमादादिके वशीभूत हुआ रोजगार-धधा छोड़ बैठता है — कुटुम्बके प्रति अपनी जिम्मेदारीको भुलाकर आजीविकाके लिये कोई पुरुषार्थ नहीं करता, और इस तरह अपनेको चिन्ताओमें डालकर दुःखित रखता है और अपने आश्रितजनों—बालबच्चों आदिको भी,

उनकी आवश्यकताएँ पूरी न करके, संकटमें डालता तथा कष्ट पहुँचाता है ।

४ स्वपरवैरी वह है जो हिमा, भूठ, चोरी, कुशीलादि दुष्कर्म करता है, क्योंकि ऐसे आचरणोंके द्वारा वह दूसरोंको ही कष्ट तथा हानि नहीं पहुँचाता बल्कि अपने आत्माको भी पतित करता है और पापोंसे बाँधता है, जिनका दुखदाई अशुभ फल उसे इसी जन्म अथवा अगले जन्ममें भोगना पड़ता है।

इसी तरहके और भी बहुतसे उदाहरण दिये जा सकते हैं । परन्तु स्वामी समन्तमद्र इस प्रश्न पर एक दूसरे ही ढंगसे विचार करते हैं और वह ऐसा व्यापक विचार है जिसमें दूसरे सब विचार समा जाते हैं । आपकी दृष्टिमें वे सभी जन स्व-पर-वैरी है जो 'एकान्तग्रहरक्त' है (एकान्तग्रहरक्ता स्वपरवैरिण) । अर्थात् जो लोग एकान्तके ग्रहणमें आसक्त हैं — सर्वथा एकान्तपक्षके पक्षपाती अथवा उपासक हैं — और अनेकान्तको नहीं मानते — वस्तुमें अनेक गुण-धर्मोंके होते हुए भी उसे एक ही गुण-धर्मरूप अंगीकार करते हैं, वे अपने और परके वैरी हैं । आपका यह विचार देवागमकी निम्नकारिकाके 'एकान्तग्रहरक्तेषु' 'स्वपरवैरिषु' इन दो पदों परसे उपलब्ध होता है.—

कुशालाऽकुशल कर्म परलोकश्च न क्वचित् ।

एकान्त-ग्रह-रक्तेषु नाथ । स्व-पर वैरिषु ॥ ८ ॥

इस कारिकामें इतना और भी बतलाया गया है कि ऐसी एकान्त-मान्यतावाले व्यक्तियोंमेंसे किसीके यहाँ भी—किसीके भी मतमें—शुभ-अशुभ-कर्मकी, अन्य जन्मकी और 'चकार' से इस जन्मकी, कर्मफलकी तथा बन्ध-मोक्षादिककी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती । और यह सब इस कारिकाका सामान्य अर्थ है । विशेष अर्थकी दृष्टिसे इसमें साकेतिकरूपसे यह भी सन्निहित है कि ऐसे एकान्त-पक्षपातीजन स्वपरवैरी कैसे हैं और क्योंकि उनके शुभ-

अष्टमक्यों, लोक-परलोक तथा बन्ध-मोक्षादिककी व्यवस्था नहीं बन सकती । इस अर्थको अष्टसहस्री-जैसे टीका-ग्रन्थोंमें कुछ विस्तारके साथ खोला गया है । बाकी एकान्तवादियोंकी मुख्य मुख्य कोटिबोध बर्णन करते हुए उनके सिद्धान्तोको दूषित ठहराकर उन्हें स्व-पर-बैरी सिद्ध करने और अनेकान्तको स्व-पर-हितकारी सम्यक् सिद्धान्तके रूपमें प्रतिष्ठित करनेका कार्य स्वयं स्वामी समन्तभद्रने ग्रन्थकी अगली कारिकाओंमें सूत्ररूपसे किया है । ग्रन्थकी कुल कारिकाएँ (श्लोक) ११४ हैं, जिनपर आचार्य श्री अकलंकदेवने 'अष्टशती' नामकी आठसौ श्लोक-जितनी वृत्ति लिखी है, जो बहुत ही सूक्ष्म-सूत्रोमे है, और फिर इस वृत्तिको साथमें लेकर श्री विद्यानन्दाचार्यने 'अष्टसहस्री' टीका लिखी है, जो आठ हजार श्लोक-परिमाण है और जिसमें मूलग्रन्थके आशयको खोलनेका भारी प्रयत्न किया गया है । यह अष्टसहस्री भी बहुत कठिन है, इसके कठिन पदोंको समझनेके लिये इसपर आठ हजार श्लोक-जितना एक सस्कृत टिप्पण भी बना हुआ है, फिर भी अपने विषयको पूरी तीरसे समझनेके लिये यह अभी तक 'अष्टसहस्री' ही बनी हुई है । और शायद यही वजह है कि इसका अब तक हिन्दी अनुवाद नहीं हो सका । ऐसी हालतमें पाठक समझ सकते हैं कि स्वामी समन्तभद्रका मूल 'देवागम' ग्रन्थ कितना अधिक अर्थगौरवको लिये हुए है । अकलंक-देवने तो उसे 'सम्पूर्ण पदार्थतत्त्वोको अपना विषय करनेवाला स्याद्वादरूपी पुरणोदधितीर्थ' लिखा है । इसलिये मेरे जैसे अल्पज्ञो-द्वारा समन्तभद्रके विचारोंकी व्याख्या उनको स्पर्श करनेके सिवाय और क्या हो सकती है ? इसीसे मेरा यह प्रयत्न भी साधारण पाठकोंके लिये है—विशेषज्ञोंके लिये नहीं । अस्तु, इस प्रासंगिक निवेदनके बाद अब मैं पुनः प्रकृत विषय पर आता हूँ, और उसको संक्षेपमें ही साधारण जनताके लिये कुछ स्पष्ट कर देना चाहता हूँ ।

वास्तवमें प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है—उसमें अनेक अन्त-

धर्म, गुण-स्वभाव, अंग अथवा अंश हैं। जो मनुष्य किसी भी वस्तु-को एक तरफसे देखता है—उसके एक ही अन्त-धर्म अथवा गुण-स्वभाव पर दृष्टि डालता है—वह उसका सम्यग्दृष्टा (उसे ठीक तीरसे देखने-पहचाननेवाला) नहीं कहला सकता। सम्यग्दृष्टा होनेके लिये उसे उस वस्तुको सब ओरसे देखना चाहिये और उसके सब अन्तो-अंगो-धर्मों अथवा स्वभावो पर नज़र डालनी चाहिये। सिक्केके एक ही मुखको देखकर सिक्केका निर्णय करनेवाला उस सिक्केको दूसरे मुखसे पड़ा देखकर वह सिक्का नहीं समझता और इसलिये धोखा खाता है। इसीसे अनेकान्तदृष्टिको सम्यग्दृष्टि और एकान्तदृष्टिको मिथ्यादृष्टि कहा है^१।

जो मनुष्य किसी वस्तुके एक ही अन्त, अंग, धर्म अथवा गुण-स्वभावको देखकर उसे उस ही स्वरूप मानता है—दूसरे रूप स्वीकार नहीं करता—और इस तरह अपनी एकान्तधारणा बना लेता है और उसे ही जैसे-तैसे पुष्ट किया करता है, उसको 'एकान्त-ग्रहरक्त', एकांतपक्षपाती अथवा सर्वथा एकान्तवादी कहते हैं। ऐसे मनुष्य हाथीके स्वरूपका विधान करनेवाले जन्मान्ध-पुरुषों की तरह आपसमें लड़ते-भगड़ते हैं और एक दूसरेसे शत्रुता धारण करके जहाँ परके वैरी बनते हैं वहाँ अपनेको हाथीके विषयमें अज्ञानी रखकर अपना भी अहित साधन करनेवाले तथा कभी भी हाथीसे हाथीका काम लेनेमें समर्थ न हो सकनेवाले उन जन्मान्धों-की तरह, अपनेको वस्तुस्वरूपसे अनभिज्ञ रखकर, अपना भी अहित साधन करते हैं और अपनी मान्यताको छोड़े अथवा उसकी उपेक्षा किये बिना कभी भी उस वस्तुसे उस वस्तुका ठीक काम लेनेमें

१ अनेकान्तात्मदृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः ।

ततः सर्वं मुषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघाततः ॥

—स्वयम्भूस्तोत्रे, समन्तभद्र-

समर्थ नहीं हो सकते, और ठीक काम लेनेके लिये मान्यताको छोड़ने अथवा उसकी उपेक्षा करने पर स्वसिद्धात-विरोधी ठहरते हैं, इस तरह दोनों ही प्रकारसे वे अपने भी वैरी होते हैं । नीचे एक उदाहरण-द्वारा इस बातको और भी स्पष्ट करके बतलाया जाता है—

एक मनुष्य किसी वैद्यको एक रोगी पर कुचलेका प्रयोग करता हुआ देखता है और यह कहते हुए भी सुनता है कि 'कुचला जीवन-दाता है, रोगको नशाता है और जीवनी शक्तिको बढ़ाता है । साथ ही, वह यह भी अनुभव करता है कि वह रोगी कुचलेके खाने-से अच्छा तन्दुरुस्त तथा हृष्ट-पुष्ट हो गया । इस परसे वह अपनी यह एकान्त धारणा बना लेता है कि 'कुचला जीवनदाता है, रोग नशाता है और जीवनी शक्तिको बढ़ाकर मनुष्यको हृष्ट-पुष्ट बनाता है' । उसे मालूम नहीं कि कुचलेमें मारनेका—जीवनको नष्ट कर देनेका—भी गुण है और उसका प्रयोग सब रोगों तथा सब अवस्थाओंमें समानरूपसे नहीं किया जा सकता, न उसे मात्राकी ठीक खबर है, और न यही पता है कि वह वैद्य भी कुचलेके दूसरे मारक गुणसे परिचित था, और इसलिये जब वह उसे जीवनी शक्तिको बढ़ानेके काममें लाता था तब वह दूसरी दवाइयोंके साथमें उसका प्रयोग करके उसकी मारक शक्तिको दबा देता था अथवा उसे उन जीव-जन्तुओंके घातके काममें लेता था जो रोगीके शरीरमें जीवनी शक्तिको नष्ट कर रहे हो । और इसलिये वह मनुष्य अपनी उस एकान्त-धारणाके अनुसार अनेक रोगियोंको कुचला देता है तथा जल्दी अच्छा करनेकी धुनमें अधिक मात्रामें भी दे देता है । नतीजा यह होता है कि वे रोगी मर जाते हैं या अधिक कष्ट तथा वेदना उठाते हैं और वह मनुष्य कुचलेका ठीक प्रयोग न जानकर उसका मिथ्या प्रयोग करनेके कारण दंड पाता है, तथा कभी स्वयं कुचला खाकर अपनी प्राण-हानि भी कर डालता है । इस तरह कुचलेके विषयमें एकान्त आग्रह रखनेवाला जिस प्रकार

स्व-पर-वैरी होता है उसी प्रकार दूसरी वस्तुओंके विषयमें भी एकान्त हठ पकड़नेवालोंको स्व-पर-वैरी समझना चाहिये ।

सच पूछिये तो जो अनेकान्तके द्वेषी हैं वे अपने एकान्तके भी द्वेषी हैं, क्योंकि अनेकान्तके बिना वे एकान्तको प्रतिष्ठित नहीं कर सकते—अनेकान्तके बिना एकान्तका अस्तित्व उसी तरह नहीं बन सकता जिस तरह कि सामान्यके बिना विशेषका या द्रव्यके बिना पर्यायका अस्तित्व नहीं बनता । सामान्य और विशेष, अस्तित्व और नास्तित्व तथा नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म जिस प्रकार परस्परमें अविनाभाव-सम्बन्धको लिये हुए हैं—एकके बिना दूसरेका सद्भाव नहीं बनता—उसी प्रकार एकान्त और अनेकान्तमें भी परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध है । ये सब सप्रतिपक्षधर्म एक ही वस्तुमें परस्पर अपेक्षाको लिए हुए होते हैं । उदाहरणके तौर पर अनामिका अंगुली छोटी भी है और बड़ी भी—कनिष्ठासे वह बड़ी है और मध्यमासे छोटी है । इस तरह अनामिकामे छोटापन और बड़ापन दोनो धर्म सापेक्ष हैं, अथवा छोटी है और छोटी नहीं है ऐसे छोटेपनके अस्तित्व और नास्तित्वरूप दो अविनाभावी धर्म भी उसमें सापेक्षरूपसे पाये जाते हैं—अपेक्षाको छोड़ देने पर दोनोमेंसे कोई भी धर्म नहीं बनता । इसी प्रकार नदीके प्रत्येक तटमें इस पारपन और उस पारपनके दोनो धर्म होते हैं और वे सापेक्ष होनेसे ही अविरोधरूप रहते हैं ।

जो धर्म एक ही वस्तुमें परस्पर अपेक्षाको लिये हुए होते हैं वे अपने और दूसरेके उपकारी (मित्र) होते हैं और अपनी तथा दूसरेकी सत्ताको बनाये रखते हैं । और जो धर्म परस्पर अपेक्षाको लिये हुए नहीं होते वे अपने और दूसरेके अपकारी (शत्रु) होते हैं—स्व-पर-प्रणाशक होते हैं, और इसलिये न अपनी सत्ताको कायम रख सकते हैं और न दूसरेकी । इसीसे स्वामी समन्तवैरने अपने स्वयंभूस्तौत्रमें भी—

‘मिथोऽनपेक्षाः स्व-पर-प्रणाशिनः’

‘परस्परेक्षाः स्व-परोपकारिणः’

इन वाक्योंके द्वारा इसी सिद्धान्तकी स्पष्ट घोषणा की है। आप निरपेक्षनयोको मिथ्या और सापेक्षनयोको सम्यक् बतलाते हैं। आपके विचारसे निरपेक्षनयोका विषय अर्थक्रियाकारी न होनेसे अवस्तु है और सापेक्षनयोका विषय अर्थकृत (प्रयोजनसाधक) होनेसे वस्तुत्व है^१। इस विषयकी विशेष चर्चा एवं व्याख्या समन्तभद्र-विचारदीपक-में अन्यत्र की जायगी। यहाँ पर सिर्फ इतना ही जान लेना चाहिये कि निरपेक्षनयोका विषय ‘मिथ्या एकान्त’ और सापेक्षनयोका विषय ‘सम्यक् एकान्त’ है। और यह सम्यक् एकात ही प्रस्तुत अनेकान्तके साथ अविनाभावसम्बन्धको लिये हुए है। जो मिथ्या एकान्तके उपासक होते हैं उन्हें ही ‘एकांत-ग्रहरक्त’ कहा गया है, वे ही ‘सर्वथा-एकांतवादी’ कहलाते हैं और उन्हें ही यहाँ ‘स्व-पर-वैरी’ समझना चाहिये। जो सम्यक् एकान्तके उपासक होते हैं उन्हें ‘एकांतग्रहरक्त’ नहीं कहते, उनका नेता ‘स्यात्’ पद होता है, वे उस एकांतको कथंचित् रूपसे स्वीकार करते हैं; इसलिये उसमें सर्वथा आसक्त नहीं होते और न प्रतिपक्ष-धर्मका विरोध अथवा निराकरण ही करते हैं—सापेक्षावस्थामे विचारके समय प्रतिपक्ष-धर्मकी अपेक्षा न होनेसे उसके प्रति एक प्रकारकी उपेक्षा तो होती है किन्तु उसका विरोध अथवा निराकरण नहीं होता। और इसीसे वे ‘स्व-पर-वैरी’ नहीं कहे जा सकते। अतः स्वामी समन्तभद्रका यह कहना बिल्कुल ठीक है कि ‘जो एकांतग्रहरक्त होते हैं वे स्व-पर-वैरी होते हैं।’

अब देखना यह है कि ऐसे स्वपरवैरी एकांतवादियोंके मतमें शुभ-अशुभ-कर्म, कर्मफल, सुख-दुख, जन्म-जन्मान्तर (लोक-परलोक) और बन्ध-मोक्षादिकी व्यवस्था कैसे नहीं बन सकती।

१ निरपेक्षा नया मिथ्या. सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत। —देवागम १०८

बात बिल्कुल स्पष्ट है, ये सब अवस्थाएँ चूँकि अनेकान्ताश्रित हैं—अनेकान्तके आश्रय बिना इन परस्पर विरुद्ध मायूम पड़नेवाली सापेक्ष अवस्थाओंकी कोई स्वतन्त्र सत्ता अथवा व्यवस्था नहीं बन सकती। इसलिये जो अनेकान्तके बैरी हैं—अनेकान्त-मिद्वान्तसे द्वेष रखते हैं—उनके यहाँ ये सब व्यवस्थाएँ सुघटित नहीं हो सकती। अनेकान्तके प्रतिषेधसे क्रम-अक्रमका प्रतिषेध हो जाता है; क्योंकि क्रम-अक्रमकी अनेकान्तके साथ व्याप्ति है। जब अनेकान्त ही नहीं तब क्रम-अक्रमकी व्यवस्था कैसे बन सकती है ? अर्थात् द्रव्यके अभावमें जिस प्रकार गुण-पर्यायिकी और वृक्षके अभावमें शीशम, जामन, नीम, आम्रादिकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती उसी प्रकार अनेकान्तके अभावमें क्रम-अक्रमकी भी व्यवस्था नहीं बन सकती। क्रम-अक्रमकी व्यवस्था न बननेसे अर्थक्रियाका निषेध हो जाता है, क्योंकि अर्थक्रियाकी क्रम-अक्रमके साथ व्याप्ति है। और अर्थक्रियाके अभावमें कर्मादिक नहीं बन सकते—कर्मादिककी अर्थक्रियाके साथ व्याप्ति है। जब शुभ-अशुभ-कर्म ही नहीं बन सकते तब उनका फल सुख-दुख, फल-भोगका क्षेत्र, जन्मान्तर (लोक-परलोक) और कर्मोंसे बचने तथा छूटनेकी बात तो कैसे बन सकती है ? सारांश यह कि अनेकान्तके आश्रय बिना ये सब शुभाऽशुभ-कर्मादिक निराश्रित होजाते हैं, और इसलिए सर्वथा नित्यादि एकातवादियोंके मतमें इनकी कोई ठीक व्यवस्था नहीं बन सकती। वे यदि इन्हे म्रनते हैं और तपस्वरणादिके अनुष्ठान-द्वारा सत्कर्मोक्त अर्जन करके उनका सत्फल लेना चाहते हैं अथवा कर्मोंसे मुक्त होना चाहते हैं तो वे अपने इष्टको अनेकान्तका विरोध करके बाधा पहुँचाते हैं, और इस तरह भी अपनेको स्व-पर-वैरी सिद्ध करते हैं।

वस्तुतः अनेकान्त, भाव अभाव, नित्य-अनित्य, भेद-अभेद आदि एकान्तनयोंके विरोधको मिटाकर, वस्तुतत्त्वकी सम्यक्-व्यवस्था करनेवाला है; इसीसे लोक-व्यवहारका सम्यक् प्रवर्तक है—

बिना अनेकातका आश्रय लिये लोकका व्यवहार ठीक बनता ही नहीं, और न परस्परका बैर-विरोध ही मिट सकता है । इसीलिये अनेकातको परमात्मका बीज और लोकका अद्वितीय गुरु कहा गया है—वह सबोके लिये सन्मार्ग-प्रदर्शक है^१ । जैनी नीतिका भी वही मूलाधार है । जो लोग अनेकातका सचमुच आश्रय लेते हैं वे कभी स्व-पर-वैरी नहीं होते उनसे पाप नहीं बनते, उन्हें आपदाएँ नहीं सताती और वे लोकमें सदा ही उन्नत उदार तथा जयशील बने रहते हैं ।

१. नीति-विरोध-ध्वंसी लोकव्यवहारवर्तकः सम्यक् ।
परमात्मस्य बीजं मुक्त्यैकगुरुर्जयनेकान्तः ॥

वीतरागकी पूजा क्यों ?

जिसकी पूजा की जाती है वह यदि उस पूजासे प्रसन्न होता है, और प्रसन्नताके फलस्वरूप पूजा करनेवालेका कोई काम बना देता अथवा सुधार देता है तो लोकमें उसकी पूजा सार्थक समझी जाती है। और पूजासे किसीका प्रसन्न होना भी तभी कहा जा सकता है जब या तो वह उसके बिना अप्रसन्न रहता हो, या उससे उसकी प्रसन्नतामें कुछ वृद्धि होती हो अथवा उससे उसको कोई दूसरे प्रकारका लाभ पहुँचता हो, परन्तु वीतरागदेवके विषयमें यह सब कुछ भी नहीं कहा जा सकता—वे न किसी पर प्रसन्न होते हैं, न अप्रसन्न और न किसी प्रकारकी कोई इच्छा ही रखते हैं, जिसकी पूर्ति-अपूर्तिपर उनकी प्रसन्नता-अप्रसन्नता निर्भर हो। वे सदा ही पूर्ण प्रसन्न रहते हैं—उनकी प्रसन्नतामें किसी भी कारणसे कोई कमी या वृद्धि नहीं हो सकती। और जब पूजा-अपूजासे वीतरागदेव की प्रसन्नता या अप्रसन्नताका कोई सम्बन्ध नहीं—वह उसके द्वारा सभाव्य ही नहीं—तब यह तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता कि पूजा कैसे की जाय, कब की जाय, किन द्रव्योंसे की जाय, किन मन्त्रोंसे की जाय और उसे कौन करे—कौन न करे ? और न यह शंका ही की जा सकती है कि अविधिसे पूजा करनेपर कोई अनिष्ट घटित हो जायगा अथवा किसी अधम-अशोभन-अपावन मनुष्यके पूजा कर-

लेने पर वह देव नाराज हो जायगा और उसकी नाराजगीसे उस मनुष्य तथा समूचे समाजको किसी दैवी कोपका भाजन बनना पड़ेगा, क्योंकि ऐसी शका करने पर वह देव वातराग ही नहीं ठहरेगा—उसके वातराग होनेसे इनकार करना होगा और उसे भी दूसरे देवी-देवताओंकी तरह रागी-द्वेषी मानना पड़ेगा । इसीसे अक्सर लोग जैनियोंसे कहा करते हैं कि—“जब तुम्हारा देव परम वातराग है, उसे पूजा-उपासनाकी कोई जरूरत नहीं, कर्ता हर्ता न होनेसे वह किसीको कुछ देता-लेता भी नहीं, तब उसकी पूजा-वन्दना क्यों की जाती है और उससे क्या नतीजा है ?”

इन सब बातोंको लक्ष्यमें रखकर स्वामी समन्तभद्र, जो कि वातरागदेवोंको सबसे अधिक पूजाके योग्य समझने थे और स्वयं भी अनेक स्तुति-स्तोत्रों आदिके द्वारा उनकी पूजामें सदा सावधान एवं तत्पर रहते थे, अपने स्वयंभूस्तोत्र में लिखते हैं—

न पूजयार्थस्त्वयि वातरागे न निन्दया नाथ विद्वान्त-चैरे ।

तथापि ते पुण्य-गुण-स्मृतिर्न पुनाति चित्त दुरताऽङ्गनेभ्यः ॥

अर्थात्—हे भगवन् ! पूजा-वन्दनासे आपका कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि आप वातरागी हैं—रागका अंश भी आपके आत्मामें विद्यमान नहीं है, जिसके कारण किसीकी पूजा-वन्दनासे आप प्रसन्न होते । इसी तरह निन्दासे भी आपका कोई प्रयोजन नहीं है—कोई कितना ही आपको बुरा कहे, गालियाँ दे, परन्तु उस पर आपको जरा भी क्षोभ नहीं आ सकता, क्योंकि आपके आत्मासे वैरभाव-द्वेषांश बिल्कुल निकल गया है—वह उसमें विद्यमान ही नहीं है—जिससे क्षोभ तथा अप्रसन्नतादि कार्योंका उद्भव हो सकता । ऐसी हालतमें निन्दा और स्तुति दोनों ही आपके लिये समान हैं—उनसे आपका कुछ भी बनता या बिगड़ता नहीं है । वह सब कुछ ठीक है, परन्तु फिर भी हम जो आपकी पूजा-वन्दनादि करते हैं उसका दूसरा ही कारण है, वह पूजा-वन्दनादि आपके लिये

नहीं—आपको प्रसन्न करके आपकी कृपा सम्पादन करना या उसके द्वारा आपको कोई लाभ पहुँचाना, यह सब उसका ध्येय ही नहीं है। उसका ध्येय है आपके पुण्य-गुणोंका स्मरण—भाक्पूर्वक अनु-चिन्तन—, जो हमारे चित्तको—चिद्रूप आत्माको—पापमलोंसे छुड़ाकर निर्मल एवं पवित्र बनाता है, और इस तरह हम उसके द्वारा अपने आत्माके विकासकी साधना करते हैं। इसीसे पथके उत्तरार्धमें यह सैद्धांतिक घोषणा की गई है कि 'आपके पुण्य-गुणोंका स्मरण हमारे पापमलसे मलिन आत्माको निर्मल करता है'—उसके विकासमें सचमुच सहायक होता है।

यहाँ बीतराग-भगवानके पुण्य-गुणोंके स्मरणसे पापमलसे मलिन आत्माके निर्मल (पवित्र) होनेकी जो बात कही गई है वह बड़ी ही रहस्यपूर्ण है, और उसमें जैनधर्मके आत्मवाद, कर्मवाद, विकासवाद और उपासनावाद-जैसे सिद्धान्तोंका बहुत कुछ रहस्य सूक्ष्मरूपमें सन्निहित है। इस विषयमें मैंने कितना ही स्पष्टीकरण अपनी 'उपासनातत्त्व' और 'सिद्धिसोपान' जैसी पुस्तकोंमें किया है—स्वयम्भूस्तोत्रकी प्रस्तावनाके 'भक्तियोग और स्तुति-प्रार्थनादि-रहस्य' नामक प्रकरणसे भी पाठक उसे जान सकते हैं। यहाँ पर मैं सिर्फ इतना ही बतलाना चाहता हूँ कि स्वामी समन्तभद्रने बीत-रागदेवके जिन पुण्य-गुणोंके स्मरणकी बात कही है वे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तमुख और अनन्तवीर्यादि आत्माके असाधारण गुण हैं, जो द्रव्यदृष्टिसे सब आत्माओंके समान होने पर सबकी समान-सम्पत्ति हैं और सभी भव्यजीव उन्हें प्राप्त कर सकते हैं। जिन पापमलोंने उन गुणोंको आच्छादित कर रक्खा है वे ज्ञाना-वरणादि आठ कर्म हैं, योगबलसे जिन महात्माओंने उन कर्ममलोंको दग्ध करके आत्मगुणोंका पूर्ण विकास किया है वे ही पूर्ण विकसित सिद्धात्मा एवं बीतराग कहे जाते हैं—शेष सब संसारी जीव अविकसित अथवा अस्थविकसितादि दशाओंमें हैं; और वे अपनी

आत्मनिधिको प्रायः भूले हुए हैं । सिद्धात्माओंके विकसित गुणों परसे वे आत्मगुणोंका परिचय प्राप्त करते हैं और फिर उनमें अनुराग बढ़ाकर उन्हीं साधनों-द्वारा उन गुणोंकी प्राप्तिका यत्न करते हैं जिनके द्वारा उन सिद्धात्माओंने किया था । और इसलिये वे सिद्धात्मा बीतरागदेव आत्म-विकासके इच्छुक ससारी आत्माओंके लिये 'आदर्शरूप' होते हैं, आत्मगुणोंके परिचयादिमें सहायक होनेसे उनके 'उपकारी' होते हैं और उस वक्त तक उनके 'आराध्य' रहते हैं जबतक कि उनके आत्मगुण पूर्णरूपसे विकसित न हो जाय । इसीसे स्वामी समन्तभद्रने "ततः स्वनिःश्रेयसभावनापरैर्बुधप्रवेकै-जिनशीतलेङ्ग्यसे (स्व० ५०)" इस वाक्यके द्वारा उन बुधजन-श्रेष्ठों तकके लिये बीतरागदेवकी पूजाको आवश्यक बतलाया है जो अपने निःश्रेयसकी—आत्मविकासकी—भावनामें सदा सावधान रहते हैं । और एक दूसरे पद्य 'स्तुति स्तोतु' साधो (स्व० ११६) में बीतरागदेवकी इस पूजा-भक्तिकी कुशलपरिणामोंकी हेतु बतलाकर इसके द्वारा श्रेयोमार्गका सुलभ तथा स्वाधीन होना तक लिखा है । साथ ही उसी स्तोत्रगत नीचेके एक पद्यमें वे, योगबलसे आठों पापमलोंको दूर करके ससारमें न पाये जानेवाले ऐसे परमसौख्यको प्राप्त हुए सिद्धात्माओंका स्मरण करते हुए, अपने लिये तद्रूप होनेकी स्पष्ट भावना भी करते हैं, जो कि बीतरागदेवकी पूजा-उपासनाका सच्चा रूप है —

दुरितमलकलंकमघटकं निरुपमयोगवलेन निर्वहन् ।

अभयदभय-सौख्यवान् भवान्भवन्तु ममाऽपि भवोपशान्तये ॥

स्वामी समन्तभद्रके इन सब विचारोंसे यह भले प्रकार स्पष्ट होजाता है कि बीतरागदेवकी उपासना क्यों की जाती है और उसका करना कितना अधिक आवश्यक है ।

वीतरागसे प्रार्थना क्यों ?

जब वीतराग अर्हन्तदेव परम उदासीन एव कृतकृत्य होनेसे कुछ करते-धरते नहीं तब पूजा-उपासनादिके अवसरोपर उनसे बहुधा प्रार्थनाएँ क्यों की जाती है और क्यों उनमें व्यर्थ ही कर्तृत्व-विषयका आरोप किया जाता है ?—जिसे स्वामी समन्तभद्र-जैसे महान् आचार्योंने भी अपनाया है । यह प्रश्न बड़ा ही सुन्दर है और सभीके लिये इसका उत्तर बाँछनीय एव जाननेके योग्य है । अतः इसीके समाधानका यहाँ प्रयत्न किया जाता है ।

सबसे पहली बात इस विषयमें यह जान लेनेकी है कि इच्छा-पूर्वक अथवा बुद्धिपूर्वक किसी कामको करनेवाला ही उसका कर्ता नहीं होता बल्कि अनिच्छापूर्वक अथवा अबुद्धिपूर्वक कार्यका करनेवाला भी कर्ता होता है । वह भी कार्यका कर्ता होता है जिसमें इच्छा-बुद्धिका प्रयोग ही नहीं किन्तु सद्भाव (अस्तित्व) भी नहीं अथवा किसी समय उसका सभव भी नहीं है । ऐसे इच्छाबून्य तथा बुद्धिहीन कर्ता कार्योंके प्रायः निमित्तकारण ही होते हैं और प्रत्यक्ष-रूपमें तथा अप्रत्यक्षरूपमें उनके कर्ता जड़ और चेतन दोनों ही प्रकारके पदार्थ हुआ करते हैं । इस विषयके कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जाते हैं, उन पर ज़रा ध्यान दीजिये —

(१) 'यह दवाई अमुक रोगको हरनेवाली है' । यहा दवाईमें कोई इच्छा नहीं और न बुद्धि है, फिर भी वह रोगको हरनेवाली

है—रोगहरण-कार्यकी कर्ता कही जाती है, क्योंकि उसके निमित्तसे रोग दूर होता है ।

(२) 'इस रसायनके प्रसादसे मुझे नीरोगताकी प्राप्ति हुई ।' यहाँ 'रसायन' जड औषधियोंका समूह होनेसे एक जड पदार्थ है, उसमें न इच्छा है, न बुद्धि और न कोई प्रसन्नता; फिर भी एक रोगी प्रसन्नचित्तसे उस रसायनका सेवन करके उसके निमित्तसे आरोग्य-लाभ करता है और उस रसायनमें प्रसन्नताका आरोप करता हुआ उक्त वाक्य कहता है । यह सब लोक-व्यवहार है अथवा अलंकारकी भाषामें कहनेका एक प्रकार है । इसी तरह यह भी कहा जाता है कि 'मुझे इस रसायन या दवाईने अच्छा कर दिया' जब कि उसने बुद्धिपूर्वक या इच्छापूर्वक उसके शरीरमें कोई काम नहीं किया । हाँ उसके निमित्तसे शरीरमें रोगनाशक तथा आरोग्यवर्धक कार्य जरूर हुआ है और इसलिये वह उसका कार्य कहा जाता है ।

(३) एक मनुष्य छत्री लिये जा रहा था और दूसरा मनुष्य बिना छत्रीके सामनेसे आ रहा था । सामनेवाले मनुष्यकी दृष्टि जब छत्री पर पड़ी तो उसे अपनी छत्रीकी याद आ गई और यह स्मरण हो आया कि 'मैं अपनी छत्री अमुक दुकान पर भूल आया हूँ'; चुनौचे वह तुरन्त वहाँ गया, अपनी छत्री ले आया और आकर कहने लगा—'तुम्हारी इस छत्रीका मैं बहुत आभारी हूँ, इसने मुझे मेरी भूली हुई छत्रीकी याद दिलाई है ।' यहाँ छत्री एक जडवस्तु है, उसमें बोलनेकी शक्ति नहीं, वह कुछ बोली भी नहीं और न उसने बुद्धिपूर्वक छत्री भूलनेकी वह बात ही सुझाई है, फिर भी चू कि उसके निमित्तसे भूली हुई छत्रीकी स्मृति आदिरूप यह सब कार्य हुआ है इसीसे अलंकृत भाषामें उसका आभार माना गया है ।

(४) एक मनुष्य किसी रूपवती स्त्रीको देखते ही उसपर आसक्त हो गया, तरह-तरहकी कल्पनाएँ करके दीवाना बन गया और कहने लगा—'उस स्त्रीमें मेरा मन हर लिया, मेरा चित्त चुरा

लिया, मेरे ऊपर जाहू कर दिया ! मुझे पागल बना दिया ! अब मैं बेकार हूँ और मुझसे उसके बिना कुछ भी करते-धरते नहीं बनता ।' परन्तु उस बेचारी स्त्रीको इसकी कुछ भी खबर नहीं—किसी बातका पता तक नहीं और न उसने इस पुरुषके प्रति बुद्धि-पूर्वक कोई कार्य ही किया है—उस पुरुषने ही कही जाते हुए उसे देख लिया है, फिर भी उस स्त्रीके निमित्तको पाकर उस मनुष्यके आत्म दोषोंको उत्तेजना मिली और उसकी यह सब दुर्दशा हुई । इसीसे वह उसका सारा दोष उस स्त्रीके मृत्ये मढ़ रहा है, जब कि वह उसमें अज्ञातभावसे एक छोटासा निमित्तकारण बनी है, बड़ा कारण तो उस मनुष्यका ही आत्मदोष था ।

(५) एक दुःखित और पीडित गरीब मनुष्य एक सतके आश्रयमें चला गया और बड़े भक्ति-भावके साथ उस सतकी सेवा-सुश्रूषा करने लगा । वह सत ससार-देह-भोगोंसे विरक्त है—वैराग्यसम्पन्न है—किसीसे कुछ बोलता या कहता नहीं—सदा मौनसे रहता है । उस मनुष्यकी अपूर्व भक्तिको देखकर पिछले भक्त लोग सब दग रह गये । अपनी भक्तिको उसकी भक्तिके आगे नगण्य गिनने लगे और बड़े आदर-सत्कारके साथ उस नवागन्तुक भक्तहृदय मनुष्यको अपने-अपने घर भोजन कराने लगे और उसकी दूसरी भी अनेक आवश्यकताओंकी पूर्ति बड़े प्रेमके साथ करने लगे, जिससे वह सुखसे अपना जीवन व्यतीत करने लगा और उसका भक्ति-भाव और भी दिन पर दिन बढ़ने लगा । कभी-कभी वह भक्तिमें विह्वल होकर सन्तके चरणोंमें गिर पड़ता और बड़े ही कम्पित स्वरमें गिड़गिड़ाता हुआ कहने लगता—'हे नाथ ! आप ही मुझ दीन-हीनके रक्षक हैं, आप ही, मेरे अन्नदाता हैं, आपने मुझे वह भोजन दिया है जिससे मेरी जन्म-जन्मान्तरकी भूख मिट गई है । आपके चरण-धारणमें आनेसे ही मैं सुखी बन गया हूँ, आपने मेरे सारे दुःख मिटा दिये हैं और मुझे वह दृष्टि प्रदान की है जिससे मैं अपनेको और जगत्को भले

अकार देख सकता हूँ । अब बयाकर इतना मनुष्यह और कीजिये कि मैं बरसी ही इस संसारके पार हो जाऊँ ।”

यहाँ भक्त-द्वारा सन्तके विषयमें जो कुछ कहा गया है वैसा उस सन्तने स्वेच्छासे कुछ भी नहीं किया । उसने तो भक्तके भोजनादिकी व्यवस्थाके लिये किसीसे सकेत तक भी नहीं किया और न अपने भोजनमेंसे कभी कोई भास ही उठाकर उसे दिया है, फिर भी उसके भोजनादिकी सब व्यवस्था हो गई । दूसरे भक्तजन स्वयं ही बिना किसीकी प्रेरणाके उसके भोजनादिकी सुव्यवस्था करनेमें प्रवृत्त हो गये और वैसा करके अपना अहोभाग्य समझने लगे । इसी तरह सन्तने उस भक्तको लक्ष्य करके कोई खास उपदेश भी नहीं दिया, फिर भी वह भक्त उस सन्तकी दिनचर्या और अवाग्विसर्ग (मौनोप-देशरूप) मुख-मुद्रादिक परसे स्वयं ही उपदेश ग्रहण करता रहा और प्रबोधको प्राप्त होगया । परन्तु यह सब कुछ घटित होनेमें उस सन्तपुरुषका व्यक्ति व ही प्रधान निमित्तकारण रहा है— बले ही वह कितना ही उदासीन क्यों न हो । इसीसे भक्त-द्वारा उसका सारा श्रेय उक्त सन्तपुरुषको ही दिया गया है ।

इन सब उदाहरणों परसे यह बात सहज ही समझमें आ जाती है कि किसी कार्यका कर्ता या कारण होनेके लिये यह लाजिमी (अनिवार्य) अथवा जरूरी नहीं है कि उसके साथमें इच्छा, बुद्धि तथा प्रेरणादिक भी हो, वह उसके बिना भी हो सकता है और होता है । साथ ही, यह भी स्पष्ट हो जाता है कि किसी वस्तुको अपने हाथसे उठाकर देने या किसीको उसके देनेकी प्रेरणा करके अथवा आदेश देकर दिला देनेसे ही कोई मनुष्य दाता नहीं होता बल्कि ऐसा न करते हुए भी दाता होता है, जब कि उसके निमित्तसे, प्रभावसे, आश्रयमें रहनेसे, सम्पर्कमें आनेसे, कारणका कारण बननेसे कोई वस्तु किसीको प्राप्त हो जाती है । ऐसी निमित्तों परमकीतराफ श्रीगर्हन्तामिदेवोंमें कर्तृ त्वादि-विषयका कारण

क्यथ नहीं कहा जा सकता—भले ही वे अपने हाथसे सीधा किसीका कोई कार्य न करते हो, मोहनीय कर्मके अभावसे उनमें इच्छाका अस्तित्व तक न हो और न किसीको उस कार्यकी प्रेरणा या आज्ञा देना ही उनसे बनता हो; क्योंकि उनके पुरणस्मरण, चिन्तन, पूजन, भजन, कीर्तन, स्तवन और आराधनसे जब पापकर्मोंका नाश होता है, पुरणकी वृद्धि और आत्माकी विशुद्धि होती है—जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है— तब फिर कौन कार्य है जो अटका रह जाय ? सभी कार्य सिद्धिको प्राप्त होते हैं, भक्तजनोकी मनोकामनाएँ पूरी होती हैं और इसलिये उन्हें यही कहना पड़ता है कि 'हे भगवन् ! आपके प्रसादसे मेरा यह कार्य सिद्ध हो गया', जैसे कि रसायनके प्रसादसे आरोग्यका प्राप्त होना कहा जाता है ।

रसायन औषधि जिस प्रकार अपना सेवन करनेवाले पर प्रसन्न नहीं होती और न इच्छापूर्वक उसका कोई कार्य ही सिद्ध करती है उसी तरह वीतराग भगवान् भी अपने सेवक पर प्रसन्न नहीं होते और न प्रसन्नताके फलस्वरूप इच्छापूर्वक उसका कोई कार्य सिद्ध करनेका प्रयत्न ही करते हैं । प्रसन्नतापूर्वक सेवन—आराधनके कारण ही रसायन और वीतरागदेवमे प्रसन्नताका आरोप किया जाता है और यह अलकृत भाषाका कथन है । अन्यथा दोनोका कार्य वस्तु-स्वभावके वशवर्ती, सयोगोकी अनुकूलताको लिये हुए, स्वतः होता है—उसमे किसीकी इच्छा-प्रसन्नतादिकी कोई बात नहीं है ।

यहाँ पर कर्मसिद्धान्तकी दृष्टिसे एक बात और प्रकट कर देने की है और वह यह कि, ससारी जीव मनसे, वचनसे व कायसे जो क्रिया करता है उससे आत्म प्रदेशोमे कम्पन (हलन-चलन) होकर अव्यक्तरूप पारणत हुए पुद्गल परमाणुओंका आत्म-प्रवेश होता है, जिसे 'आस्रव' कहते हैं । मन-वचन कायकी यह क्रिया यदि शुभ होती है तो उससे शुभकर्मका और अशुभ होती है तो अशुभकर्मका आस्रव होता है । तदनुसार ही बंध होता है । इस तरह कर्म शुभ-अशुभ-

के भेदसे दो भागोंमें बँटा रहता है । शुभ कार्य करनेकी जिसमें प्रकृति (स्वभाव-शीलता) होती है उसे शुभकर्म अथवा पुण्यप्रकृति और अशुभ कार्य करनेकी जिसमें प्रकृति होती है उसे अशुभकर्म अथवा पापप्रकृति कहते हैं । शुभाऽशुभ भावोंकी तरतमता और कषायादि परिणामोंकी तीव्रता-मदतादिके कारण इन कर्मप्रकृतियोंमें बराबर परिवर्तन (उलटफेर) अथवा संक्रमण हुआ करता है । जिस समय जिस प्रकारकी कर्मप्रकृतियोंके उदयका प्राबल्य होता है उस समय कार्य प्रायः उन्हींके अनुरूप निष्पन्न होता है । वीतराग-देवकी उपासनाके समय उनके पुण्यगुणोंका प्रेमपूर्वक स्मरण एवं चिंतन करने और उनमें अनुराग बढ़ानेसे शुभभावों (कुशलपरिणामों) की उत्पत्ति होती है, जिससे इस मनुष्यकी पापपरिणति छूटती और पुण्यपरिणति उसका स्थान लेती है । नतीजा इसका यह होता है कि हमारी पापप्रकृतियोंका रस (अनुभाग) सूखता और पुण्यप्रकृतियोंका रस बढ़ता है । पापप्रकृतियोंका रस सूखने और पुण्यप्रकृतियोंमें रस बढ़नेसे 'अन्तरायकर्म' नामकी प्रकृति, जो कि एक मूल पापप्रकृति है और हमारे दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्य (शक्ति-बल) में विघ्नरूप रहा करती है—उन्हे होने नहीं देती—वह भग्नरस होकर निर्बल पड़ जाती है और हमारे इष्ट-कार्यको बाधा पहुँचानेमें समर्थ नहीं रहती । तब हमारे बहुतसे लौकिक प्रयोजन अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं, बिगड़े हुए काम भी सुधर जाते हैं और उन सबका श्रेय उक्त उपासनाको ही प्राप्त होता है । इसीसे स्तुति-वन्दनादिको इष्टफलकी दाता कहा है; जैसा कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकादिमें उद्धृत किसी आचार्यमहोदयके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

नेष्टं विद्वन्तुं शुभभाव-भग्न-रसप्रकर्षः प्रभुरन्तरायः ।

तत्कामचारेण गुणानुरागान्नुत्थादिरिष्टार्थकदाऽर्हदादेः ॥

जब भले प्रकार सम्पन्न हुए स्तुति-वन्दनादि कार्य इष्ट फलको

देनेवाले हैं और बीसरामदेवमें कर्तृत्व-विषयका आरोप सर्वथा असंभव तथा व्यर्थ नहीं है, बल्कि ऊपरके निर्देशानुसार स्वयं और सुषटित है—वे स्वेच्छा-बुद्धि-प्रयत्नादिकी दृष्टिसे कर्ता न होते हुए भी निमित्तादिकी दृष्टिसे कर्ता जरूर हैं और इसलिये उनके विषयके अकर्तापनका सर्वथा एकान्तपक्ष घटित नहीं होता, तब उनसे सर्वविषयक अथवा ऐसी प्रार्थनाओंका किया जाना भी असंभव नहीं कहा जा सकता, जो उनके सम्पर्क तथा शरणा में आनेसे स्वयं सफल हो जाती हैं अथवा उपासना एवं भक्तिके द्वारा सहज-साध्य होती हैं ।

इस विषयमें स्वामी समन्तभद्रका स्वयंभूस्तोत्रगत निम्न वाक्य साक्ष्य तौरसे ध्यानमें लेने योग्य है—

स्वदोष-शान्त्या विहितः शान्तिः शान्तेर्विधाता शरणं गतानम् ।
भूयाद्भव-क्लेश भयोपशान्त्यै शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः ॥

इसमें बतलाया है कि वे 'भगवान् शान्तिजिन' मेरे शरण्य हैं— मैं उनकी शरण लेता हूँ—जिन्होंने अपने दोषोंकी— अज्ञान, मोह तथा राग-द्वेष, काम-क्रोधादि विकारोंकी शान्ति करके आत्मामें परमशान्ति स्थापित की है—पूर्ण सुख-स्वरूप स्वाभाविकी स्थिति प्राप्त की है—और इसलिये जो शरणार्थीको शान्तिके विधाता हैं—उनमें अपने आत्मप्रभावसे दोषोंकी शान्ति करके शान्ति-सुखका संचार करने अथवा उन्हें शान्ति-सुखरूप परिणत करनेमें सहायक एवं निमित्तभूत हैं । अतः (इस शरणागतिके फलस्वरूप) शान्ति-जिन मेरे ससार-परिभ्रमणका अन्त और सासारिक क्लेशों तथा अघोंकी समाप्तिमें कारणीभूत होंगे ।

यहाँ शान्ति-जिनको शरणार्थीकी शान्तिका जो विधायक (कर्ता) कहा है उसके लिये उनमें किसी इच्छा या तदनुकूल प्रयत्नके आरोप की जरूरत नहीं है, वह कार्य उनके 'विहितः शान्तिः' होनेसे स्वयं ही उक्त प्रकार हो जाता है जिस प्रकार कि शक्ति के पास जानेसे गर्मीज और हिमालय या क्षीरप्रधान प्रदेशके पास पहुँचनेसे

सर्दीका लेंधार अथवा तद्रूप परिणामन स्वयं हुआ करता है और उसमें उस अग्नि या हिममय पदार्थकी इच्छादि—जैसा कोई कारण नहीं पड़ता। इच्छा तो स्वयं एक दोष है और वह उस मोहका परिणाम है जिसे स्वयं स्वामीजीने उक्त स्तोत्रमें 'अनन्तदोषाशय-विग्रह' बतलाया है। दोषोंकी शान्ति होजानेसे उसका अस्तित्व ही नहीं बनता। इसलिये अर्हन्तदेवमें बिना इच्छा तथा प्रयत्नवाला कर्तृत्व सुघटित है। इसी कर्तृत्वको लक्ष्यमें रखकर उन्हें 'शान्ति-के विधाता' कहा गया है—इच्छा तथा प्रयत्नवाले कर्तृत्वकी दृष्टिसे वे उसके विधाता नहीं हैं। इस तरह कर्तृत्व-विषयमें अनेकात चलता है—सर्वथा एकातपक्ष जैनशासनमें ग्राह्य ही नहीं है।

यहां प्रसंगवश इतना और भी बतला देना उचित जान पड़ता है कि उक्त पद्यके तृतीय चरणमें सांसारिक क्लेशों तथा भयोंकी शान्तिमें कारणीभूत होनेकी जो प्रार्थना की गई है वह जैनी प्रार्थनाका मूलरूप है, जिसका और भी स्पष्ट दर्शन 'नित्यकी प्रार्थनामें प्रयुक्त निम्न प्राचीनतम गायामे पाया जाता है—

दुःख-खश्रो कम्म-बलश्रो समाहिमरणं च वोहि-लाहो य ।

मम होउ तिजगबंधव । तव जिएवर चरण-सरणेण ॥

इसमें जो प्रार्थना की गई है उसका रूप यह है कि—हे त्रिजगतके (निर्निमित्त) बन्धु जिनदेव । आपके चरण-शरणके प्रसादसे मेरे दुःखोंका क्षय, कर्मोंका क्षय, समाधिपूर्वक मरण और सम्यग्दर्शनादिकका लाभ होवे। इससे वह प्रार्थना एक प्रकारसे आत्मोत्कर्षकी भावना है और इस बातको सूचित करती है कि जिनदेवकी शरण प्राप्त होनेसे—प्रसन्नतापूर्वक जिनदेवके चरणोंका आराधन करनेसे—दुःखोंका क्षय और कर्मोंका क्षयादिक सुख-साम्य होता है। यही भाव समन्तमन्त्रकी उक्त प्रार्थनाका है। इसी भावको लेकर 'मतिप्रवेकः शुबल्लोऽस्तु नाथ ।' (२५) 'अवतु ममाऽपि भयोपरान्धवे' (११५) जैसी दूसरी भी अनेक प्रार्थनाएँ की गई हैं। परन्तु ये ही

प्रार्थनाएँ जब जिनेन्द्रदेवको साक्षात् रूपमें कुछ करने-करानेके लिये प्रेरित करती हुई जान पड़ती हैं तो वे अलकृत रूपको धारण किये हुए होती हैं। ऐसी अलकृतरूपधारिणी प्रार्थनाओंके स्वयभूस्तोत्रगत कुछ नमूने इस प्रकार हैं—

- १ पुनातु चेतो मम नाभिनन्दन (५)
- २ जिन श्रिय मे भगवान् विधत्ताम् (१०)
- ३ ममार्य । देया शिवतातिमुच्चै (१५)
४. पूयात्पवित्रो भगवान् मनो मे (४०)
- ५ श्रेयसे जिनवृष । प्रसीद म (७५)

ये सब प्रार्थनाएँ चित्तको पवित्र करने, जिनश्री तथा शिवसत्ति-को देने और कल्याण करनेकी याचनाको लिये हुए हैं, आत्मोत्कर्ष एवं आत्मविकासको लक्ष्य करके की गई हैं। इनमें असंगतता तथा असभाव्य-जैसी कोई बात नहीं है—सभी जिनेन्द्रदेवके सम्पर्क, प्रभाव तथा शरणमें आनेसे स्वयं सफल होनेवाली अथवा भक्ति-उपासनाके द्वारा सहज-साध्य हैं—और इसलिये अलंकारकी भाषामें की गई एक प्रकारकी भावनाएँ ही हैं।

वास्तवमें परमवीतरागदेवसे विवेकीजनकी प्रार्थनाका अर्थ देव-के समक्ष अपनी भावनाको व्यक्त करना है अथवा यो कहिये कि अलंकारकी भाषामें मन कामनाको व्यक्त करके यह प्रकट करना है कि 'वह आपके चरण-शरण एवं प्रभावमें रहकर और उससे कुछ पदार्थ पाठ लेकर आत्मशक्तिको जागृत एवं विकसित करता हुआ अपनी उस इच्छा कामना या भावनाको पूरा करनेमें समर्थ होना चाहता है। उसका यह आशय कदापि नहीं होता कि वीतरागदेव भक्तकी प्रार्थनासे द्रवीभूत होकर अपनी इच्छाशक्ति एवं प्रयत्नादि-को काममें लाते हुए स्वयं उसका कोई काम कर देगे अथवा दूसरो-से प्रेरणादिके द्वारा करा देगे। ऐसा आशय असभाव्यको सभाव्य बनाने जैसा है और देवके स्वरूपसे अनभिज्ञता व्यक्त करता है।

पुण्य-पापकी व्यवस्था कैसे ?

पुण्य पापका उपाजन कैसे होता है—कैसे किसीको पुण्य लगता, पाप चढता अथवा पाप-पुण्यका उसके साथ सम्बन्ध होता है, यह एक भारी समस्या है, जिसको हल करनेका बहुतोने प्रयत्न किया है। अधिकांश विचारकजन इस निश्चय पर पहुँचे हैं और उनकी यह एकान्त धारणा है कि—‘दूसरोको दुख देने, दुख पहुँचाने, दुखके साधन जुटाने अथवा उनके लिये किसी भी तरह दुखका कारण बननेसे नियमत पाप होता है—पापका आस्रव-बन्ध होता है, प्रत्युत इसके दूसरोको सुख देने, सुख पहुँचाने, सुखके साधन जुटाने अथवा उनके लिये किसी भी तरह सुखका कारण बननेसे नियमत पुण्य होता है—पुण्यका आस्रव-बन्ध होता है। अपनेको दुख-सुख देने आदिसे पाप-पुण्यके बन्धका कोई सम्बन्ध नहीं है।’

दूसरोका इस विषयमें यह निश्चय और यह एकान्त धारणा है कि—‘अपनेको दुख देने-पहुँचाने आदिसे नियमत पुण्योपाजन और सुख देने आदिसे नियमत पापोपाजन होता है—दूसरोके दुख-सुखका पुण्य-पापके बन्धसे कोई सम्बन्ध नहीं है।’

स्वामी समन्तभद्रकी दृष्टिमें ये दोनो ही विचार एव पक्ष निरे ऐकान्तिक होनेसे वस्तुतत्त्व नहीं हैं, और इसलिये उन्होंने इन दोनोको सदोष ठहराते हुए पुण्य-पापकी जो व्यवस्था सूत्ररूपसे

अपने 'देवागम' में (कारिका ६२ से ६५ तक) दी है वह बड़ी ही मार्मिक तथा रहस्यपूर्ण है । आज वह सब ही यहाँ पाठकोके सामने रक्खी जाती है ।

प्रथम पक्षको सदोष ठहराते हुए स्वामीजी लिखते हैं —

पापं ध्रुवं परे दुःखात्पुण्यं च सुखतो यदि ।

अचेतनाऽकषायौ च बध्येयाता निमित्त ॥ ६२ ॥

‘यदि परमे दुःखोत्पादनसे पापका और सुखोत्पादनसे पुण्यका होना निश्चित है—ऐसा एकान्त माना जाय—तो फिर अचेतन पदार्थ और अकषायी (वीतराग) जीव भी पुण्य-पापसे बँधने चाहिये, क्योंकि वे भी दूसरोमे सुख-दुखकी उत्पत्तिके निमित्त-कारण होते हैं ।’

भावार्थ — जब परमे सुख-दुखका उत्पादन ही पुण्य-पापका एक-मात्र कारण है तो फिर दूध-मलाई तथा विष-करुण्टादिक अचेतन पदार्थ, जो दूसरोके सुख-दुखके कारण बनते हैं, पुण्य-पापके बन्ध-कर्ता क्यों नहीं ? परन्तु इन्हे कोई भी पुण्य-पापके बंधकर्ता नहीं मानता — काँटा पैरमें चुभकर दूसरोको दुख उपन्न करता है, इतने मात्रसे उसे कोई पापी नहीं कहता और न पाप-फलदायक कर्मपर-माणु ही उससे आकर चिपटते अथवा बंधको प्राप्त होते हैं । इसी तरह दूध-मलाई बहुतेको आनंद प्रदान करते हैं, परन्तु उनके इस आनंदसे दूध-मलाई पुण्यात्मा नहीं कहे जाते और न उनमे पुण्य-फलदायक कर्म-परमाणुओका ऐसा कोई प्रवेश अथवा संयोग ही होता है जिसका फल उन्हें (दूध-मलाईको) बादको भोगना पड़े । इससे उक्त एकान्त सिद्धांत स्पष्ट सदोष जान पड़ता है ।

यदि यह कहा जाय कि चेतन ही बंधके योग्य होते हैं अचेतन नहीं, तो फिर कषाय-रहित वीतरागियोंके विषयमें आपत्तिको कैसे दाला जायगा ? वे भी अनेक प्रकारसे दूसरोके दुख-सुखके कारण बनते

हैं। उदाहरणके तौर पर—किसी मुसुल्लुको मुनिदीक्षा देते हैं तो उसके अनेक सम्बन्धियोंको दुख पहुँचता है। शिष्यों तथा जनताको शिक्षा देते हैं तो उससे उन लोगोंको सुख मिलता है। पूर्ण सावधानीके साथ ईर्यापथ शोधकर चलते हुए भी कभी कभी दृष्टिपथसे बाहरका कोई जीव अचानक कूदकर पैर तले आ जाता है और उनके उस पैरसे दबकर मर जाता है। कायोत्सर्गपूर्वक ध्यानावस्थामें स्थित होने पर भी यदि कोई जीव तेजीसे उडा-चला आकर उनके शरीरसे टकरा जाता है और मर जाता है तो इस तरह भी उस जीवके मार्गमें बाधक होनेसे वे उसके दुखके कारण बनते हैं। अनेक निर्जितकषाय ऋद्धिधारी वीतरागी साधुओंके शरीरके स्पर्श-मात्रसे अथवा उनके शरीरको स्पर्श की हुई वायुके लगनेसे ही रोगीजन नीरोग होजाते हैं और यथेष्ट सुखका अनुभव करते हैं। ऐसे और भी बहुतसे प्रकार हैं जिनमें वे दूसरोके सुख-दुखके कारण बनते हैं। यदि दूसरोके सुख-दुखका निमित्त कारण बननेसे ही आत्मामें पुण्य-पापका आस्रव-बन्ध होता है तो फिर ऐसी हालतमें वे कषाय-रहित साधु कैसे पुण्य-पापके बन्धनसे बच सकते हैं ? यदि वे भी पुण्य-पापके बन्धनमें पडते हैं तो फिर निर्बन्ध अथवा मोक्षकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती, क्योंकि बन्धका मूलकारण कषाय है। कहा भी है—

“कषायमूल सकल हि बन्धनम्।”

“सकषायत्वाज्जीव. कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादस्ते स बन्ध.।” और इसलिये अकषायभाव मोक्षका कारण है। जब अकषायभाव भी बन्धका कारण हो गया तब मोक्षके लिए कोई कारण नहीं रहता। कारणके अभावमें कार्यका अभाव हो जानेसे मोक्षका अभाव ठहरता है। और मोक्षके अभावमें बन्धकी भी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती, क्योंकि बन्ध और मोक्ष जैसे सप्रतिपक्ष धर्म परस्परमें अविनाभाव सम्बन्धको लिये होते हैं—एकके बिना दूसरेका अस्तित्व

बन नहीं सकता, यह बात इस स्तम्भके प्रथम निबन्धमें भले प्रकार स्पष्ट की जा चुकी है। जब बन्धकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती तब पुण्य-पापके बन्धकी कथा ही प्रलापमात्र हो जाती है। अतः चेतन-प्राणियोंकी दृष्टिसे भी पुण्य-पापकी उक्त एकान्त व्यवस्था सदोष है।

यहाँ पर यदि यह कहा जाय कि उन श्रवणाय जीवोंके दूसरोंकी सुख-दुख पहुँचानेका कोई स्वल्प या अभिप्राय नहीं होता, उस प्रकारकी कोई इच्छा नहीं होती और न उस विषयमें उनकी कोई आसक्ति ही होती है, इसलिये दूसरोंके सुख-दुखकी उत्पत्तिमें निमित्त-कारण होनेसे वे बन्धको प्राप्त नहीं होते, तो फिर दूसरोंमें दुःखोत्पादन पापका और सुखोत्पादन पुण्यका हेतु है, यह एकान्तसिद्धान्त कैसे बन सकता है?—अभिप्रायाभावके कारण अन्यत्र भी दुःखोत्पादनसे पापका और सुखोत्पादनसे पुण्यका बन्ध नहीं हो सकेगा, प्रत्युत इसके विरोधी अभिप्रायके कारण दुःखोत्पत्तिसे पुण्यका और सुखोत्पत्तिसे पापका बन्ध भी हो सकेगा। जैसे एक डाक्टर सुख पहुँचानेके अभिप्रायसे पूर्णसावधानीके साथ फोडेका ऑपरेशन करता है परन्तु फोडेको चीरते समय रोगीको कुछ अनिवार्य दुःख भी पहुँचता है, इस दुःखके पहुँचानेसे डाक्टरको पापका बन्ध नहीं होगा इतना ही नहीं, बल्कि उसकी दुःखविरोधिनी भावनाके कारण यह दुःख भी पुण्य-बन्धका कारण होगा। इसी तरह एक मनुष्य ब्रह्माभावके वशवर्ती होकर दुःख पहुँचानेके अभिप्रायसे किसी कुबड़ेको लात मारता है, लातके लगते ही अचानक उसका कुबड़ापन मिट जाता है और वह सुखका अनुभव करने लगता है, कहावत भी है—“कुबड़े गुण लात लग गई”—तो कुबड़ेके इस सुखानुभवसे लात मारनेवालेको पुण्यफलकी प्राप्ति नहीं हो सकती—उसे तो अपनी सुखविरोधिनी भावनाके कारण पाप ही लगेगा। अतः प्रथमपक्षवालोंका यह एकान्त सिद्धान्त कि ‘परमें सुख-दुःखका

उत्पादन पुण्य-पापका हेतु है' पूर्णतया सशेष है, और इसलिये उसे किसी तरह भी वस्तुतत्त्व नहीं कह सकते ।

अब दूसरे पक्षका दूषित ठहराते हुए आचार्यमहोदय लिखते हैं :—

पुण्य ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि ।

वीतरागो मुनिर्विद्वत्वाभ्या युज्यान्निमित्ततः ॥६३॥

‘यदि अपनेमे दुःखोत्पादनसे पुण्यका और सुखोत्पादनसे पापका बन्ध ध्रुव है—निश्चितरूपसे होता है ऐसा एकान्त माना जाय, तो फिर वीतराग (कषायरहित) और विद्वान् मुनिजन भी पुण्य-पापसे बँधने चाहियें, क्योंकि ये भी अपने सुख-दुखकी उत्पत्तिके निमित्त-कारण होते हैं ।’

भावार्थ—वीतराग और विद्वान् मुनिके त्रिकाल-योगादिके अनुष्ठान-द्वारा कायक्लेशादिरूप-दुःखकी और तत्त्वज्ञानजन्य-सतोष-लक्षणरूप सुखकी उत्पत्ति होती है । जब अपनेमे दुःख-सुखके उत्पादनसे ही पुण्य-पाप बँधता है तो फिर ये अकषाय जीव पुण्य-पापके बन्धनसे कैसे मुक्त रह सकते हैं ? यदि इनके भी पुण्य-पापका ध्रुव बन्ध होता है तो फिर पुण्य-पापके अभावको कभी अवसर नहीं मिल सकता, और न कोई मुक्त होनेके योग्य हो सकता है—पुण्य-पापरूप दोनों बन्धोंके अभावके बिना मुक्ति होती ही नहीं । और मुक्तिके बिना बन्धनादिककी भी कोई व्यवस्था स्थिर नहीं रह सकती, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है । यदि पुण्य-पापके अभाव-बिना भी मुक्ति मानो जायगो तो सत्त्विके—ससार अथवा सासारिक जीवनके—अभावका प्रसंग आएगा, जो पुण्य-पापकी व्यवस्था माननेवालोंमेंसे किसीको भी इष्ट नहीं है । ऐसी हालतमें आत्म-सुख-दुःखके द्वारा पाप-पुण्यके बन्धनका यह एकान्त-सिद्धान्त भी सशेष है ।

यहाँ पर यदि यह कहा जाय कि अपनेमें दुःख-सुखकी उत्पत्ति

होने पर भी तत्त्वज्ञानी बीतरागियोंके पुरण्य-पापका बन्ध इसलिये नहीं होता कि उनके दुख-सुखके उत्पादनका अभिप्राय नहीं होता, बैसे कोई इच्छा नहीं होती और न उस विषयमें आसक्ति ही होती है, तो फिर इससे तो अनेकान्त-सिद्धान्तकी ही सिद्धि होती है—उक्त एकान्तकी नहीं। अर्थात् यह नतीजा निकलता है कि अभिप्रायको लिये हुए दुख-सुखका उत्पादन पुरण्य-पापका हेतु है, अभिप्रायविहीन दुख-सुखका उत्पादन पुरण्य-पापका हेतु नहीं है।

अतः उक्त दोनों एकान्त सिद्धान्त प्रमाणसे बाधित हैं, इष्टके भी विरुद्ध पड़ते हैं और इसलिये ठीक नहीं कहे जा सकते।

इन आपत्तियोंसे बचने आदि के कारण जो लोग दोनों एकान्तोंको अगीकार करते हैं, परन्तु स्याद्वादके सिद्धांतको नहीं मानते—अपेक्षा-अनपेक्षाको स्वीकार नहीं करते—अथवा अवाच्यतैकान्तका अवलम्बन लेकर पुरण्य-पापकी व्यवस्थाको 'अवक्तव्य' बतलाते हैं उनकी मायतामें—

“विरोधाभासभयैकात्म्य स्याद्वाद-न्याय विद्विषाम् ।

अवाच्यतैकान्तोऽप्युक्तर्नावाच्यमांतं युज्यत ॥”

इस कारिका (न० ६४) के द्वारा विरोधादि दूषण देनेके अनन्तर, स्वामी समन्तभद्रने स्व-परस्थ सुख-दुःखादिकी दृष्टिसे पुरण्य-पापकी जो सम्यक् व्यवस्था अर्हन्मतानुसार बतलाई है उसकी प्रतिपादक-कारिका इस प्रकार है —

विशुद्धि-सकलेशाङ्ग चेत्स्व-परस्थ सुखाऽसुखम् ।

पुरण्य-पापास्त्रयौ युक्तौ न चद् व्यर्थस्तथाऽहम् ॥६५॥

इसमें बतलाया है कि—‘अर्हन्तके मतमें सुख-दुःख आत्मस्थ हो या परस्थ—अपनेको हो या दूसरेको—वह यदि विशुद्धिका अंग है तो उस पुरण्यास्रवका, सकलेशका अंग है तो उस पापास्रवका हेतु है, जो युक्त है—सार्थक अथवा बन्धकर है—और यदि विशुद्धि तथा सकलेश दोनोंमेंसे किसीका अंग नहीं है तो पुरण्य-पापमेंसे किसीके

भी युक्त आस्रवका—बन्धव्यवस्थापक साम्प्रायिक आस्रवका—हेतु नहीं है । (बन्धाऽभावके कारण) वह व्यर्थ होता है—उसका कोई फल नहीं ।

यहाँ 'सक्लेश' का अभिप्राय आत-रौद्रध्यानके परिणामसे है—'आत-रौद्र-ध्यानपरिणाम सक्लेश' ऐसा अकलंकदेवने 'अष्टशती' टीकामें स्पष्ट लिखा है और श्रीविद्यानन्दने भी उसे 'अष्टसहस्री' में अपनाया है । 'सक्लेश' शब्दके साथ प्रतिपक्षरूपसे प्रयुक्त होनेके कारण 'विशुद्धि' शब्दका अभिप्राय 'सक्लेशाऽभाव' है ('तदभाव विशुद्धिः' इत्यकलंक)—उस क्षायिकलक्षणा तथा अविनश्वरी परमशुद्धिका अभिप्राय नहीं है जो निरवशेष-रागादिके अभावरूप होती है । उस विशुद्धिमें तो पुण्य-पापबन्धके लिये कोई स्थान ही नहीं है । और इसलिये विशुद्धिका आशय यहाँ आत-रौद्रध्यानसे रहित शुभपरिणतिका है । वह परिणति धर्मध्यान तथा शुक्ल-ध्यानके स्वभावको लिये हुए होती है । ऐसी परिणतिके होने पर ही आत्मा स्वात्मामे—स्वस्वरूपमें—स्थितको प्राप्त होता है, चाहे वह कितने ही अशोमे दयो न हो । इसीसे अकलंकदेवने अपनी व्याख्यामें, इस सक्लेशाभावरूप विशुद्धिको 'आत्मन स्वात्मन्यव-स्थानम्' रूपसे उल्लिखित किया है । और इससे यह नतीजा निकलता है कि उक्त पुण्य-प्रसाधिका विशुद्धि आत्माके विकासमें सहायक होती है, जब कि सक्लेशपरिणतिमें आत्माका विकास नहीं बन सकता—वह पाप-प्रसाधिका होनेसे आत्माके अधपतनका कारण बनती है । इसीलिये पुण्यको प्रशस्त और पापको अप्रशस्त कर्म कहा गया है ।

विशुद्धिके कारण, विशुद्धिके कार्य और विशुद्धिके स्वभावको 'विशुद्धिअंग' कहते हैं । इसी तरह संक्लेशके कारण, सक्लेशके कार्य तथा स्वभावको 'सक्लेशाङ्ग' कहते हैं । स्व-पर-सुख-दुःख याद विशुद्धिअंगको लिये हुए होता है तो वह पुण्य-रूप शुभ-बन्धका और

संकलेशागको लिए हुए होता है तो पाप-रूप अशुभबन्धका कारण होता है, अन्यथा नहीं। तत्त्वार्थसूत्रमे, 'मिथ्यादर्शनाऽविरतिप्रस-
दकषाययोगा बन्धहेतव' इस सूत्रके द्वारा मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूपसे बन्धके जिन कारणोंका निर्देश किया है वे सब संक्लेशपरिणाम ही हैं, क्योंकि आर्त-रौद्रध्यानरूप परिणामों-
के कारण होनेसे 'संकलेशाङ्ग'मे शामिल हैं, जैसे कि हिंसादि-क्रिया [संक्लेशकार्य होनेसे संक्लेशाङ्गमें गमित है। अतः स्वामी समन्तभद्रके इस कथनसे उक्त सूत्रका कोई विरोध नहीं है। इसी तरह 'काय-
वाङ्मन कर्म योग', 'म आस्रव', 'शुभ पुण्यस्याऽशुभ पापस्य' इन तीन सूत्रोंके द्वारा शुभकायादि-व्यापारको पुण्यास्रवका और अशुभकायादि-व्यापारको पापास्रवका जो हेतु प्रतिपादित किया है वह कथन भी इसके विरुद्ध नहीं पड़ता, क्योंकि कायादि-योगके भी विशुद्धि और संक्लेशके कारण-कार्य-स्वभावके द्वारा विशुद्धित्व-संक्ले-
शत्वकी व्यवस्थिति है। संक्लेशके कारण-कार्य-स्वभाव ऊपर बतलाए जा चुके हैं, विशुद्धिके कारण सम्यग्दर्शनादिक हैं, धर्म्यध्यान तथा शुक्लध्यान उसके स्वभाव हैं और विशुद्धिपरिणाम उसका कार्य है। ऐसी हालतमें स्वपर-दुःखकी हेतुभूत कायादि-क्रियाएँ यदि संक्लेश-
कारण-कार्य-स्वभावको लिए हुए होती हैं तो वे संक्लेशाङ्गत्वके कारण, विषमक्षणादिरूप कायादिक्रियाओंकी तरह, प्राणियोंको अशुभफलदायक पुद्गलोंके सम्बन्धका कारण बनती हैं, और यदि विशुद्धि-कारण-कार्य-स्वभावको लिए हुए होती हैं तो विशुद्धयङ्गत्व-
के कारण, पथ्य आहारादिरूप कायादिक्रियाओंकी तरह, प्राणियोंके शुभफलदायक पुद्गलोंके सम्बन्धका कारण होती हैं। जो शुभफल-
दायक पुद्गल हैं वे पुण्यकर्म हैं, जो अशुभफलदायक पुद्गल हैं वे पापकर्म हैं, और इन पुण्य-पाप-कर्मोंके अनेक भेद हैं। इस प्रकार संक्षेपसे इस कारिकामें संपूर्ण शुभाऽशुभरूप पुण्य-पाप-कर्मोंके आ-
स्रव-बन्धका कारण सूचित किया है। इससे पुण्य-पापकी व्यवस्था

बतलानेके लिये यह कारिका कितनी रहस्यपूर्ण है, इसे विज्ञ-पाठक स्वयं समझ सकते हैं ।

साराश इस सब कथनका इतना ही है कि—सुख और दुःख दोनों ही, चाहे स्वस्थ हों या परस्थ—अपनेको ही या दूसरोको—कथंचित् पुण्यरूप आस्रव-बन्धके कारण हैं, विशुद्धिके अंग होनेसे, कथंचित् पापरूप आस्रव-बन्धके कारण हैं, सकलेशके अंग होनेसे, कथंचित् पुण्य-पाप उभयरूप आस्रव-बन्धके कारण हैं, क्रमापित-विशुद्धि-सकलेशके अंग होनेसे, कथंचित् अवक्तव्यरूप हैं, सहापित-विशुद्धि-सकलेशके अंग होनेसे । और विशुद्धि-सकलेशका अंग न होने पर दोनों ही बन्धके कारण नहीं हैं । इस प्रकार नय-विवक्षाको लिए हुए अनेकान्तमार्गसे ही पुण्य-पापकी व्यवस्था ठीक बैठती है—सर्वथा एकान्तपक्षका आश्रय लेनेसे नहीं । एकान्तपक्ष सदोष है, जैसा कि ऊपर बतलाया जाचुका है और इसलिये वह पुण्य-पापका सम्यक् व्यवस्थापक नहीं हो सकता ।

परिग्रहका प्रायश्चित्त

‘प्रायश्चित्त’ एक प्रकारका दण्ड अथवा तपोविधान है जो अपनी इच्छासे किया तथा लिया जाता है, और उसका उद्देश्य एव लक्ष्य होता है आत्मशुद्धि तथा लौकिक जनोकी चित्तशुद्धि । आत्माकी शुद्धिका कारण पापमल है—अपराधरूप आचरण है । प्रायश्चित्तके द्वारा पापका परिमार्जन और अपराधका शमन होता है, इसीसे प्रायश्चित्तको पापछेदन, मलापनयन, विशोधन और अपराधविशुद्धि जैसे नामोसे भी उल्लेखित किया जाता है^१ । इस दृष्टिसे ‘प्राय’ का अर्थ पाप-अपराध, और ‘चित्त’ का अर्थ शुद्धि है । पाप तथा अपराध करनेवाला जनताकी नजरमें गिर जाता है—जनता उसे घृणाकी दृष्टिसे-हिकारतकी नजरसे-देखने लगती है और उसके हृदयमें उसका जैसा चाहिए वैसा गौरव नहीं रहता । परन्तु जब वह प्रायश्चित्त कर लेता है—अपने अपराधका दण्ड ले लेता है—तो जनताका हृदय भी बदल जाता है और वह उसे ऊँची, प्रेम-

१ “रहस्य छेदन दण्डो मलापनयन तप ।

प्रायश्चित्ताभिधानानि व्यवहारो विशोधनम् ॥ ६ ॥”

“प्रायश्चित्तं नप इलाध्य येन पापं विशुध्यति ॥ १८३ ॥”

—प्रायश्चित्तसमुच्चय

“प्रायश्चित्ति चित्तयोरिति मुट् अपराधो प्राय, चित्त शुद्धि ।

प्रायस्य चित्तं प्रायश्चित्त—अपराधविशुद्धिरित्यर्थ ।” (राजवातिक)

की तथा गौरव-भरी दृष्टिसे देखने लगती है। इस दृष्टिसे प्राय का अर्थ 'लोक' तथा 'लोकमानस' है और चित्तका अर्थ वही 'शुद्धि' अथवा 'चित्तप्राहककर्म' समझना चाहिये^१।

परिग्रहको शास्त्रकारोंने, यद्यपि, पाप बतलाया है और हिसादि पच प्रधान-पापोंमें उसकी गणना की है, फिरभी लोकमें वह आम-तौरसे कोई पाप नहीं समझा जाता—हिसा, भूठ, चोरी और पर-स्त्री-सेवनादिरूप कुशीलको जिस प्रकार पाप समझा जाता है और अपराध माना जाता है उस प्रकार धन-धान्यादिरूप परिग्रहके सचयको—उसमें रचेपचे रहनेको कोई पाप नहीं समझता और न अपराध ही मानता है। इसीसे लोकमें परिग्रहके लिए कोई दंड-व्यवस्था नहीं—जो जितना चाहे परिग्रह रख सकता है। भारतीय दंडविधान (Indian penal code) में भी ऐसी कोई धारा नहीं, जिससे किसी भी परिग्रहीको अथवा अधिक धन-दौलत एकत्र करने-वाले तथा ससारकी अधिक सम्पत्ति-विभूति पर अपना अधिकार रखनेवाले गृहस्थको अपराधी एवं दंडका पात्र समझा जा सके। प्रत्युत इसके, जो लोग मिलो, कल-कारखानों और व्यापारादिके द्वारा विपुल धन एकत्र करके बहुविभूतिके स्वामी बनते हैं उन्हें लोकमें प्रतिष्ठित समझा जाता है, पुरण्याधिकारी माना जाता है और आदरकी दृष्टिसे देखा जाता है। ऐसी हालतमें उनके पापी तथा अपराधी होनेकी कोई कल्पना तक भी नहीं कर सकता—उन्हें वैसा कहने-सुननेकी तो बात ही कहाँ? तब फिर 'परिग्रहका प्रायश्चित्त' कैसा? और उसे पाप बतलाना भी कैसा?

यह ठीक है कि परिग्रहको लोकमें हिसादिक पापोंकी दृष्टिसे नहीं

१ 'प्रायो लोकस्य चित्त मानस। उक्त च—

प्राय इत्युच्यते लोकस्तस्य चित्त मनो भवेत्।

तच्चित्तप्राहक कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृत ॥" (प्रायश्चित्तसमु०)

देखा जाता, सभी उसकी चकाचौंधमें फँसे हैं, सभी उसके इच्छुक हैं और सभी अधिकाधिक रूपसे परिग्रहधारी बनना चाहते हैं। ऐसे अपरिग्रही सच्चे साधु भी प्रायः नहीं हैं जो अपने आचरण-बल और सातिशय-वाणीसे अपरिग्रहके महत्त्वको लोक-हृदयोपर भले प्रकार अंकित कर सकते—उन्हे उनकी भूल सुझा सकते, परिग्रहसे उनकी लालसा, गृद्धता एवं आसक्तताको हटा सकते, अनासक्त रहकर उसके उपभोग करने तथा लोकाहितार्थ वितरण करते रहनेका सच्चा सजीव पाठ पढ़ा सकते। कितने ही साधु तो स्वयं महापरिग्रहके धारी हैं—मठाधीश, महन्त—भट्टारक बने हुए हैं, और बहुतसे परिग्रहभक्त सेठ-साहूकारोंकी केवल हाँ में हाँ मिलानेवाले हैं, उनकी कृपाके भिखारी हैं, उनकी असत् प्रवृत्तियोंको देखते हुए भी सदैव उनकी प्रशंसाके गीत गाया करते हैं—उनकी लक्ष्मी, विभूति एवं परिग्रहकी कोरी सराहना किया करते हैं। उनमें इतना आत्मबल नहीं, आत्मतेज नहीं, हिम्मत नहीं, जो ऐसे महापरिग्रही धनिकोंकी आलोचना कर सकें—उनकी त्याग-शून्य निर्गल धन-दौलतके समग्रही प्रवृत्तिको पाप या अपराध बतलासके। इस प्रकार जब सभी परिग्रहकी कीचमें थोड़े बहुत घँसे हुए या सने हुए हैं तब फिर कौन किसीकी तरफ अगुली उठावे और उसे अपराधी-पापी ठहरावे ? ऐसी हालतमें परिग्रहको आमतौर पर यदि पाप नहीं समझा जाता और न अपराध ही माना जाता है तो इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है।

परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी परिग्रह पापकी—अपराधकी—कोटिसे निकल नहीं जाता। उसे पाप या अपराध न मानना अथवा तद्गुण न देखना दृष्टिविकारका ही एकमात्र परिणाम जान पड़ता है। घटूरा खाकर दृष्टिविकारको प्राप्त हुआ मनुष्य अथवा पीलियारोगका रोगी यदि सफेद शक्लको भी पीला देखता है तो उससे वह शक्ल पीला नहीं हो जाता और न उसका शुक्ल गुण ही नष्ट हो जाता है। अथवा ठगोंका समाज यदि झूठ बोलने और

चोरी करनेको पाप नहीं समझता तो उससे झूठ और चोरी पापकी कोटिसे नहीं निकल जाते । ठीक इसी तरह मोह-मदिरा पीकर दृष्टि-विकारको प्राप्त हुआ ससार यदि परिग्रहको पापरूपमें नहीं देखता और न उसे कोई अपराध ही समझता है तो सिर्फ इतनेसे ही यह नहीं कहा जा सकता कि परिग्रह कोई पाप या अपराध ही नहीं रहा, और इसलिए उसका प्रायश्चित्त भी न होना चाहिए । वास्तवमें मूर्खों, ममत्व-परिणाम अथवा 'ममेद' (यह मेरा) के भावको लिए हुए परिग्रह एक बहुत बड़ा पाप है, जो आत्माको सब ओरसे पकड़े-जकड़े रहता है और उसका विकास नहीं होने देता । इसीसे श्रीपूज्य-पाद और अकलकदेव जैसे महान् आचार्योंने सर्वार्थसिद्धि तथा राज-वार्तिक आदि ग्रन्थोंमें 'तन्मूला सर्वे दोषा', 'तन्मूला सर्वदोषा-नुषंगा' इत्यादि वाक्योंके द्वारा परिग्रहको सर्वदोषोका मूल बतलाया है^१ । और यह बिल्कुल ठीक है—परिग्रहके होनेपर उसके संरक्षण-अभिवर्धनादिकी ओर प्रवृत्ति होती है, संरक्षणादि करनेके लिये अथवा उसमें योग देते हुए हिंसा करनी पड़ती है, झूठ बोलना पड़ता है, चोरी करनी होती है, मैथुनकर्ममें चित्त देना पड़ता है, चित्त विक्षिप्त रहता है, क्रोधादिक कषायें जाग उठती हैं, राग-द्वेषादिक सत्ताते हैं, भय सदा घेरे रहता है, रौद्रध्यान बना रहता है, तृष्णा बढ़ जाती है, आरम्भ बढ़ जाते हैं, नष्ट होने अथवा क्षति पहुँचनेपर शोक-सत्ताप आ दबाते हैं, चिन्ताओंका ताँता लगा रहता है और निराकुलता कभी पास नहीं फटकती । नतीजा इस सबका होता है अन्तमें नरकका वास, जहाँ नाना प्रकारके दारुण दुखोंसे पाला पड़ता है और कोई भी रक्षक एवं शरण नजर नहीं आता ।

१. ज्ञानार्णवमें शुभचन्द्राचार्यने बाह्य परिग्रहको 'निःशेषानर्थ-मन्दिर' लिखा है, क्योंकि उसके कारण अविद्यमान होते हुए भी रागादिक शब्द क्षणमात्रमें उत्पन्न होकर अनिष्ट अथवा अनर्थ कर डालते हैं ।

इसीसे परभागममे बहुआरम्भी — बहुपरिग्रहीको नरकका अधिकारी बतलाया है, क्योंकि बहुआरम्भ (प्राणिपीडा-हेतु-व्यापार) और बहुपरिग्रह दोनों ही सिद्धान्तमें नरकायुके आस्रवके कारण कहे गये हैं^१ । ऐसी हालतमे परिग्रहको पाप न मान कर उसका प्रायश्चित्त न करना और उसे भविष्यकी ओरसे आँखे बन्द करके बराबर बढ़ाते रहना, नि सन्देह, बड़ी भारी भूल है—आत्म-वचना है । इस भूलके वश परिग्रह-पापकी पोट बढ़ते बढ़ते मनुष्यको घोर श्वभ्र-सागर अथवा दुःखसागरमें ले डूबती है, जहाँसे उद्धार पाना फिर

१ इस विषयमे पुरातन आचार्योंक निम्न वाक्य भी ध्यानमे रखने योग्य हैं, जिनसे इस विषयकी कितनी ही पुष्टि होती है —

“ के पुनस्ते सर्वदोषानुषङ्गा ? ममेदमिति हि मति मकल्पे सरक्षणाय सजायन्ते । तत्र च हिमाऽवश्यभाविनी, तदर्थमनृन जन्पति, चौर्यं चाचरति, मैथुने च कर्मणि प्रयतते । तत्तत्प्रभवा नरकादिषु दुःखप्रकारा । इहाऽपि अनुपरतव्यसनमहाणं वाऽवगाहनम् ।”

—राजवार्तिक-भाष्ये, अकलक

“परिग्रहवता सता भयमवश्यमापद्यते,

प्रकोप-परिहसने च परुषाऽनृत-व्याहृती ।

ममन्वमथ चोरता स्वमनसश्च विभ्रान्तता,

कुतो हि कलुषात्मना परमशुक्ल-मद्-ध्यानता ॥४२॥—पात्रकेसरिस्तोत्र

“बह्वारम्भ परिग्रहत्व नारकस्यायुषः” (नृत्वायंसूत्र ६-१५)

‘एतदुक्तं भवति—परिग्रहप्रणिधानप्रयुक्ता तीव्रतरपरिणामा हिंसापरा बहुशो विजृम्भिताऽनुमता भाविताश्च तत्कृतकमर्तिसात्करणात् तप्ताय पिण्डवत् अहितक्रोधाद्यर्था नारकस्यायुष आस्रव इति संक्षेपः । तद्विस्तरस्तु... ।’ (राजवार्तिक-भाष्य)

“आरम्भो जन्तुधातश्च कषायश्च परिग्रहात् ।

जायन्तेऽत्र ततः पातः प्राणिनां श्वभ्रसागरे ॥” (ज्ञानार्णव)

बहुत ही कठिन, गुरुतर-कष्टसाध्य तथा असह्य वर्षोंका कार्य हो जाता है। और इसलिए वे ही मनुष्य विवेकी हैं, वे ही बुद्धिमान हैं और वे ही आत्महितैषी एवं धर्मात्मा हैं जो इस भूल तथा आत्म-वचनाके चक्करमें न पड़कर अनासक्तिके द्वारा परिग्रहका अधिकभार अपने आत्मा पर पड़ने नहीं देते, और प्रायश्चित्तादिके द्वारा बराबर उसकी काट-छाट करके अपने आत्माको सदैव हलका रखते हैं।

अब देखना यह है कि परिग्रहका प्रायश्चित्त क्या है ? परिग्रह-का समुचित प्रायश्चित्त अनार्साक्तिके साथ साथ उसका त्याग है, जो ग्रहणकी विपरीत दिशाको लिए हुए होनेसे यथार्थ जान पड़ता है। शीतका प्रतिकार जिस प्रकार उष्णसे और उष्णका प्रतिकार शीत-से होता है, उसी प्रकार ग्रहरूप परिग्रहका प्रतिकार उसके त्याग-से ही ठीक बनता है। प्रायश्चित्तके दस अथवा नव भेदोंमें 'त्याग' नामका भी एक प्रायश्चित्त है, जिसे 'विवेक' भी कहते हैं^१। त्याग-का दूसरा नाम 'दान' है, और इसलिए परिग्रहसे मोह हटाकर अथवा अपनी धन-सम्पत्तिसे ममत्वपरिणामको दूर करके लोक-सेवाके कामोंमें उसका वितरण करना—दे डालना, यह परिग्रहका समुचित प्रायश्चित्त है। परन्तु यह दान अथवा त्याग ख्याति-लाभ-पूजादिककी दृष्टिसे न होना चाहिये और न इसमें दूसरो पर अनुग्रह और कृपाकी कोई ग्रहभावना ही रहनी चाहिये। जो दान ख्याति-लाभ-पूजादिक-की दृष्टिसे दिया जाता है अथवा जिसमें दूसरो पर अनुग्रह और कृपाकी ग्रहभावना रहती है वह प्रायश्चित्तकी कोटिमें नहीं आता—वह दूसरे प्रकारका साधारण दान है। प्रायश्चित्तकी दृष्टि तो अपने पापका संशोधन अथवा अपराधका परिमार्जन करके आत्मशुद्धि

१ आलोचना प्रतिक्रान्तिद्वय त्यागो विसर्जन ।

तप छेदोऽपि मूल च परिहारोऽभिरोचनम् ॥ (प्रायश्चित्तसमु० १८५)

“आलोचन-प्रतिक्रमण-तदुभय-विवेक-व्युत्सर्गः” (तत्त्वार्थसूत्र ६-२०)

करनेकी ओर होती है। और इसलिए उसका करनेवाला दान करके किसी पर कोई अहसान-अनुग्रह नहीं बतलाता और न उससे अपना कोई लौकिक लाभ ही लेना चाहता है। वह तो समझता है कि—मैंने अपनी जरूरतसे अधिक परिग्रहका सचय करके दूसरोको उसके भोग-उपभोगसे वंचित रखनेका अपराध किया है, उसके अर्जन वर्द्धन-रक्षणादिमें मुझे कितने ही पाप करने पड़े हैं, उसका निर्गल बढ़ते रहना पापका-आत्माके पतनका-कारण है।' और इसलिये वह विवेकको अपनाकर तथा ममत्वको घटाकर अपनेको पाप-भारसे हलका रखनेकी दृष्टिसे उसका लोक-हितार्थ त्याग करता है—दान करता है। दानके इन दोनो प्रकारोंमें परस्पर कितना बड़ा अन्तर है, इसे सहृदय पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

नि सन्देह, परिग्रहमें पापबुद्धिका होना, उसके प्रायश्चित्तकी बराबर भावना रखना और समय-समयपर उसे करते रहना विवेकका-अनासक्तिका सूचक है और साथ ही आत्माकी जागृतिका-उत्थानका द्योतक है। यदि समाजमें दानके पीछे प्रायश्चित्त-जैसी सद्भावनाएँ काम करने लगे तो उसका शीघ्र ही उत्थान हो सकता है और वह ठीक अर्थमें सचमुच ही एक आदर्श धार्मिक-समाज बन सकता है। सद्गृहस्थोकी नित्य-नियमसे की जानेवाली देवपूजादि षट् आवश्यक क्रियाओंमें जो दानका विधान (समावेश) किया गया है उसका आशय संभवतः यही जान पड़ता है कि नित्यके आरम्भ-परिग्रह-जानित पापका नित्य ही थोड़ा-बहुत प्रायश्चित्त होता रहे जिससे पापका बोझ अधिक बढ़ने न पावे और गृहस्थजन निराकुलता-पूर्वक धर्मका साधन कर सकें—उसमें बाधा न आवे।

हार्दिक भावना है कि देश तथा समाजमें बहुलतासे ऐसे आदर्श त्यागी एवं दानी पैदा हो, जो परिग्रहको पाप समझते हुए उसमें आसक्ति न रखते हो और प्रायश्चित्तके रूपमें अपनी धन-सम्पत्तिका सदा लोकसेवाके कार्योंमें समुचित विनियोग करते रहें।

३५

छोटापन और बड़ापन

एक दिन अध्यापक वीरभद्रने, अपने विद्यार्थियोंको नया पाठ पढ़ानेके लिये बोर्डपर तीन-इंचकी _____

एक लाइन खींचकर विद्यार्थीसे पूछा—

बतलाओ यह लाइन छोटी है या बड़ी ?

विद्यार्थीने चटसे उत्तर दिया—‘यह तो छोटी है ।’

इसपर अध्यापकने उस लाइनके नीचे एक-इंचकी दूसरी लाइन बनाकर फिरसे पूछा— _____,

‘अब ठीक देखकर बतलाओ कि _____’

ऊपरकी लाइन न० १ बड़ी है या छोटी ?

विद्यार्थी देखते ही बोल उठा—‘यह तो साफ बड़ी नज़र आती है ।’

अध्यापक—अभी तुमने इसे छोटी बतलाया था ?

विद्यार्थी—हाँ, बतलाया था, वह मेरी भूल थी ।

इसके बाद अध्यापकने, प्रथम लाइन न० १ के ऊपर पाँच-इंचकी लाइन बनाकर और नीचेवाली एक-इंचकी लाइनको मिटाकर फिरसे पूछा— _____,

‘अच्छा, अब बतलाओ, _____’

नीचेकी लाइन न० १ छोटी है या बड़ी ?

विद्यार्थी कुछ असमजसमे पड गया और आखिर तुरत ही कह उठा—‘यह तो अब छोटी हो गई है ।’

‘छोटी कैसे हो गई ? क्या किसीने इसमेसे कोई टुकड़ा तोड़ा है या इसके किसी अंशको मिटाया है ?—हमने तो इसे छुआ तक भी नहीं । अथवा तुमने इसे जो पहले ‘बड़ी’ कहा था वह कहना भी तुम्हारा गलत था ?’ अध्यापक ने पूछा ।

‘पहले जो मैंने इसे ‘बड़ी’ कहा था वह कहना मेरा गलत नहीं था और न उस लाइनमेंसे किसीने कोई टुकड़ा तोड़ा है या उसके किसी अंशको मिटाया है—वह तो ज्योकी त्यों अपने तीन-इंचीके रूपमें स्थित है । पहले आपने इसके नोचे एक-इचकी लाइन बनाई थी, इससे यह बड़ी नजर आती थी और इसीलिये मैंने इसे बड़ी कहा था, अब आपने उस एक-इचकी लाइनको मिटाकर इसके ऊपर पाँच इचकी लाइन बना दी है, इससे यह तीन-इचकी लाइन छोटी हो पड़ी—छोटी नजर आने लगी, और इसीसे मुझे कहना पडा कि ‘यह तो अब छोटी हो गई है ।’ विद्यार्थीने उत्तर दिया ।

अध्यापक—अच्छा, सबसे पहिले तुमने इस तीन-इची लाइनको जो छोटी कहा था उसका क्या कारण था ?

विद्यार्थी—उस समय मैंने यह देखकर कि बोर्ड बहुत बड़ा है और यह लाइन उसके एक बहुत छोटेसे हिस्सेमे आई है, इसे ‘छोटी’ कह दिया था ।

अध्यापक—फिर इसमे तुम्हारी भूल क्या हुई ? यह तो ठीक ही है—यह लाइन बोर्डसे छोटी है, इतना ही क्यों ? यह तो टेबिलसे भी छोटी है, कुर्सीसे भी छोटी है, इस कमरेके किवाडसे भी छोटी है, दीवारसे भी छोटी है, और तुम्हारी-मेरी लम्बाईसे भी छोटी है ।

विद्यार्थी—इस तरह तो मेरे कहनेमे भूल नहीं थी—भूल मान लेना ही भूल थी ।

अब अध्यापकने उस

मिट्टाई हुई एक-इंची लाइनको फिरसे

नीचे बना दिया और सवाल किया कि—

‘तीनो लाइनोकी इस स्थितिमे तुम बीचकी उसी नम्बर १ वाली लाइनको छोटी कहोगे या बड़ी ?’

विद्यार्थी—मैं तो अब यूँ कहूँगा कि यह ऊपरवाली लाइन न० ३ से छोटी और नीचेवाली लाइन न० २ से बड़ी है ।

अध्यापक—अर्थात् इसमे छोटापन और बडापन दोनों हैं और दोनों गुण एक साथ है ?

विद्यार्थी—हाँ, इसमे दोनों गुण एक साथ हैं ।

अध्यापक—एक ही चीजको छोटी और बड़ी कहनेमे क्या तुम्हें कुछ विरोध मालूम नहीं होता ? जो वस्तु छोटी है वह बड़ी नहीं कहलाती और जो बड़ी है वह छोटी नहीं कही जाती । एक ही वस्तुको ‘छोटी’ कहकर फिर यह कहना कि ‘छोटी नहीं, बड़ी है’ यह कथन तो लोक-व्यवहारमे विरुद्ध जान पड़ेगा । लोकव्यवहारमे जिस प्रकार ‘हाँ’ कहकर ‘ना’ कहना अथवा विधान करके निषेध करना परस्पर विरुद्ध, असंगत और अप्रामाणिक समझा जाता है उसी प्रकार तुम्हारा यह एक चीजको छोटी कहकर बड़ी कहना अथवा एक ही वस्तुमे छोटेपनका विधान करके फिर उसका निषेध कर डालना—उसे बड़ी बतलाने लगना—क्या परस्पर विरुद्ध, असंगत और अप्रामाणिक नहीं समझा जायगा ? और जिस प्रकार अन्धकार तथा प्रकाश दोनों एक साथ नहीं रहते उसी प्रकार छोटापन और बडापन दोनों गुणों (धर्मों) के एक साथ रहनेमे क्या विरोध नहीं आएगा ?

यह सब सुनकर विद्यार्थी कुछ सोच-सीमे पड़ गया और मन-ही-मन उत्तरकी खोज करने लगा, इतनेमे अध्यापकजी उसकी

विचार-समाधिको भग करते हुए बोल उठे—

‘इसमें अधिक सोचने-विचारनेकी बात क्या है ? एक ही चीज-को छोटी-बड़ी दोनों कहनेमें विरोध तो तब आता है जब जिस दृष्टि अथवा अपेक्षासे किसी चीजको छोटा कहा जाय उसी दृष्टि अथवा अपेक्षासे उसे बड़ा बतलाया जाय । तुमने मध्यकी तीन-इंची लाइनको ऊपरकी पाँच-इंची लाइनसे छोटी बतलाया है, यदि पाँच-इंचवाली लाइनकी अपेक्षा ही उसे बड़ी बतला देते तो विरोध आ जाता, परन्तु तुमने ऐसा न करके उसे नीचेकी एक इंच-वाली लाइनसे ही बड़ा बतलाया है, फिर विरोधका क्या काम ? विरोध वही आता है जहाँ एक ही दृष्टि (अपेक्षा) को लेकर विभिन्न प्रकार-के कथन किए जायँ, जहाँ विभिन्न प्रकारके कथनोंके लिये विभिन्न दृष्टियों-अपेक्षाओंका आश्रय लिया जाय वहाँ विरोधके लिये कोई अवकाश नहीं रहता । एक ही मनुष्य अपने पिताकी दृष्टिसे पुत्र है और अपने पुत्रकी दृष्टिसे पिता है—इसमें पुत्रपन और पितापनके दोनों धर्म एक साथ रहते हुए भी जिस प्रकार दृष्टिभेद होनेसे विरोधको प्राप्त नहीं होते उसी प्रकार एक दृष्टिसे किसी वस्तुका विधान करने और दूसरी दृष्टिसे निषेध करने अथवा एक अपेक्षासे ‘हाँ’ और दूसरी अपेक्षासे ‘ना’ करनेमें भी विरोधकी कोई बात नहीं है । ऐसे ऊपरी अथवा शब्दोंमें ही दिखाई पड़नेवाले विरोधको ‘विरोधाभास’ कहते हैं—वह वास्तविक अथवा अर्थकी दृष्टिसे विरोध नहीं होता, और इसलिये पूर्वापरविरोध तथा प्रकाश-अन्धकार-जैसे विरोधके साथ इसकी कोई तुलना नहीं की जा सकती । और इसीलिये तुमने जो बात कही वह ठीक है । तुम्हारे कथनमें दृढ़ता लानेके लिए ही मुझे यह सब स्पष्टीकरण करना पड़ा है । आशा है अब तुम छोटे-बड़ेके तत्त्वको खूब समझ गये होंगे ।

बिद्यार्थी—हाँ, खूब समझ गया, अब नहीं भूलूँगा ।

अध्यापक - अच्छा, तो इतना और बतलाओ—‘इन ऊपर-

नीचेकी दोनो बड़ी-छोटी लाइनोंको यदि मिटा दिया जाय और मध्यकी उस न० १ वाली लाइनको ही स्वतन्त्र रूपमें स्थिर रक्खा जाय—दूसरी किसी भी बड़ी-छोटी चीजके साथ उसकी तुलना या अपेक्षा न की जाय, तो ऐसी हालतमें तुम इस लाइन न० १ को स्वतन्त्रभावसे—कोई भी अपेक्षा अथवा दृष्टि साथमें न लगाते हुए—छोटी कहोगे या बड़ी ?

विद्यार्थी—ऐसी हालतमें तो मैं इसे न छोटी कह सकता हूँ और न बड़ी ।

अध्यापक—अभी तुमने कहा था 'इसमें दोनो (छोटापन और बड़ापन) गुण एक साथ हैं' फिर तुम इसे छोटी या बड़ी क्यों नहीं कह सकते ? दोनो गुणोंको एक साथ [कहनेकी वचनमें शक्ति न होनेसे यदि युगपत् नहीं कह सकते तो क्रमसे तो कह सकते हो ? वे दोनो गुण वही चले तो नहीं गये ? गुणोंका तो अभाव नहीं हुआ करता—भले ही तिरोभाव (आच्छादन) हो जाय, कुछ समयके लिये उनपर पर्दा पड़ जाय और वे स्पष्ट दिखलाई न पड़े ।

विद्यार्थी फिर कुछ रुका और सोचने लगा । अन्तको उसे यही कहते हुए बन पड़ा—'बिना अपेक्षाके किसीको छोटा या बड़ा कैसे कहा जासकता है ? पहले जो मैंने इस लाइनको 'छोटी' तथा 'बड़ी' कहा था वह अपेक्षासे ही कहा था, अब आप अपेक्षाको बिल्कुल ही अलग करके पूछ रहे हैं तब मैं इसे छोटी या बड़ी कैसे कह सकता हूँ, यह मेरी कुछ भी समझमें नहीं आता । आप ही समझाकर बतलाइये ।'

अध्यापक—तुम्हारा यह कहना बिल्कुल ठीक है कि 'बिना अपेक्षाके किसीको छोटा या बड़ा कैसे कहा जा सकता है ? अर्थात् नहीं कहा जासकता । अपेक्षा ही छोटेपन या बड़ेपनका मापदण्ड है—मापनेका गज है ? जिस अपेक्षा-गजसे किसी वस्तुविशेषको मापा जाता है वह गज यदि उस वस्तुके एक अंशमें आजाता है—उसमें

समा जाता है—तो वह वस्तु 'बड़ी' कहलाती है । और यदि उस वस्तुसे बड़ा रहता—बाहरको निकला रहता— है तो वह 'छोटी' कही जाती है । वास्तवमें कोई भी वस्तु स्वतन्त्ररूपसे अथवा स्वभावसे छोटी या बड़ी नहीं है—स्वतन्त्ररूपसे अथवा स्वभावसे छोटी या बड़ी होने पर वह सदा छोटी या बड़ी रहेगी, क्योंकि स्वभावका कभी अभाव नहीं होता । और इसलिये किसी भी वस्तुमें छोटापन और बड़ापन ये दोनो गुण परतन्त्र, पराश्रित, परिकल्पित, आरोपित, सापेक्ष अथवा परापेक्षिक ही होते हैं, स्वाभाविक नहीं । छोटेके अस्तित्व-बिना बड़ापन और बड़ेके अस्तित्व-बिना छोटापन कही होता ही नहीं । एक अपेक्षासे जो वस्तु छोटी है वही दूसरी अपेक्षासे बड़ी है और जो एक अपेक्षासे बड़ी है वही दूसरी अपेक्षासे छोटी है । इसीलिये कोई भी वस्तु सर्वथा (बिना अपेक्षाके) छोटी या बड़ी न तो होती है और न कही जा सकती है । किसीको सर्वथा छोटा या बड़ा कहना 'एकान्त' है । जो मनुष्य किसीको सर्वथा छोटा या बड़ा कहता है वह उसको सब ओरसे अवलोकन नहीं करता—उसके सब पहलुओ अथवा अंगोपर दृष्टि नहीं डालता—न सब ओरसे उसकी तुलना ही करता है, सिक्केकी एक साइड (side) को देखनेकी तरह वह उसे एक ही ओरसे देखता है और इसलिये पूरा देख नहीं पाता । इसीसे उसकी दृष्टिको 'सम्यक्दृष्टि' नहीं कह सकते और न उसके कथनको 'सच्चा कथन' ही कहा जा सकता है । जो मनुष्य वस्तुको सब ओरसे देखता है, उसके सब पहलुओ अथवा अंगो पर दृष्टि डालता है और सब ओरसे उसकी तुलना करता है वह 'अनेकान्तदृष्टि' है—'सम्यक्दृष्टि' है । ऐसा मनुष्य यदि किसी वस्तुको छोटी कहना चाहता है तो कहता है—'एक प्रकारसे छोटी है,' 'अमुककी अपेक्षा छोटी है,' 'कथंचित् छोटी है' अथवा 'स्यात् छोटी' है । और यदि छोटी-बड़ी दोनो कहना चाहता है तो कहता है—'छोटी भी है

और बड़ी भी, एक प्रकारसे छोटी है—दूसरे प्रकारसे बड़ी है, अमुक-की अपेक्षा छोटी और अमुककी अपेक्षा बड़ी है अथवा कथंचित् छोटी और बड़ी दोनों है।' और उसका यह वचन-व्यवहार एकान्त-कदाग्रहकी ओर न जाकर वस्तुका ठीक प्रतिपादन करनेके कारण 'सच्चा' कहा जाता है। मैं समझता हूँ कि अब तुम इस विषयको और अच्छी तरहसे समझ गये होंगे।

विद्यार्थी—(पूर्ण सन्तोष व्यक्त करते हुए) हाँ, बहुत अच्छी तरहसे समझ गया हूँ। पहले समझनेमें जो कच्चाई रह गई थी वह भी अब आपकी इस व्याख्यासे दूर हो गई है। आपने मेरा बहुत कुछ अज्ञान दूर किया है, और इसलिये मैं आपके आगे नत-मस्तक हूँ।

अध्यापक वीरभद्रजी अभी इस विषय पर और भी कुछ प्रकाश डालना चाहते थे कि इतनेमें घटा बज गया और उन्हें दूसरी कक्षा-जाना पड़ा।

३६

बड़ेसे छोटा और छोटेसे बड़ा

अध्यापक धीरभद्रने दूसरी कक्षामें पहुँच कर उस कक्षाके विद्यार्थियोंको भी वही नया पाठ पढ़ाना चाहा जिसे वे अभी अभी इससे पूर्वकी एक कक्षामें पढ़ाकर आये थे, परन्तु यहाँ उन्होंने पढ़ानेका कुछ दूसरा ही ढंग अख्तियार किया। वे बोर्ड पर तीन-इंचकी लाइन खींचकर एक विद्यार्थीसे बोले—‘क्या तुम इस लाइनको छोटी कर सकते हो?’

विद्यार्थीने उत्तर दिया—‘हाँ, कर सकता हूँ’ और वह उस लाइनको इधर-उधरसे कुछ मिटानेकी चेष्टा करने लगा।

यह देख कर अध्यापकमहोदयने कहा—‘हमारा यह मतलब नहीं है कि तुम इस लाइनके सिरोंको इधर-उधरसे मिटाकर अथवा इसमेंसे कोई टुकड़ा तोड़कर इसे छोटी करो। हमारा आशय यह है कि यह लाइन अपने स्वरूपमें ज्योंकी त्यों स्थिर रहे, इसे तुम छूओ भी नहीं और छोटी कर दो।’

यह सुन कर विद्यार्थी कुछ भौंचक-सा रह गया। तब अध्यापकने कहा—‘अच्छा, तुम इसे छोटी नहीं कर सकते तो क्या बिना छुए बड़ी कर सकते हो?’

विद्यार्थीने कहा—‘हाँ, कर सकता हूँ, और यह कहकर उसने दो इंचकी एक लाइन उस लाइनके बिल्कुल सीधमें उसके एक

सिरेसे सटाकर बनादी और इस तरह उसे पाँच इंचकी लाइन कर दिया ।

इस पर अध्यापकमहोदय बोल उठे—

‘यह क्या किया ? हमारा अभिप्राय यह नहीं था कि तुम इसमें कुछ टुकड़ा जोड़कर इसे बड़ी बनाओ, हमारी मन्शा यह है कि इसमें कुछ भी जोड़ा न जाय, लाइन अपने तीन इंचके स्वरूपमें ही स्थिर रहे—पाँच-इंच जैसी न होने पावे—और बिना छुए ही बड़ी कर दी जाय ।’

विद्यार्थी—यह कैसे हो सकता है ? ऐसा तो कोई जादूगर ही कर सकता है ।

अध्यापक—(दूसरे विद्यार्थियोंसे) अच्छा, तुम्हारेमेंसे कोई विद्यार्थी इस लाइनको हमारे अभिप्रायानुसार छोटी या बड़ी कर सकता है ?

सब विद्यार्थी—हमसे यह नहीं हो सकता । इसे तो कोई जादूगर या मन्त्रवादी ही कर सकता है ।

अध्यापक—जब जादूगर या मन्त्रवादी इसे बड़ी-छोटी कर सकता है और यह बड़ी-छोटी हो सकती है तब तुम क्यों नहीं कर सकते ?

विद्यार्थी—हमें बड़ेसे छोटा और छोटेसे बड़ा करनेका वह जादू या मन्त्र आता नहीं ।

‘अच्छा, हमें तो वह जादू करना आता है । बतलाओ इस लाइनको पहले छोटी करे या बड़ी ?’ अध्यापकने पूछा ।

‘जैसी आपकी इच्छा, परन्तु आप भी इसे छूएँ नहीं और इसे अपने स्वरूपमें स्थिर रखते हुए छोटी या बड़ी करके बतलाएँ,’ विद्यार्थियोंने उत्तरमें कहा ।

‘ऐसा ही होगा’ कहकर, अध्यापकजीने विद्यार्थियोंसे कहा—
‘तुम इसके दोनो ओर मार्क कर दो—पहचानका कोई चिन्ह बना

दो, जिससे इसमें कोई तोड़-जोड़ या बदल-सदल न हो सके और यदि हो तो उसका शीघ्र पता चलजाय ।' विद्यार्थीने दोनों और दो फूलकेसे चिन्ह बना दिये । फिर अध्यापकजीने कहा 'फुटा रखकर इसकी पैमाइश भी करलो और वह इसके ऊपर लिखदो ।' विद्यार्थीने फुटा रखकर पैमाइश की तो लाइन ठीक तीन इंचकी निकली और वही लाइनके ऊपर लिख दिया गया ।

इसके बाद अध्यापकजीने बोर्ड-

३ इंच

पर एक और कपड़ा डालकर कहा—

—————

'अब हम पहले इस लाइनको छोटी बनाते है और छोटी होनेका मत्र बोलते है ।' साथ ही, कपड़ेको एक ओरसे उठा कर 'होजा छोटी, होजा छोटी ।' का मत्र बोलते हुए वे बोर्ड पर कुछ बनानेको ही थे कि इतनेमें विद्यार्थी बोल उठे—

'आप तो पर्देकी ओटमें लाइनको छूते हैं । पर्देको हटाकर सबके सामने इसे छोटा कीजिये ।'

अध्यापकजीने बोर्ड पर डाला हुआ कपड़ा हटाकर कहा—

'अच्छा, अब हम इसे खुले आम छोटा किये देते हैं और किसी मत्रका भी कोई सहारा नहीं लेते । यह कह कर उन्होंने उस तीन-इंची लाइनके ऊपर पाँच-इंचकी लाइन बनादी और विद्यार्थियोंसे पूछा—

५ इंच

३ इंच

—————

'कहो, तुम्हारी मार्क की हुई नीचेकी लाइन ऊपरकी लाइनसे छोटी है या कि नहीं ? और बिना किसी अशके मिटाए या तोड़े अपने तीन इंचके स्वरूपमें स्थिर रहते हुए भी छोटी हो गई है या कि नहीं ?'

सब विद्यार्थी—हाँ हो गई है। यह रहस्यकी बात पहले हमारे ध्यानमे ही नहीं आई थी कि, इस तरह भी बड़ीसे छोटी और छोटीसे बड़ी चीज़ हुआ करती है। अब तो आप नीचे छोटी लाइन बना कर इसे बड़ी भी कर देगे।

अध्यापकजीने तुरत ही नीचे एक-इंचकी लाइन बना कर उसे साक्षात् बड़ा करके बतला दिया।

$$\begin{array}{r} \text{४ इंच} \\ \hline \text{३ इंच} \\ * \hline \text{१ इंच} \end{array}$$

अब अध्यापक वीरभद्रने फिर उसी विद्यार्थीसे पूछा—

‘तीनो लाइनकी इस स्थितिमे तुम अपनी मार्क की हुई उस बीचकी लाइनको, जो बड़ीसे छोटी और छोटीसे बड़ी हुई है, क्या कहोगे—छोटी या बड़ी?’

विद्यार्थी—यह छोटी भी है और बड़ी भी।

अध्यापक—दोनों एक साथ कैसे?

विद्यार्थी—ऊपरकी लाइनसे छोटी और नीचेकी लाइनसे बड़ी है अर्थात् स्वयं तीन-इंची होनेसे पांच-इंची लाइनकी अपेक्षा छोटी और एक-इंची लाइनकी अपेक्षा बड़ी है। और यह छोटापन तथा बड़ापन दोनों गुण इसमे एक साथ प्रत्यक्ष होनेसे इनमे परस्पर विरोध तथा असंगति-जैसी भी कोई बात नहीं है।

अध्यापक—अगर कोई विद्यार्थी इस बीचकी लाइनको एक बार ऊपरकी लाइनसे छोटी और दूसरी बार ऊपरकी लाइनसे ही बड़ी बतलावे और इस तरह इसमे छोटापन तथा बड़ापन दोनोंका विधान करे तब भी विरोधकी क्या कोई बात नहीं है?

विद्यार्थी—इसमें जरूर विरोध आएगा। एक तो उसके कथनमे

पूर्वापर-विरोध आएगा, क्योंकि पहले उसने जिसको जिससे छोटी कहा था उसीको फिर उससे बड़ी बतलाने लगा। दूसरे उसका कबज प्रत्यक्षके भी विरुद्ध ठहरेगा, क्योंकि ऊपरकी लाइन नीचेकी लाइनसे साक्षात् बड़ी नज़र आती है, उसे छोटी बतलाना दृष्ट-विरुद्ध है।

अध्यापक—यह क्या बात है कि तुम्हारे बड़ी-छोटी बतलानेमें तो विरोध नहीं और दूसरेके बड़ी-छोटी बतलानेमें विरोध आता है ?

विद्यार्थी—मैंने एक अपेक्षासे छोटी और दूसरी अपेक्षासे बड़ी बतलाया है। इस तरह अपेक्षाभेदको लेकर भिन्न कथन करनेमें विरोधके लिए कोई गुंजाइश नहीं रहती। दूसरा जिसे एक अपेक्षासे छोटी बतलाता है, उसीकी अपेक्षासे उसे बड़ी बतलाता है, इसलिये अपेक्षाभेद न होनेके कारण उसका भिन्न कथन विरोधसे रहित नहीं हो सकता—वह स्पष्टतया विरोध-दोषसे दूषित है।

अध्यापक—तुम ठीक समझ गये। अच्छा अब इतना और बतलाओ कि तुम्हारी इस मार्क की हुई बीचकी लाइनको एक विद्यार्थी 'छोटी ही है' ऐसा बतलाता है और दूसरा विद्यार्थी कहता है कि 'बड़ी ही है, तुम इन दोनों कथनोंको क्या कहोगे ? तुम्हारे विचारसे इनमेंसे कौनसा कथन ठीक है और क्योंकर ?

विद्यार्थी—दोनों ही ठीक नहीं हैं। मेरे विचारसे जो 'छोटी ही' (सर्वथा छोटी) बतलाता है उसने नीचेकी एक-इंची लाइनको देखा नहीं, और जो 'बड़ी ही' (सर्वथा बड़ी) बतलाता है उसने ऊपरकी पांच-इंची लाइन पर दृष्टि नहीं डाली। दोनोंकी दृष्टि एक तरफा होनेसे एकाङ्गी है, एकान्त है, सिक्के अथवा ढालकी एक ही साइड (side) को देखकर उसके स्वरूपका निर्णय करलेने-जैसी है, और इसलिये सम्यग्दृष्टि न होकर मिथ्यादृष्टि है। जो अनेकान्तदृष्टि होती है वह वस्तुको सब ओरसे देखती है—उसके सब पहलुओं पर नज़र डालती है—इसीलिये उसका निर्णय ठीक होता है और वह 'सम्यग्दृष्टि' कहलाती है। यदि उन्होंने ऊपर-नीचे दृष्टि डालकर

भी वैसा कहा है तो कहना चाहिये कि वह उनका कदाग्रह है—हठ-धर्मी है; क्योंकि ऊपर-नीचे देखते हुए मध्यकी लाइन सर्वथा छोटी या सर्वथा बड़ी प्रतीत नहीं होती और न स्वरूपसे कोई वस्तु सर्वथा छोटी या सर्वथा बड़ी हुआ करती है ।

अध्यापक—मानलो, तुम्हारे इस दोष देनेसे बचनेके लिये एक हीसरा विद्यार्थी दोनो एकान्तोको अपनाता है—‘छोटी ही है और बड़ी भी है’ ऐसा स्वीकार करता है, परन्तु तुम्हारी तरह अपेक्षावादको नहीं मानता । उसे तुम क्या कहोगे ?

विद्यार्थी थोड़ा सोचने लगा, इतनेमें अध्यापकजी विषयको स्पष्ट करते हुए बोल उठे—

‘इसमें सोचनेकी क्या बात है ? उसका कथन भी विरोध-दोषसे दूषित है; क्योंकि जो अपेक्षावाद अथवा स्याद्वाद-न्यायको नहीं मानता उसका उभय-एकान्तको लिए हुए कथन विरोध-दोषमें रहित हो ही नहीं सकता—अपेक्षावाद अथवा ‘स्यात्’ शब्द या स्यात् शब्दके आशयको लिये हुए ‘कथंचित्’ (एक प्रकारसे) जैसे शब्दोका साथमें प्रयोग ही कथनके विरोध-दोषको मिटानेवाला है । कोई भी वस्तु सर्वथा छोटी या बड़ी नहीं हुआ करती यह बात तुम अभी स्वयं स्वीकार कर चुके हो और वह ठीक है, क्योंकि कोई भी वस्तु स्वतन्त्ररूपसे अथवा स्वभावसे सर्वथा छोटी या बड़ी नहीं है—किसी भी वस्तुमें छोटेपन या बड़ेपनवा व्यवहार दूसरेके आश्रय अथवा पर-निमित्त से ही होता है और इसलिये उस आश्रय अथवा निमित्तकी अपेक्षाके बिना वह नहीं बन सकता । अतः अपेक्षासे उपेक्षा धारण करनेवालोके ऐसे कथनमें सदा ही विरोध बना रहता है । बे ‘ही’ की जगह ‘भी’ का भी प्रयोग करदे तो कोई अन्तर नहीं पड़ता । प्रत्युत उसके जो स्याद्वाद-न्यायके अनुयायी हैं—एक अपेक्षासे छोटा और दूसरी अपेक्षासे बड़ा मानते हैं—वे साथमें यदि ‘ही’ शब्दका भी प्रयोग करते हैं तो उससे कोई बाधा नहीं आती—

विरोधको जरा भी अवकाश नहीं मिलता, जैसे 'तीन-इची लाइन पाँच-इची लाइनकी अपेक्षा छोटी ही है और एक-इची लाइनकी अपेक्षा बड़ी ही है' इस कहनेमें विरोधकी कोई बात नहीं है। विरोध वही आता है जहाँ छोटापन और बड़ापन जैसे सापेक्ष-धर्मों अथवा गुणोंको निरपेक्षरूपसे कथन किया जाता है। मैं समझता हूँ अब तुम इस विरोध-अविरोधके तत्त्वको भी अच्छी तरहसे समझ गये होगे ?

विद्यार्थी—हाँ, आपने सब समझा दिया है और मैं अच्छी तरह समझ गया हूँ।

अध्यापक—अच्छा, अब मैं एक बात और पूछता हूँ—कल तुम्हारी कक्षामे जिनदास नामके एक स्याद्वादी—स्याद्वादन्यायके अनुयायी—आए थे और उन्होंने मोहन लडकेको देखकर तथा उसके विषयमें कुछ पूछ-ताछ करके कहा था 'यह तो छोटा है'। उन्होंने यह नहीं कहा कि 'यह छोटा ही है' यह भी नहीं कहा कि 'वह सर्वथा छोटा है' और न यही कहा कि वह 'अमुककी अपेक्षा अथवा अमुक-विषयमें छोटा है', तो बतलाओ उनके इस कथनमें क्या कोई दोष आता है ? और यदि नहीं आता तो क्यों नहीं ?

इस प्रश्नको सुनकर विद्यार्थी कुछ चक्करसेमें पड़ गया और मन-ही-मन उत्तरको खोज करने लगा। जब उसे कई मिनट हो गये तो अध्यापकजी बोल उठे—

'तुम तो बड़ा साचमें पड़ गये ! इस प्रश्नपर इतने सोच-विचारका क्या काम ! यह तो स्पष्ट ही है कि जिनदास स्याद्वादी है, उन्होंने स्वतन्त्ररूपसे ही' तथा 'सर्वथा' शब्दोंका साथमें प्रयोग भी नहीं किया है, और इसलिये उनका कथन प्रकट रूपमें 'स्यात्' शब्दके प्रयोगका साथमें न लेते हुए भी 'स्यात्' शब्दसे अनुशासित है—किसी अपेक्षा-वशेषका लिये हुए है। किसीसे किसी प्रकारका छोटापन उन्हें विवाक्षित था, इससे यह जानते हुए भी कि मोहन अनकोसे

अनेक विषयोमे 'बड़ा' है, उन्होंने अपने विवक्षित अर्थके अनुसार उसे उस समय 'छोटा' कहा है। इस कथनमे दोषकी कोई बात नहीं है। तुम्हारे हृदयमे शायद यह प्रश्न उठ रहा है कि जब मोहनमें छोटापन और बड़ापन दोनों थे तब जिनदासजीने उसे छोटा क्यों कहा, बड़ा क्यों नहीं कह दिया ? इसका उत्तर इतना ही है कि—मोहन उम्रमे, कदमे, रूपमें, बलमें, विद्यामे, चतुराईमे और आचार-विचारमे बहुतोसे छोटा है और बहुतोसे बड़ा है। जिनदासजी को जिसके साथ जिस विषय अथवा जिन विषयोमे उसकी तुलना करनी थी उस तुलनामे वह छोटा पाया गया, और इसलिये उन्हें उस समय उसको छोटा कहना ही विवक्षित था, वही उन्होंने उसके विषयमे कहा। जो जिस समय विवक्षित होता है वह 'मुख्य' कहा जाता है और जो विवक्षित नहीं होता वह 'गौण' कहा जाता है। मुख्य-गौणकी इस व्यवस्थासे ही वचन-व्यवहारकी ठीक व्यवस्था बनती है। अतः जिनदासजीके उक्त कथनमे दोषापत्तिके लिये कोई स्थान नहीं है। अनेकान्तके प्रतिपादक स्याद्वादियोका 'स्यात्' पदका आश्रय तो उनके कथनमे अतिप्रसंग-जैसा गडबड-घुटाला भी नहीं होने देना। बहुतसे छोटेपनो और बहुतसे बड़ेपनोमे जो जिस समय कहने-बालेको विवक्षित होता है उसीका ग्रहण किया जाता है—शेषका उक्त पदके आश्रयसे परिवर्जन (गौणीकरण) हो जाता है। ...

अध्यापक वीरभद्रजीकी व्याख्या अभी चल ही रही थी कि इतने मे घटा बज गया और वे दूसरी कक्षामे जानेके लिये उठने लगे। यह देखकर कक्षाके सब विद्यार्थी एकदम खड़े हो गये और अध्यापकजीको अभिवादन करके कहने लगे—'आज तो आपने तत्त्वज्ञानकी बड़ी बड़ी गभीर तथा सूक्ष्म बातोंको ऐसी सरलता और सुगमरीतिसे बातकी बातमे समझा दिया है कि हम उन्हें जीवनभर भी नहीं भूल सकते। इस उपकारके लिये हम आपके आजन्म ऋणी रहेगे।

३७

बड़ा दानी कौन ?

एक दिन अध्यापक वीरभद्रने कक्षामे पहुँचकर विद्यार्थियोसे पूछा—‘बड़े-छोटेका जो तत्त्व तुम्हें कई दिनसे समझाया जा रहा है उसे तुम खूब अच्छी तरह समझ गये हो या कि नहीं ?’ विद्यार्थियोने कहा—‘हाँ, हम खूब अच्छी तरह समझ गये हैं।’

‘अच्छा, यदि खूब अच्छी तरह समझ गये हो तो आज मेरे कुछ प्रश्नोका उत्तर दो, और उत्तर देनेमे जो विद्यार्थी सबसे अधिक चतुर हो वह मेरे सामने आ जाय, शेष विद्यार्थी उत्तर देनेमे उसकी मदद कर सकते हैं और चाहे तो पुस्तक खोलकर उसकी भी मदद ले सकते हैं’, अध्यापक महोदयने कहा ।

इस पर मोहन नामका एक विद्यार्थी, जो कक्षामे सबसे अधिक होशियार था सामने आगया और तब अध्यापकजीने उससे पूछा—‘बतलाओ, बड़ा दानी कौन है ?’

विद्यार्थी—जो लाखो रुपयेका दान करे वह बड़ा दानी है ।

अध्यापक—तुम्हारे इस उत्तरसे तीन बातें फलित होती हैं—
एक तो यह कि दो चार हजार रुपयेका या लाख रुपयेसे कमका दान करनेवाला बड़ा दानी नहीं, दूसरी यह कि लाखोकी रकमका दान करनेवालोमे जो समान रकमके दानी हैं वे परस्परमें समान हैं—
उनमें कोई बड़ा-छोटा नहीं, और तीसरी बात यह कि रुपयोंका

दान करनेवाला ही बड़ा दानी है, दूसरी किसी चीजका दान करने-वाला बड़ा दानी नहीं ।

विद्यार्थी—मेरा यह मतलब नहीं कि दूसरी किसी चीजका दान करनेवाला बड़ा दानी नही, यदि उस दूसरी चीजकी—जायदाद मकान दग़रहकी—मालियत उतने रूपयो जितनी है तो उसका दान करनेवाला भी उसी कोटिवा बड़ा दानी है ।

अध्यापक—जिम चीजका मूल्य रूपयोमे न आँका जा सके उसके विषयमे तुम क्या कहोगे ?

विद्यार्थी—ऐनी कौन चीज है, जिमका मूल्य रूपयोमे न आँका जा सके ?

अध्यापक—नि स्वाथ प्रेम, सेवा और अभयदानादि, अथवा क्रोधादि कषायोका त्याग और दयाभाव बहुतनी ऐसी चीज है जिनका मूल्य रूपयोमे नहीं आँका जा सकता । उदाहरणके लिये एक मनुष्य नदीमे डूब गया है वह देखकर तट पर खड़ा हुआ एक नौजवान, जिमका पहनेमे उस डूबनेवालके साथ कोई सम्बन्ध तथा परिचय नहीं है, उसके दुःखमे व्याकुल हो उठता है, दयाका स्रोत उसके हृदयमे फूट पडता है, मानवीय कर्तव्य उसे आ धर दबाता है और वह अपने प्राणोकी कोई पर्वाह न करता हुआ—जान जोखोमे डालकर भी—एकदम चढ़ी हुई नदीमे कूद पडता है और उस डूबनेवाले मनुष्यका उद्धार करके उसे तट पर ले आता है । उसके इस दयाभाव-परिणत आत्मत्याग और उसकी इस सेवाका कोई मूल्य नहीं और यह असमर्थता उस समय और भी बढ जाती है जब यह मालूम होता है कि वह उद्धार पाया हुआ मनुष्य एक राजाका इकलौता पुत्र है और उद्धार करनेवाले साधारण गरीब आदमीने बदलेमे कृतज्ञता-रूपसे पेश किये गये भारी पुरस्कारको भी लेनेमे अपनी असमर्थता व्यक्त की है । ऐसा दयादानी आत्म-त्यागी मनुष्य लाखो रूपयोका दान करनेवाले दानियोसे कम बड़ा

नहीं है, वह उससे भी बड़ा है जो पुरस्कारमें आधे राज्यकी घोषणा-को पाकर अपनी जान पर खेला हो और ऐसे ही किसी डूबते हुए राजकुमारका उद्धार करनेमें समर्थ होकर जिसने आधा राज्य प्राप्त किया हो। इसी तरह सैनिकों द्वारा जब लूट-खसोटके साथ कत्ले-आम हो रहा हो तब एक राजाकी अभयघोषणाका उस समय रूपोंमें कोई मूल्य नहीं आँका जा सकता—वह लाखों-करोड़ों और अब्बों-खबों रूपोंके दानसे भी अधिक होती है, और इसलिये एक भी रुपया दान न करके ऐसी अभय-घोषणा-द्वारा सर्वत्र अमन और शान्ति स्थापित करनेवालेको छोटा दानी नहीं कह सकते। ऐसी ही स्थिति नि स्वार्थ-भावमें देश तथा समाज सेवाके कार्योंमें दिन-रात रत रहनेवाले और उसीमें अपना सर्वस्व होम देनेवाले छोटी पूँजीके व्यक्तियोंकी है। उन्हें भी छोटा दानी नहीं कहा जा सकता।

अभी अध्यापक वीरभद्रजीकी व्याख्या चल रही थी और वे यह स्पष्ट करके बतला देना चाहते थे कि 'क्रोधादि कषायोंके सम्यक् त्यागी एक पैसेका भी दान न करते हुए कितने अधिक बड़े दानी होते हैं' कि इतनेमें उन्हें विद्यार्थीके चेहरे पर यह दीख पड़ा कि 'उसे बड़े दानीकी अपनी सदोष परिभाषा पर और अपने इस कथन पर कि उसने बड़े-छोटेके तत्त्वको खूब अच्छी तरहसे समझ लिया है कुछ सकोच तथा खेद होरहा है,' और इसलिये उन्होंने अपनी व्याख्याका रुख बदलते हुए कहा —

‘अच्छा, अभी इस गंभीर और जटिल विषयको हम यही रहने देते हैं—फिर किसी अवकाशके समय इसकी स्वतन्त्र-रूपसे व्याख्या करेंगे—और इस समय तुम्हारी समान-मालियतके दान-द्रव्यकी बातको ही लेते हैं। एक दानी सेनाके लिये दो लाख रुपयेका मास दान करता है, दूसरा आक्रमणके लिये उद्यत सेनाके वास्ते दो लाख रुपयेके नये हथियार दान करता है, तीसरा अपने ही आक्रमणमें घायल हुए सैनिकोंकी महंमपट्टीके लिये दो लाख रुपयेकी दवा-दारू-

का सामान दान करता है और चौथा बगालके अकालपीड़ितों एवं अन्नाभावके कारण भूखसे तड़प-तड़पकर मरनेवाले निरपराध प्राणि-योंकी प्राणरक्षाके लिये दो लाख रुपयेका अन्नदान करता है। बतलाओ इन चारोमे बड़ा दानी कौन है? अथवा सबके दान-द्रव्यकी मालियत दो लाख रुपये समान होनेसे सब बराबरके दानी हैं—उनमे कोई विशेष नहीं, बड़े-छोटेका कोई भेद नहीं है ?

यह सुनकर विद्यार्थी कुछ भौचकसा रह गया और उसे शीघ्र ही यह समझ नहीं पड़ा कि क्या उत्तर दूँ, और इसलिये वह उत्तरकी खोजमे मन-ही-मन कुछ सोचने लगा—दूसरे विद्यार्थी भी सहसा उसकी कोई मदद न कर सके—कि इतनेमे अध्यापकजी बोल उठे—

‘तुम तो बड़ी सोचमे पड़ गये हो। क्या तुम्हें दानका स्वरूप और जिन कारणोंसे दानमे विशेषता आती है—अधिकाधिक फलकी निष्पत्ति होती है—उनका स्मरण नहीं है ? और क्या तुम नहीं जानते कि जिस दानका फल बड़ा होता है वह दान बड़ा है और जो बड़ दानका दाता है वह बड़ा दानी है ? तुमने तत्त्वाथसूत्रके सातवें अध्याय और उसकी टीकामे पढ़ा है—स्व-परके अनुग्रह-उपकारके लिये जो अपनी धनादिक किसी वस्तुका त्याग किया जाता है उसे ‘दान’ कहते हैं और दानमे विधि, द्रव्य, दाता और पात्रके विशेषसे विशेषता आती है—दानके तरीके, दानमे दी जानेवाली वस्तु, दाताके परिणाम और पानेवालेमे गुण-सयोगके भेदसे दानके फलमे कमी-वैशी होती है’, तब इस तात्त्विक दृष्टिको लेकर तुम क्यों नहीं बतलाते कि इन चारोमे दान-द्रव्यकी समानता होते हुए भी कौन बड़ा है ?’

अध्यापकजीके इन प्रेरणात्मक शब्दोंको सुनकर विद्यार्थीको

१ अनुग्रहार्थ स्वस्यातिमर्गो दानम् ॥ ३८ ॥

विधि-द्रव्य-दातृ-पात्र-विशेषात्तद्विशेष ॥ ३९ ॥ (त० सू०)

होश आगया, उसकी स्मृति काम करने लगी और इसलिये वह एक दम बोल पड़ा—

‘इन चारोमे बड़ा दानी वह है जिसने बेबसीकी हालतमे पड़े हुए बगालके कालपी इतोको दो लाख रुपयेका अन्नदान किया है।’

अध्यापक—वह बड़ा दानी कैसे है? जरा समझाकर बतलाओ। और खासकर इस बातको स्पष्ट करके दिखलाओ कि वह घायल सैनिकोंके लिये मर्ममपट्टीका सामान दान करनेवाले दानीसे भी बड़ा दानी क्योंकर है?

विद्यार्थी—मासकी उत्पत्ति प्रायः जीवघातमे होती है। जो मासका दान करता है वह दूसरे निरपराध जीवोंके घातमे सहायक होता है और इसलिये मानवतासे गिरकर हिंसात्मक अपराधका भागी बनता है, जिससे उसका अपना उपकार न होकर अपकार होता है। और जिन्हें मासभोजन कराया जाता है वे भी उन जीवघातके अनुमोदक तथा प्रकारान्तरसे सहायक होकर अपराधके भागी बनते हैं। साथ ही, मास भोजनसे उनके हृदयमे निन्द्यता-कठोरता-स्वार्थपरतादि-मूलक तामसी भाव उत्पन्न होता है, जो आत्मविकासमे बाधक होकर उन्हें पतनकी ओर ले जाता है, और इसलिये मास-दानसे मासभोजीका भी वास्तविक उपकार नहीं होता—खासकर ऐसी हालतमे जब कि अन्नादिक दूसरे निर्दोष एवं सात्विक भोजनोसे पेट भले प्रकार भरा जा सकता है और उससे शारीरिक बल एवं बौद्धिक शक्तिमे भी कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। अतः ऐसे दानका पारमार्थिक अथवा आत्मोपकार-साधनकी दृष्टिसे कोई अच्छा फल नहीं कहा जा सकता—भले ही उसके करनेवालेको लोकमे स्वार्थी राजा-द्वारा किसी उपरी पद या मन्सबकी प्राप्ति हो जाय। जब पारमार्थिक अथवा आत्मोपकारकी दृष्टिसे ऐसे दानका कोई बड़ा फल नहीं होता तो ऐसा दान देनेवाला बड़ा दानी भी नहीं कहा जा सकता।

हथियार हिंसाके उपकरण होनेसे उनका दान करनेवाला हिंसा-
मे—परपीडामे—सहायक तथा उसका अनुमोदक होता है और जिसे
दान दिया जाता है उसे उनके कारण हिंसामे प्रोत्साहन मिलता है
और वे प्रायः दूसरोके घातमे ही काम आते हैं। इस तरह दाता
और पात्र दानाके हाँ लिये वे आत्महितका कोई साधन न होकर
आत्महन्त एव पतनके ही कारण बनते हैं, और इसलिये हथियारो-
का दान पारमार्थिक दृष्टिसे कोई महान् दान नहीं होता—आक्र-
मणात्मक-युद्धके सैनिकोके लिये तो वह और भी सदोष ठहरता है,
तब उसका दानी बड़ा दानी कमे हो सकता है ?

घायल सैनिकोको मर्हम-पट्टाके लिये स्वेच्छासे दवादारूका
दान देनेवाला पिछले दो दानियाँ—मांसदानी और हथियारदानीसे
बड़ा जरूर है, परन्तु वह बगालके धार अकालसे पीडित प्राणियोको
रक्षार्थ अन्नका दान करनेवाला बड़ा नहीं है। क्योंकि अन्यक राष्ट्र
पर आक्रमण करनेके लिये उद्यत सैनिक दूसरोको घायल करने और
स्वयं घायल होनेकी जिम्मेदारीको खुद अपने सिर पर उठाते हैं,
अपराध करने हुए, घायल हात हैं और अच्छे होने पर आगे भी
अपराध करनेको—अनेक अनपराध प्राणियो तकका घात करने-
की इच्छा रखते हैं, इसलिये वे उतने दयाके पात्र नहीं जितने कि
बगालके उक्त अकाल-पीडित दयाके पात्र हैं, जिनका अकालक बुला-
नेमे कोई हाथ नहीं, कोई अपराध नहीं और जिन पर अकाल लादा
गया है अथवा किसी जिम्मेदार बड़े अधिकारीकी भारी लापवाही
और गफलतसे लद गया है। ऐसी स्थितिमे मुझे तो बगालके
अकाल-पीडितोको दो लाख रुपयेका अन्न दान करनेवाला ही
चारोमे बड़ा दाना मालूम होता है।

अध्यापक—जिस दृष्टिको लेकर तुमने उक्त अन्नदानीको बड़ा
दानी बतलाया है वह एक प्रकारसे ठीक है, परन्तु इस विषयमें कई
विकल्प उत्पन्न होते अथवा सवाल पैदा होते हैं, उनमेंमे यहाँ पर

दो विकल्पोको ही रक्खा जाता है, जिनमेसे पहला विकल्प अथवा सवाल इस प्रकार है—

‘मानलो बगालके अकाल-पीड़ितोंके लिये दो-दो लाख रुपयेका अन्न दान करनेवाले चार सेठ हैं, जिनमेसे (१) एकने स्वेच्छासे दान नहीं दिया, वह दान देना ही नहीं चाहता था, उस पर किमी उच्च अधिकारीने भारी दबाव डाला और यह धमकी दी कि यदि तुम दो लाख रुपयेका अन्न दानमे नहीं दोगे तो तुम्हारा अन्नका सब स्टॉक जब्त कर लिया जायगा, तुम्हारे ऊपर इनकमटैक्स दुगुना-चौगुना कर दिया जायगा और भी अनेक कर बढ़ा दिये जावेंगे अथवा डिफेंस आफ इंडिया ऐक्टके अधीन तुम्हारा चालान करके तुम्हें जेलमे डाल दिया जायगा, तुम्हारी जायदाद जब्त करली जायगी और तुम जेलमे पड़े पड़े सड़ जाओगे ।’ और इसलिये उसने धमकीके भयमे तथा दबावसे मजबूर होकर वह दान दिया है । (२) दूसरेने इस इच्छा तथा आशाको देखकर दान दिया है कि उसके दानमे गवर्नर साहब या कोई दूसरे उच्चाधिकारी प्रमन्न होंगे और उस प्रसन्नताके उपलक्ष्यमे उसे ऑनरेरी मजिस्ट्रेट या रायबहादुर-जैसा कोई पद प्रदान करेंगे अथवा उसके बढते हुए करोंमे कमी होगी और अमुक केसमे उसके अनुकूल फैसला हो सकेगा । (३) तीसरेने कुछ ईर्ष्या-भाव तथा व्यापारिक दृष्टिको लक्ष्यमे रखकर दान दिया है । उसके पड़ोसी अथवा प्रतिद्वंद्वीने ५० हजारका अन्न दान किया था, उसे नीचा दिखाने, उसकी प्रतिष्ठा कम करने और अपनी धाक तथा साख जमाकर कुछ व्यापारिक लाभ उठानेकी तरफ उसका प्रधान लक्ष्य रहा है । (४) चौथेका हृदय सचमुच अकाल-पीड़ितोंके दुःखमे द्रवीभूत हुआ है और उसने मानवीय कर्तव्य समझ कर स्वेच्छामे बिना किसी लौकिक लाभको लक्ष्यमे रखे वह दान दिया है । बतलाओ इन चारोंमे बड़ा दानी कौनसा सेठ है ? और जिस अन्नदानी-को तुमने अभी बड़ा दानी बतलाया है वह यदि इनमेसे पहले नम्बर-

का सेठ हो तब भी क्या वह उस दानीसे बड़ा दानी है जिसने स्वेच्छासे बिना किसी दबावके घायल सैनिकोंकी बुरी हालतको देखकर उन पर रहम खाते हुए और उनके अपराधादकी बातको भी ध्यानमें न लाते हुए उनकी महमपट्टीके लिये दो लाख रुपयेका दान दिया है ?

विद्यार्थी--इन चारोंमें बड़ा दानी चौथे नम्बरका सेठ है, जो दानकी ठीक स्पीरिटको लिये हुए है। बाकी तो दानके व्यापारी हैं। पहले नम्बरके सेठको तो वास्तवमें दानी ही न कहना चाहिये, उससे तो दो लाख रुपयेका अन्न एक प्रकारसे छाना गया है, वह तो दान-फलका अधिकारी भी नहीं है, और इसलिये घायल सैनिकोंकी महमपट्टीके लिये स्वेच्छासे दयाभावपूर्वक दो लाखका दान करने-वालेसे वह बड़ा दानी कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता।

अध्यापक—मालूम होता है अब तुम विषयको ठीक समझ रहे हो। अच्छा, दूसरे विकल्पके रूपमें, अब इतना और जानलो कि—‘चौथे नम्बरका सेठ करोड़ोंकी सम्पत्तिका धनी है, उसके यहाँ प्रति-दिन लाखों रुपयोंका व्यापार होता है और हर साल सब खर्च देकर उसे दस लाख रुपयेके करीबकी बचत रहती है। उसने दो लाख रुपयेके दानसे अपना एक भोजनालय खुलवा दिया है, भोजन वितरण करनेके लिये कुछ नौकर छोड़ दिये हैं और यह आर्डर जारी कर दिया है कि जो कोई भी भोजनके लिये आवे उसे भोजन दिया जावे, नतीजा यह हुआ कि उसके भोजनालय पर अधिकतर ऐसे सड़े-मुसड़े और गुड़े लोगोंकी भीड़ लगी रहती है जो स्वयं मजदूरी करके अपना पेट भर सकते हैं—दयाके अथवा मुफ्त भोजन पानेके पात्र नहीं, जो धक्कामुक्की करके अधिकांश गरीब भुखमरोको भोजनशालाके द्वार तक भी पहुँचाने नहीं देते और स्वयं खा-पीकर चले जाते हैं। तथा कुछ भोजन साथ भी ले जाते हैं। और इस तरह जिन गरीबोंके वास्ते भोजनशाला खोली गई है उन्हें बहुत ही कम

भोजन मिल पाता है। प्रत्युत इसके, धनीराम नामके एक पाचवें सेठ है, जो ३-४ लाख रुपयेकी सम्पत्तिके ही मालिक हैं। उनका भी हृदय बगानके अकाल-पीड़ितको देखकर वास्नवमे द्रवीभूत हुआ है, उन्होने भी मानवीय कर्तव्य समझकर स्वेच्छामे बिना किसी लौकिक लाभको तक्ष्यमे रखे दो लाखका दान दिया है और उससे अपनी एक भोजनशाला खुलवाई है। साथ ही भोजनशालाकी ऐसी विधि-व्यवस्था की है, जिसमें व भोजन-पात्र गरीब भुखमरे ही भोजन पा सके, जिनको लक्ष्य करके भोजनशाला खोली गई है। उसने भोजनशालाका प्रबन्ध अपने दो योग्य पुत्रोंके सुपद कर दिया है, जिनकी सुव्यवस्थामे कोई मड़ा-मुमड़ा अथवा प्रपात्र व्यक्ति भोजन-शालाके अहातेके अन्दर घुसने भी नहीं पाता, जिसके जो योग्य है वही मान्विक भोजन उसे दिया जाता है और उन दीन-अनाथो तथा विधवा-अप्राहिजोको उनके घर पर भी भोजन पहुँचाया जाता है जो लज्जाके मारे भोजनशालाके द्वार तक नहीं आ सकते और इसलिये जिन्हे भोजनके अभावमे घर पर ही पड़े पड़े मर जाना मजूर है। अब बतलाओ इन दोनों सेठोमे कौन बड़ा दानी है ? वही चौथे नम्बरवाला सेठ क्या बड़ा दानी है जिसे तुमने अभी बहुतेकी तुलनामे बड़ा बतलाया है ? अथवा पाचवें नम्बरका यह सेठ धनीराम बड़ा दानी है ? कारण-सहित प्रकट करो।

विद्यार्थी उत्तरके लिए कुछ साचने ही लगा था कि इतनेमे अध्यापकजी बोल पड़े—‘इसमे तो मोचनेकी जरा भी बात नहीं है। यह स्पष्ट है कि चौथे नम्बरवाले सेठकी पोजीशन बड़ी है, उसकी माली हालत सेठ धनीराममे बहुत बढी चढी है, फिर भी धनीरामने उसके बराबर ही दो लाखका दान दिया है, दीन-दुखियोकी पुकारके मुकाबलेमे अधिक धन संचित कर रखना उसे अनुचित जँचा है और उसने थोड़ी सम्पत्तिमे ही मन्तोष धारण करके उसीसे अपना निर्वाह कर लेना इस बिषम-परिस्थितिमे उचित समझा है। अतः

उसका दानद्रव्य समान होने पर भी उसका मूल्य अधिक है और उसके दानकी विधि-व्यवस्थाने तथा पात्रोंके ठीक चुनावने उसका मूल्य और भी अधिक बढ़ा दिया है। वह ऐसी स्थितिमें यदि एक लाख नहीं किन्तु अर्धलाख भी दान करता तो भी उसका मूल्य उस चौथे नम्बरवाले सेठके दानमें बढ़ा रहता, क्योंकि दानका मूल्य दानकी रकम अथवा दान-द्रव्यकी मालियत पर ही अवलम्बित नहीं रहता, उसके लिये दान-द्रव्यकी उपयोगिता, दाताके भाव तथा उसकी तत्कालीन स्थिति, दानकी विधि-व्यवस्था और जिसे दान दिया जाता है उसमें पात्रत्वादि गुणोंके संयोगकी भी आवश्यकता होती है। बिना इनके योही अधिक द्रव्य लुटा देनेमें बड़ा दान नहीं बनता। सेठ धनीरामके दानमें बड़ेपनकी इन सब बातोंका संयोग पाया जाता है, और इसलिए उसके दानका मूल्य करोड़पति सेठ न० ४ के दानमें भी अधिक होनेके कारण वह उक्त सेठ साहबकी अपेक्षा भी बड़ा दानी है।'

मैं समझता हूँ अब तुम इस बातको भले प्रकार समझ गये होगे कि समान-रकम अथवा समान-मालियतके द्रव्यका दान करनेवाले सभी दानी समान नहीं होते—उनमें भी अनेक कारणोंसे छोटा-बड़ापन होता है, जैसा कि दो लाखके अनेक दानियोंके उदाहरणोंको सामने रखकर स्पष्ट किया जा चुका है। अतः समान-मालियतके द्रव्यका दान करनेवालोंका सवथा समान दानी समझना 'एकान्त' और उन्हें विभिन्न दृष्टियोंसे छोटा-बड़ा दानी समझना 'अनेकान्त' है। साथ ही, यह भी समझ गये होगे कि जिस चीजका मूल्य रूपयोंमें नहीं आँका जा सकता उसका दान करनेवाले कभी-कभी बड़ी-बड़ी रकमोंके दानियोंसे भी बड़े दानी होते हैं। और इसलिये बड़े दानीकी जो परिभाषा तुमने बाँधी है, और जिसका एक अंश (परिभाषासे फलित होनेवाली तीन बातोंमेंसे पहली बात) अभी और विचारणीय है, वह ठीक नहीं है।

इस पर विद्यार्थी (जिसे पहले ही अपनी सदोष परिभाषा पर खेद हो रहा था) नतमस्तक होकर बोला—‘आपने जो कुछ कहा है वह सब ठीक है। आपके इस विवेचन, विकल्पोद्भावन और स्पष्टीकरणसे हम लोगोका बहुतसा अज्ञान दूर हुआ है। हमने जो छोटे-बड़ेके तत्त्वको खूब अच्छी तरह समझ लेनेकी बात कही थी वह हमारी भूल थी। जान पड़ता है अभी इस विषयमे हमे बहुत कुछ सीखना-समझना बाकी है। लाइनोंके द्वारा आपने जो कुछ समझाया था वह इस विषयका ‘सूत्र’ था, अब आप उस सूत्रका व्यवहारशास्त्र हमारे सामने रख रहे है। इससे सूत्रके समझनेमे जो त्रुटि रही हुई है वह दूर होगी, कितनी ही उलझने सुलझेंगी और चिरकालकी भूलें मिटेगी। इस कृपा एवं ज्ञान-दानके लिये हम सब आपके बहुत ही ऋणी और कृतज्ञ है।’

मोहनके इस कथनका दूसरे विद्यार्थियोने भी खडे होकर समर्थन किया।

घटेको बजे कई मिनट हो गये थे, दूसरे अध्यापकमहोदय भी कक्षामे आ गये थे, इससे अध्यापक वीरभद्रजी शीघ्र ही दूसरी कक्षामे जानेके लिये बाध्य हुए।

३८

बड़ा और छोटा दानी

उसी दिन अध्यापक वीरभद्रने दूसरी कक्षामे जाकर उस कक्षाके विद्यार्थियोंकी भी इस विषयमे जाँच करनी चाही कि वे बड़े और छोटेके तत्त्वको, जो कई दिनसे उन्हें समझाया जा रहा है, ठीक समझ गये हैं या कि नहीं अथवा कहाँ तक उसे हृदयगम कर सके हैं, और इसलिये उन्होंने कक्षाके एक सबसे अधिक चतुर विद्यार्थीको पासमे बुलाकर पूछा—

एक मनुष्यने पाँच लाखका दान किया है और दूसरेने दस हजारका, बतलाओ, इन दोनोंमे बड़ा दानी कौन है ?

विद्यार्थीने झटमे उत्तर दिया—‘जिसने पाँच लाखका दान किया है वह बड़ा दानी है ।’ इस पर अध्यापकमहोदयने एक गभीर प्रश्न किया—

‘क्या तुम पाँच लाखके दानीको छोटा दानी और दस हजारके दानीको बड़ा दानी कर सकते हो ?’

विद्यार्थी—हाँ, कर सकता हूँ ।

अध्यापक—कैसे ? करके बतलाओ ।

विद्यार्थी—मुझे मुखानन्द नामके एक सेठका हाल मालूम है जिसने अभी दस लाखका दान दिया है, उससे आपका यह पाँच लाखका दानी छोटा दानी है । और एक ऐसे दातारको भी मैं

जानता हूँ जिसने पाँच हजारका ही दान दिया है, उससे आपका यह दस हजारका दानी बड़ा दानी है। इस तरह दस हजारका दानी एककी अपेक्षासे बड़ा दानी और दूसरेकी अपेक्षामें छोटा दानी है, तदनुसार पाँच लाखका दानी भी एककी अपेक्षासे बड़ा और दूसरेकी अपेक्षामें छोटा दानी है।

अध्यापक—हमारा मतलब यह नहीं जैसा कि तुम समझ गये हो, दूसरेकी अपेक्षाका यहाँ कोई प्रयोजन नहीं। हमारा पूछनेका अभिप्राय सिर्फ इतना ही है कि क्या किसी तरह इन दोनों दानियोंमेंसे पाँच लाखका दानी दस हजारके दानीमें छोटा और दस हजारका दानी पाँच लाखके दानीसे बड़ा दानी हो सकता है ? और तुम उसे स्पष्ट करके बतला सकते हो ?

विद्यार्थी—यह कैसे हो सकता है ? वह तो उम्मीद की तरह असंभव है जिस तरह पत्थरको गिला अथवा लोहेका पानी पर तैरना।

अध्यापक—पत्थरकी गिलाको लकड़ीके स्लीपर या मोटे तख्ते पर फिट करके अगाध जलमें तिराया जा सकता है और लोहेकी लुटिया, नौका अथवा कन्स्टर बनाकर उसे भी तिराया जा सकता है। जब युक्तिमें पत्थर और लोहा भी पानी पर तैर सकते हैं और इसलिये उनका पानी पर तैरना सर्वथा असंभव नहीं कहा जा सकता, तब क्या तुम युक्तिसे दस हजारके दानीको पाँच लाखके दानीसे बड़ा सिद्ध नहीं कर सकते।

यह सुनकर विद्यार्थी कुछ गहरी मोचमें पड़ गया और उससे शीघ्र कुछ उत्तर न बन सका। इस पर अध्यापकमहोदयने दूसरे विद्यार्थियोंसे पूछा—‘क्या तुममेंसे कोई ऐसा कर सकता है ?’ वे भी सोचते-से रह गये। और उनसे भी शीघ्र कुछ उत्तर न बन पड़ा। तब अध्यापकजी कुछ कड़ककर बोले—

‘क्या तुम्हें तत्त्वार्थसूत्रके दान-प्रकरणका स्मरण नहीं है ? क्या तुम्हें नहीं मालूम कि दानका क्या लक्षण है और उस लक्षणसे गिर-

कर दान दान नहीं रहता ? क्या तुम्हें उन विशेषताओंका ध्यान नहीं है जिनसे दानके फलमें विशेषता—कमी-बेशी—आती है और जिनके कारण दानका मूल्य कमो-बेश हो जाता अथवा छोटा-बड़ा बन जाता है ? और क्या तुम नहीं समझते हो कि जिस दानका मूल्य बड़ा—फल बड़ा—वह दान बड़ा है, उसका दानी बड़ा दानी है, और जिस दानका मूल्य कम—फल कम वह दान छोटा है, उसका दानी छोटा दानी है—दानद्रव्यकी सख्या पर ही दानका छोटा-बड़ापन निर्भर नहीं है ?

इन शब्दोंके आघातमें विद्यार्थी-हृदयके कुछ कपाट खुल गये, उसकी स्मृति काम करने लगी और वह जरा चमककर कहने लगा —
‘हाँ, तत्त्वार्थसूत्रके सातवें अध्यायमें दानका लक्षण दिया है और उन विशेषताओंका भी उल्लेख किया है जिनके कारण दानके फलमें विशेषता आती है और उस विशेषताकी दृष्टिमें दानमें भेद उत्पन्न होता है अर्थात् किसी दानको उत्तम-मध्यम-जघन्य अथवा बड़ा-छोटा आदि कहा जा सकता है। उसमें बतलाया है कि ‘अनुग्रहके लिये—स्व-पर-उपकारके वांस्ते—जो अपने घनादिकका त्याग किया जाता है उसे ‘दान’ कहते हैं और उस दानमें विधि, द्रव्य, दाता तथा पात्रके विशेषसे विशेषता आती है—दानके ढग, दानमें दिये जानेवाले पदार्थ, दातारकी तत्कालीन स्थिति और उसके परिणाम तथा पाने-वालेमें गुणसयोगके भेदसे दानके फलमें कमी-बेशी होती है। ऐसी स्थितिमें यह ठीक है कि दानका छोटा-बड़ापन केवल दानद्रव्यकी सख्या पर निर्भर नहीं होता, उसके लिये दूसरी कितनी ही बातोंको देखनेकी जरूरत होती है, जिन्हें ध्यानमें रखने हुए द्रव्यकी अधिक-सख्यावाले दानको छोटा और अल्प-सख्यावाले दानको खुशीसे बड़ा कहा जा सकता है। अतः अब आप कृपाकर अपने दोनों दानियोंका कुछ विशेष परिचय दीजिये, जिससे उनके छोटे-बड़ेपनके विषयमें कोई बात ठीक कही जा सके।

अध्यापक—हमें पाँच-पाँच लाख के दानी चार सेठों का हाल मालूम है जिनमेंसे (१) एक सेठ डालचन्द है, जिनके यहाँ लाखों का व्यापार होता है और प्रतिदिन हजारों रुपये धर्मादा के जमा होते हैं, उसी धर्मादा की रकम से उन्होंने पाँच लाख रुपये एक सामाजिक विद्या-संस्था को दान दिये हैं और उनके इस दान में यह प्रधान-दृष्टि रही है कि वे उस समाज के प्रेमपात्र तथा विश्वासपात्र बनें और लोक में प्रतिष्ठा तथा उदारता की धाक जमाकर अपने व्यापार को उन्नत करें। (२) दूसरे सेठ ताराचन्द हैं, जिन्होंने ब्लैक-मार्केट-द्वारा बहुत धन संचय किया है और जो सरकार के कोष-भाजन बने हुए थे—सरकार उन पर मुकदमा चलाना चाहती थी। उन्होंने एक उच्चाधिकारी के परामर्श से पाँच लाख रुपये 'गाँधी-मेमोरियल-फंड' को दान दिये हैं और इससे उनकी सारी आपत्ति टल गई है। (३) तीसरे सेठ रामानन्द हैं, जो एक बड़ी मिल के मालिक हैं जिसमें 'वनस्पति-धी' भी प्रचुर परिमाण में तैयार होता है। उन्होंने एक उच्चाधिकारी को गुप्तदान के रूप में पाँच लाख रुपये इसलिये भेंट किये हैं कि वनस्पति-धी का चलन बन्द न किया जाय और न उसमें किसी रंग के मिलाने का आयोजन ही किया जाय। (४) चौथे सेठ विनोदीराम हैं, जिन्हें 'रायबहादुर' तथा 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' बनने की प्रबल इच्छा थी। उन्होंने जिलाधीश से (कलक्टर से) मिलकर उन जिलाधीश के नाम पर एक अस्पताल (चिकित्सालय) खोलने के लिये पाँच लाख का दान किया है और वे जिलाधीश की सिफारिश पर रायबहादुर तथा आनरेरी मजिस्ट्रेट बना दिये गये हैं।

इसी तरह हमें चार ऐसे दानी सज्जनो का भी हाल मालूम है जिन्होंने दस-दस हजार का ही दान किया है। उनमेंसे (१) एक तो है सेठ दयाचन्द, जिन्होंने नगर में योग्य चिकित्सा तथा दवाई का कोई समुचित प्रबन्ध न देखकर और साधारण गरीब जनता को उनके अभाव में दुःखित एवं पीड़ित पाकर अपनी निजकी कमाई में से दस

हजार रुपये दानमें निकाले हैं और उम दानकी रकमसे एक धर्मार्थ-शुद्ध-श्रीषधालय स्थापित किया है, जिसमें गरीब रोगियोंकी सेवा-सुश्रूषा पर विशेष ध्यान दिया जाता है और उन्हें दवाई मुफ्त दी जाती है। सेठ साहब श्रीषधालयकी सुव्यवस्था पर पूरा ध्यान रखते हैं और अकमर स्वयं भी सेवाके लिये श्रीषधालयमें पहुँच जाया करते हैं। (२) दूसरे सेठ जानानन्द है, जिन्हें सम्यग्ज्ञान-वधक साधनोके प्रचार और प्रसारमें बड़ा आनन्द आया करता है। उन्होंने अपनी गाढ़ी कमाईमेंसे दस हजार रुपये प्राचीन जैनसिद्धान्त-ग्रन्थोके उद्धारार्थ प्रदान किये हैं और उस द्रव्यकी ऐसी सुव्यवस्था की है जिससे उत्तम सिद्धान्त-ग्रन्थ बराबर प्रकाशित होकर लोकका हित कर रहे हैं। (३) तीसरे सज्जन लाला विवेकचन्द है, जिन्हें अपने समाजके बेरोजगार (आजीविका-रहित) व्यक्तियोंको कष्टमें देखकर बड़ा कष्ट होता था और इसलिये उन्होंने उनके दुःख-मोचनार्थ अपनी शुद्ध कमाईमेंसे दस हजार रुपये दान किये हैं। इस द्रव्यसे बेरोजगारोंको उनके योग्य रोजगारमें लगाया जाता है—दुकानें खुलवाई जाती हैं, शिल्पके साधन जुटाये जाते हैं, नौकरियाँ दिलवाई जाती हैं और जब तक आजीविकाका कोई समुचित प्रबन्ध नहीं बैठता तब तक उनके भोजनादिकमें कुछ सहायता भी पहुँचाई जाती है। इससे कितने ही कुटुम्बोंकी आकुलता मिटकर उन्हें अभयदान मिल रहा है। (४) चौथे सज्जन गवर्नमेंटके पेशनर बाबू सेवाराम है, जिन्होंने गवर्नमेंटके साथ अपनी पेशनका दस हजार नकदमें समझौता कर लिया है और उस सारी रकमको उन समाजसेवकोंकी भोजन-व्यवस्थाके लिये दान कर दिया है जो नि स्वार्थभावसे समाज-सेवाके लिये अपनेको अर्पित कर देना चाहते हैं परन्तु इतने साधन-सम्पन्न नहीं हैं कि उस दशामें भोजनादिकका खर्च स्वयं उठा सकें। इससे समाजमें नि स्वार्थ सेवकोंकी वृद्धि होगी और उससे कितना ही सेवा एव लोकहितका कार्य सहज सम्पन्न हो सकेगा। बाबू सेवारामजीने

स्वयं अपनेको भी समाजसेवाके लिये अर्पित कर दिया है और अपने दानद्रव्यके सदुपयोगकी व्यवस्थामें लगे हुए है।

अब बतलाओ दस-दस हजारके इन चारो दानियोमेंसे क्या कोई दानी ऐसा है जिसे तुम पाँच-पाँच लाखके उक्त चारो दानियोमेंसे किसीमें भी बड़ा कह सको ? यदि है तो कौन-सा है और वह किससे बड़ा है ?

विद्यार्थी—मुझे तो ये दस-दस हजारके चारो ही दानी उन पाँच-पाँच लाखके प्रत्येक दानीसे बड़े दानी मालूम होते हैं।

अध्यापक—वैसे ? जरा समझाकर बतलाओ ?

विद्यार्थी—पाँच लाखके प्रथम दानी सेठ डालचन्दने जो द्रव्य दान किया है वह उनका अपना द्रव्य नहीं है, वह वह द्रव्य है जो ग्राहकोंमें मुनाफेके अतिरिक्त धर्मादाके रूपमें लिया गया है, न कि वह द्रव्य जो अपने मुनाफेमेंसे दानके लिये निकाला गया हो। और इसलिये उसमें सँकड़ा व्यक्तियोंका दानद्रव्य शामिल है। अतः दानके लक्षणानुसार सेठ डालचन्द उस द्रव्यके दानी नहीं कहे जा सकते—दानद्रव्यके व्यवस्थापक हो सकते हैं। व्यवस्थामें भी उनकी दृष्टि अपने व्यापारकी रही है और इसलिये उनके उस दानका कोई विशेष मूल्य नहीं है—वह दानके ठीक फलोंको नहीं फल सकता। पाँच लाखके दानी शेष तीन सेठ तो दानके व्यापारी मात्र हैं—दानकी कोई स्फूर्ति, भावना और आत्मोपकार तथा परोपकारको लिये हुए अनुग्रहदृष्टि उनमें नहीं पाई जाती और इसलिये उनके दानको वास्तवमें दान कहना ही न चाहिये। सेठ ताराचन्दने तो ब्लैक-मार्केट-द्वारा बहुतोंको सताकर कमाये हुए उस अन्याय द्रव्यका दान करके उसका बदला भी अपने ऊपर चलनेवाले एक मुकदमेको टलानेके रूपमें चुका लिया है और सेठ विनोदीरामने बदलेमें 'रायबहादुर' तथा 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' के पद प्राप्त कर लिये हैं अतः पारमार्थिक-दृष्टिसे उनके उस दानका कोई मूल्य नहीं है। प्रत्युत इसके,

दस-दस हजारके उन चारों दानियोंके दान दानकी ठीक स्फिरिट, भावना तथा स्व-परकी अनुग्रहबुद्धि आदिको लिये हुए हैं और इस-लिये दानके ठीक फलको फलनेवाले सम्यक्दान कहे जानेके योग्य हैं। इसीसे मैं उनके दानी सेठ दयाचन्द, सेठ ज्ञानानन्द, ला० विवेकचन्द और बाबू सेवारामजीको पाँच पाँच लाखके दानी उन चारों सेठों डालचन्द, ताराचन्द, रामानन्द, और त्रिनोदीरामसे बड़े दानी समझता हूँ। इनके दानका फल हर हालतमें उन तथाकथित बड़े दानियोंके दान-फलसे बड़ा है और इसलिये उन दस-दस हजारके दानियोंसे प्रत्येक दानी उन पाँच-पाँच लाखके दानियोंसे बड़ा है।

यह सुनकर अध्यापक वीरभद्रजी अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए बोले—‘परन्तु सेठ रामानन्दजीने तो दान देकर अपना नाम भी नहीं चाहा, उन्होंने गुप्तदान दिया है और गुप्तदानका महत्त्व अधिक कहा जाता है, तुमने उन्हें छोटा दानी कैसे कह दिया ? जरा उनके विषयको भी कुछ स्पष्ट करके बतलाओ।

विद्यार्थी—सेठ रामानन्दका दान तो वास्तवमें कोई दान ही नहीं है—उस पर दानका कोई लक्षण घटित नहीं होता और इसलिये वह दानकी कोटमें ही नहीं आता—गुप्तदान कैसा ? वह तो स्पष्ट रिश्वत अथवा घूस है, जो एक उच्चाधिकारीको लोभमें डालकर उसके अधिकारोका दुरुपयोग कराने और अपना बहुत बड़ा लौकिक स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये दी गई है और उस स्वार्थसिद्धिकी उत्कट भावनामें इस बातको बिल्कुल ही भुला दिया गया है कि वनस्पतिधीके प्रचार-से लोकमें कितनी हानि हो रही है—जनताका स्वास्थ्य कितना गिर गया तथा गिरता जाता है और वह नित्य नई कितनी ब कितने प्रकारकी बीमारियोंकी शिकार होती जाती है, जिन सबके कारण उसका जीवन भाररूप हो रहा है। उस सेठने सबके दुख-कष्टोंकी ओरसे अपनी आंखें बन्द कर ली है—उसकी तरफसे बूढ़ा मरो चाहे जबान उसे अपनी हत्यासे काम ! फिर दानके अगस्वरूप किसीके

अनुग्रह उपकारकी बात तो उसके पास वहाँ पटक सब ती है ? वह तो उससे कोसों दूर है । महामा गान्धी-जैसे सन्तपुरुष वनस्पति-धीके विरोधमें जो कुछ कह गये हैं उसेभी उसने ठुकरा दिया है और उस अधिकारीको भी ठुकरानेके लिये राज़ी कर लिया है जो बात-बातमें गांधीजीके अनुयायी होनेका दम भरा करता है और दूसरोको भी गांधीजीके आदेशानुसार चलनेकी प्रेरणा दिया करता है । ऐसा ढोगी, दम्भी बगुला-भगत उच्चाधिकारी जो तुच्छ लोभमें पड़कर अपने कर्तव्यसे च्युत, पथसे भ्रष्ट और अपने अधिकारका दुरुपयोग करनेके लिये उतारू हो जाता है वह दानका पात्र भी नहीं है । इस तरह पारमार्थिक दृष्टिसे सेठ रामानन्दका दान कोई दान नहीं है । और न लोकमें ही ऐसे दानको दान कहा जाता है । यदि द्रव्यको अपनेसे पृथक् करके किसीको दे देने मात्रके कारण ही उसे दान कहा जाय तो वह सबमें निकृष्ट दान है, उसका उद्देश्य बुरा एवं लोकहितमें बाधक होनेसे वह भविष्यमें घोर दुखो तथा आपदाओंके रूपमें फलेगा । और इसलिये पाँच-पाँच लाखके उक्त चारों दानियोंमें सेठ रामानन्दको सबसे अधिक निकृष्ट, नीचे दर्जेका तथा अधम दानी समझना चाहिये ।

अध्यापक—शाबास ! मालूम होता है अब तुम बड़े और छोटेके तत्त्वको बहुत कुछ समझ गये हो । हाँ, इतना और बतलाओ कि जिन चार दानियोंको तुमने पाँच पाच लाखके दानियोंसे बड़े दानी बतलाया है वे क्या दस-दस हजारकी समान रकमके दानसे परस्पर-में समान दानी हैं, समान-फलके भोक्ता होंगे और उनमें कोई परस्परमें बड़ा छोटा दानी नहीं है ?

विद्यार्थी उत्तरकी खोजमें मन-ही-मन कुछ सोचने लगा, इतनेमें अध्यापकजी बोल उठे—‘इसमें अधिक सोचनेकी बात नहीं, इतना तो स्पष्ट ही है कि जब अधिक द्रव्यके दानी भी अल्प द्रव्यके दानीसे छोटे हो जाते हैं और दानद्रव्यकी संख्या पर ही दान तथा

दानीका बड़ा-छोटापन निर्भर नहीं है तब समान द्रव्यके दानी पर-स्परमें समान और एक हो दर्जेके होंगे ऐसा कोई नियम नहीं हो सकता—वे समान भी हो सकते हैं और असमान भी । इस तरह उनमें भी बड़े-छोटेका भेद समव है और वह भेद तभी स्पष्ट हो सकता है जब कि सारी परिस्थिति सामने हो अर्थात् यह पूरी तौरसे मालूम हो कि दानके समय दातारकी कौटुम्बिक तथा आर्थिक आदि स्थिति कैसी थी, किन भावोंकी प्रेरणासे दान किया गया है, किस उद्देश्यको लेकर तथा किस विधि-व्यवस्थाके साथ दिया गया है और जिन्हें लक्ष्य करके दिया गया है वे सब पात्र हैं, कुपात्र है या अपात्र, अथवा उस दानकी कितनी उपयोगिता है । इन सबकी तरतमता पर ही दान तथा उसके फलकी तरतमता निर्भर है और उसीके आधार पर किसी प्रशस्त दानको प्रशस्ततर या प्रशस्ततम अथवा छोटा-बड़ा कहा जा सकता है । जिनके दानोंका विषय ही एक दूसरेसे भिन्न होता है उनके दानी प्रायः समान फलके भोक्ता नहीं होते और न समान फलके अभोक्ता होनेसे ही उन्हें बड़ा-छोटा कहा जा सकता है । इस दृष्टिसे उक्त दस-दस हज़ारके चारो दानियोंमेंसे किसीके विषयमें भी यह कहना सहज नहीं है कि उनमें कौन बड़ा कौन छोटा दानी है । चारोंके दानका विषय बहुत उपयोगी है और उन सबकी अपने अपने दानविषयमें पूरी दिलचस्पी पाई जाती है ।'

अध्यापक वीरभद्रजीकी व्याख्या चल ही रही थी, कि इतनेमें घटा बज गया और वे यह कहते हुए उठ खड़े हुए कि—'दान और दानीके बड़े-छोटेपनके विषयमें आज बहुत कुछ विवेचन दूसरी कक्षामें किया जा चुका है उसे तुम मोहनलाल विद्यार्थीसे मालूम कर लेना, उससे रही-सही कचाई दूर होकर तुम्हारा इस विषयका ज्ञान और भी परिपुष्ट हो जायगा और तुम एकान्त-अभिनिवेशके चक्करमें न पड़ सकोगे ।' अध्यापकजीको उठते देखकर 'सब विद्यार्थी खड़े होमये और बड़े विनीतभावसे उनका आभार व्यक्त करने लगे ।

भारतकी स्वतन्त्रता, उसका झंडा और कर्तव्य

कोई एक हजार वर्षकी गुलामीके बाद भारत १५ अगस्त सन् १९४७ को स्वतन्त्र हुआ—उसकी गर्दन परसे अवाच्छनीय विदेशी-शासनका जूआ उतरा, उसके पैरोकी बेड़ियाँ हाथोकी हथकड़ियाँ कटी और शरीर तथा मन परके दूसरे बन्धन भी टूटे, जिन सबके कारण वह पराधीन था, स्वेच्छासे कही जा आ नहीं सकता था, बोल नहीं सकता था यथेष्टरूपमें कुछ कर नहीं सकता था और न उसे कही सम्मान ही प्राप्त था। उसमें अनेक उपायोसे फूटके बीज बोए जाते थे और उनके द्वारा अपना उल्लू सीधा किया जाता था। साथ ही उस पर करों आदिका मनमाना बोझ लादा जाता था, तरह तरहके अन्याय-अत्याचार किये जाते थे, अपमानो-तिरस्कारों की बौछारें पड़ती थीं और उन सबके विरोधमें जबान खोलने तकका उसे कोई अधिकार नहीं था। उसके लिये सत्य बोलना भी अपराध था। और इसलिये वह मजबूर था झूठ, चोरी, बेईमानी, घूसखोरी और ब्लैकमार्केट-जैसे कुकर्मोंके लिये। इसीसे उसका नैतिक और धार्मिक पतन बड़ी तेजीके साथ हो रहा था, सारा वातावरण गदा एवं दूषित हो गया था और कही भी सुखपूर्वक साँस लेनेके लिये स्थान नहीं था।

धन्य है भारतकी उन विभूतियोंको जिन्होंने परतन्त्रताके इस

दोषको समझा, स्वतन्त्रताका मूल्य आँका और उस मूल्यको चुकानेके लिये अहिंसाके साथ तप, त्याग तथा बलिदानका मार्ग अपनाया। परिणामस्वरूप जिन्हें घोर यातनाएँ सहनी पड़ी, महीनो-वर्षों जेलोंकी कालकौठरियोंमें सड़ना पड़ा, सारे सुख-चैन और आरामको तिलाञ्जलि देनी पड़ी, सम्पत्तिका अपहरण देखना पड़ा और हृदयको व्यथित करनेवाली देशीय तथा आत्मीय जनोकी करुण पुकारो एवं कष्ट-कहानियोंको सुनना पड़ा। साथ ही, देशसे निर्वासित होना पड़ा, गोलिया खानी पड़ी और फाँसीके तस्तोपर भी लटकना पड़ा। परन्तु इन सब अवस्थाओंमेंसे गुजरते हुए जो कभी अपने लक्ष्यसे विचलित नहीं हुए, वेदनाओं तथा प्रलोभनोंके सामने जिन्होंने कभी सिर नहीं झुकाया, अहिंसाकी नीतिको नहीं छोड़ा, सतानेवालोंके प्रति भी उनके हृदय-परिवर्तन तथा उनमें मानवताके संचारके लिये सदा शुभ कामनाएँ ही की, और जो अपने प्रणके पक्के, वचनके सच्चे तथा सकल्पमें अडोल रहे और जिन्होंने सब कुछ गँवाकर भी अपनी तथा देशकी प्रतिष्ठाको कायम रखा। यहाँ उन विभूतियोंके नामोंका गिनानेकी जरूरत नहीं और न उन्हें गिनाया ही जा सकता है, क्योंकि जो सुप्रसिद्ध विभूतियाँ हैं उनके नामोंसे तो सभी परिचित हैं, दूसरी विभूतियोंमें कितनी ही ऐसी विभूतियाँ भी हैं जो गुप्तरूपसे काम करती रही हैं और जिनका तप-त्याग एवं बलिदान किसी भी प्रसिद्ध बड़ी विभूतिसे कम नहीं है। अकसर बड़ी विभूतियोंको तो जेलमें बन्द रहते हुए भी उतने कष्ट सहन नहीं करने पड़े हैं जितने कि किसी-किसी छोटी विभूतिको सहन करने पड़े हैं। अतः यहाँ पर किसीका भी नाम न देकर उन सभी छोटी बड़ी, प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध विभूतियोंको सादर प्रणामाञ्जलि समर्पित है जो भारतकी मुक्तिके लिये बराबर प्रयत्न करती रही हैं और जिनके सत्प्रयत्नोंके फलस्वरूप ही देशको आज वह स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है जिसके कारण भारतवासी अब आजादीके साथ खुले वातावरण में

साँस ले सकेंगे, यथेच्छ रूपमें चल फिर सर्वेगे खुली आवाज़ से बोल सकेंगे, बिना सकोचके लिख-पढ़ सकेंगे, बिना किसी रोक-टोकके अपनी उन्नति एवं प्रगतिके साधनोको जुटा सकेंगे। ऐसी स्वतन्त्रता किसे प्यारी नहीं होगी ? कौन उसका अभिनन्दन नहीं करेगा ? कौन उसे पाकर प्रसन्न नहीं होगा ? और कौन उसके लिये आनन्दोत्सव नहीं मनाएगा ?

यही वजह है कि उस दिन १५ अगस्तको स्वतन्त्रता-दिवस मनानेके लिये जगह-जगह—नगर-नगर और ग्राम-ग्राममें—जन-समूह उत्सवके लिये उमड़ पड़ा था, जनतामें एक अभूतपूर्व उत्साह दिखाई पड़ता था, लम्बे-लम्बे जलूस निकाले गये थे, तरह-तरहके बाजे बज रहे थे, नेताओं और शहीदोंकी जयघोषके नारे लग रहे थे, बालकोंको मिठाइयाँ बँट रही थी, कहीं कहीं दीन-दुःखित जनोको अन्न-वस्त्र भी बाँटे जा रहे थे, घर-द्वार, सरकारी इमारतें और मन्दिर-बाजारोंदिक सब सजाये गये थे उन पर रोशनी भी गई थी—दीपावली मनाई गई थी—और हजारों कैदी जेलोंसे मुक्त होकर इन उत्सवोंमें भाग ले रहे थे और अपने नेताओंकी इस भारी सफलता पर गर्व कर रहे थे और उन्हें हृदयसे धन्यवाद दे रहे थे।

इन उत्सवोंकी सबसे बड़ी विशेषता भारतके उस तिरगे झंडेकी थी जिसका अशोकचक्रके साथ नव-निर्माण हुआ है। घर-घर, गली-गली और दुकान-दुकान पर उसे फहराया गया था। कोई भी सरकारी इमारत, सार्वजनिक सत्था और मन्दिर मस्जिदकी बिल्डिंग ऐसी दिखाई नहीं पड़ती थी जो इस राष्ट्रीय पताकाको अपने सिर पर अथवा अपनी गोदमें धारण किये हुए न हो। जलूसोंमें बहतसे लोग अपने-अपने हाथोंमें इस झंडेको थामे हुए थे, जिन्हें हाथोंमें लेनेके लिये झंडे नहीं मिल सके वे इस झंडेकी मूर्तियों या चित्रोंको अपनी-अपनी टोपियों अथवा छातियों पर धारण किये हुए थे। जिधर देखो उधर ये राष्ट्रीय झंडे ही झंडे फहराते हुए नज़र आते

थे और उनकी सारे देशमें एक बाढ़ सी आगई थी। जहाँ कहीं भी किसी खास स्थान पर समूहके मध्यमें झंडेको लहरानेकी रस्म अदा की गई वहाँ हिन्दू, मुसलमान, सिख, जैन, पारसी और ईसाई आदि सभीने मिलकर बिना किसी भेद-भावके झंडेका गुणगान किया, उसे सिर झुकाकर प्रणाम किया और सलामी दी।

उस वक्तका यह सार्वजनिक और सार्वभौमिक मूर्तिपूजाका दृश्य बड़ा ही सुन्दर जान पड़ता था। और हृदयमें रह-रहकर ये विचार तराजूत हो रहे थे कि जो लोग मूर्तिपूजाके सर्वथा विरोधी हैं उसमें कृत्रिमता और जड़ता जैसे दोष देकर उसका निषेध किया करते हैं—वे समय पर इस बातको भूल जाते हैं कि 'हम भी किसी न किसी रूपमें मूर्तिपूजक हैं', क्योंकि राष्ट्रका झंडा भी, जिसकी वे उपासना करते हैं, एक प्रकारकी जड़मूर्ति है और राष्ट्रके प्रांतनिधि नेताओं-द्वारा निर्मित होनेसे कृत्रिम भी है।

परन्तु देवमूर्ति जिस प्रकार कुछ भावोंकी प्रतीक होती है, जिनकी उसमें प्रतिष्ठा की जाती है, उसी प्रकार यह राष्ट्रपताका भी उन राष्ट्रीय भावनाओंकी प्रतीक है जिनकी कुछ रङ्गों तथा चिन्हों आदिके द्वारा इसमें प्रतिष्ठा की गई है, और इसीसे देवमूर्तिके अपमानकी तरह इस प्रतिष्ठित राष्ट्रमूर्तिके अपमानको भी इसका कोई उपासक सहन नहीं कर सकता। इसी बातको लेकर 'झंडेको सदा ऊँचा रखने और प्राण देकर भी उसकी प्रतिष्ठाको बराबर कायम रखनेकी' सामूहिक तथा व्यक्तिगत-प्रतिज्ञाएँ कराई गई थी। अतः झंडेकी पूजा-वन्दना करनेवालोंको भूलकर भी मूर्तिपूजाका सर्वथा विरोध नहीं करना चाहिये—वैसा करके वे अपना विरोध आप धटित करेंगे।

उन्हे दूसरोंकी भावनाओंकी भी समझना चाहिये और अनुचित आक्षेपादिके द्वारा किसीके भी मर्मको नहीं दुखाना चाहिये, बल्कि राष्ट्रीय झंडेकी इस सामूहिक वन्दनासे पदार्थ-पाठ लेकर सबके साथ

प्रेमका व्यवहार करना चाहिये और कोई भी काम ऐसा नहीं करना चाहिये जिससे राष्ट्रकी एकता मज्ज हो अथवा उसके हितको बाधा पहुँचे। साथ ही, यह भी समझ लेना चाहिये कि ससारमें ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं है जो किसी न किसी रूपमें मूर्तिकी पूजा-उपासना न करता हो—बिना मूर्ति-पूजाके अथवा आदरके साथ मूर्तिको अपनाये बिना किसीका भी काम नहीं चलता। शब्द और अक्षर भी एक प्रकारकी मूर्तियाँ—पौद्गालिक आकृतियाँ—हैं, जिनसे हमारे धर्म-ग्रन्थ निर्मित हैं और जिनके आगे हम सदा ही सिर झुकाया करते हैं। यह सिर झुकाना, वन्दना करना और आदर-सत्कार रूप प्रवृत्त होना ही 'पूजा' है, पूजाके और कोई सींग नहीं होते।

भडेमे जिस अशोकचक्रकी स्थापना की गई है उसका रहस्य अभी बहुत कुछ गुप्त है। भारतके प्रधान मन्त्री माननीय पांडत जवाहरलालजी नेहरूने उस दिन वर्तमान राष्ट्रीय भडेका रूप उपस्थित करते और उसे पास कराते हुए जो कुछ कहा है वह बहुत कुछ सामान्य, सक्षिप्त तथा रहस्यके गाम्भीर्यको सूचना-मात्र है—उससे अशोकचक्रको अपनानेका पूरा रहस्य खुलता नहीं है। सम्भव है सरकारकी गोरसे किसी समय उस पर विशेष प्रकाश डाला जाय। जैनकुलोत्पन्न सम्राट् अशोक किन सत्कारोंमें पले ये कौनसी परिस्थितियाँ उनके सामने थी, उन्होंने किन-किन भावोंको लेकर इस चक्रकी रचना की थी, चक्रका कौन-कौन अंग किस-किस भावका प्रतिनिधित्व करता है—खासकर उसके आरोंकी २४ संख्या किस भावका द्योतन करती है, जैन तीर्थंकरोंके 'धर्मचक्र' और बुद्ध भगवानके 'धर्मचक्र' के साथ इसका क्या तथा कितना सम्बन्ध है और भारतके भरतादि चक्रवर्तियों तथा कृष्णादि नारायणोंके 'सुदर्शन-चक्र' के साथ इस चक्रका कहाँ तक सादृश्य है अथवा उसके किस-किस रूपको किस दृष्टिसे इसमें अपनाया गया है, ये सब बातें प्रकट होनेके योग्य हैं।

कितनी ही बातें इनमें ऐसी भी हो सकती हैं जो अभी इतिहासके गर्भमें हैं और जिन्हें आगे चलकर किसी समय इतिहास प्रकट करेगा। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह चक्र बड़ा ही महत्वपूर्ण है, भारतकी प्राचीन सस्कृतिको द्योतक है और उसकी विजयका चिन्ह है। इसीसे विजयके अवसर पर उसे राष्ट्रीय पताकामें धारण किया गया है। वह जहाँ धार्मिक चक्रवर्तियोंकी धर्म विजयका और लौकिक चक्रवर्तियोंकी लोक-विजयका चिह्न रहा है वहाँ वर्तमान मशीन-युगके भी वह अनुरूप ही है और उसका प्रधान अंग है। नई पुरानी अधिकांश मशीनें चक्रोंसे ही चलती हैं—चक्रके बिना उनकी गति नहीं। यदि चक्रका उपयोग बिल्कुल बन्द कर दिया जाय तो प्रायः सारा यातायात और उत्पादन एकदम रुक जाय। क्योंकि रथ, गाड़ी, ताङ्गा, मोटर, साईकिल, रेल, एंजन, जहाज, रहट, चाक, चर्खा, चर्खी, कर्पा और कल-मिल आदि सभी साधनोंमें प्रायः चक्रका उपयोग होता है, और इसलिये चक्रको श्रम-जीवन तथा श्रमोन्नतिका प्रधान प्रतीक भी समझना चाहिये, जिसके बिना सारा संसार बेकार है।

अतः जब तक अशोकचक्रको, जिसमें थोड़ासा परिवर्तन भी किया जान पड़ता है, प्रतिष्ठित करनेवाले अधिकारियोंद्वारा इसके रहस्यका उद्घाटन नहीं किया जाता तब तक सर्वसाधारण जन इस चक्रमें सूर्यकी, सुदर्शनचक्रकी, जैन तथा बौद्धोंके धर्मचक्रोंमेंसे किसीकी, वर्तमान युगके मशीनी चक्रकी अथवा सभीके समावेशकी कल्पना कर सकते हैं और तदनुकूल उसका दर्शन भी कर सकते हैं। परन्तु मुझे तो अशोककी दृष्टिसे इस चक्रका मध्यवृत्त (बीचका गोला) समता (शान्ति) और ज्योति (ज्ञान) का प्रतीक जान पड़ता है, बाह्यवृत्त संसारकी—मध्यलोककी अथवा जम्बूद्वीपकी परिधि के रूपमें प्रतीत होता है, संसारमें समता और ज्योतिका प्रसार जिन २४ किरणोंद्वारा हुआ तथा हो रहा है वे मुख्यतः ऋष-

भादि महावीर पर्यन्त २४ जैन तीर्थंकर मालूम होते हैं—दूसरों-द्वारा बादको माने गये २४ अवतारोंका भी उनमें समावेश है—और परिधिके पास तथा किरणोंके मध्यमें जो छोटे-छोटे स्तूपाकार उभार हैं वे इस लोककी आबादी (नगरादि) के प्रतीक जान पड़ते हैं और उनके शिरोभाग जो मध्यवृत्तका कुछ गुलाईको लिये हुए है वे इस बातको सूचित करते हैं कि उन पर मध्यवृत्तका असर पड़ा है और वे उसकी समता तथा ज्योतिके प्रभावसे प्रभावित हैं। साथ ही, विजय-चिन्हके रूपमें सुदर्शनचक्रका भी उसमें समावेश हो सकता है और प्रकारान्तरसे सूर्यका भी, जो सब पर समानरूपसे अपना प्रकाश डालता है, स्फूर्ति-उत्साह-प्रदायक है और सबकी उन्नति-प्रगतिमें सहायक है।

भट्टके तीन रंगोंमें एक सफेद रंग भी है जो शुद्धिका प्रतीक है। वह यदि आत्मशुद्धिका प्रतीक होता तो उसे सर्वोपरि स्थान दिया जाता, मध्यमें स्थान दिया जानेसे वह हृदय-शुद्धिका द्योतक जान पड़ता है—हृदयका स्थान भी शरीरके मध्यमें है। इस सफेद रंगके मध्यमें ही अशोकचक्र अथवा विजयचक्रकी स्थापना की गई है, जिसका स्पष्ट आशय यह जान पड़ता है कि विजय अथवा अशोक-का सम्बन्ध चित्तशुद्धिसे है—चित्तशुद्धिके बिना न तो स्थायी विजय मिलती है और न अशोक दशाकी ही प्राप्ति होती है। अस्तु।

अब मैं इतना और बतला देना चाहता हूँ कि भारतको यह जो कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है वह अभी तक बाह्य शत्रुओंसे ही प्राप्त हुई है—अन्तरंग (भीतरी) शत्रुओंसे नहीं—और वह भी एक समझौतेके रूपमें। समझौतेके रूपमें इतनी बड़ी स्वतन्त्रताका मिलना इतिहासमें अभूतपूर्व समझा जाता है और उसका प्रधान श्रेय महात्मा गाँधीजीके द्वारा राजनीतिमें अहिंसाके प्रवेशको प्राप्त है। इस विषयमें महात्माजीका कहना है कि जनताने अहिंसाको एक नीतिके रूपमें ऊमरी तौर पर अपनाया है उसका इतना फल है। यदि अहिंसाको हृदयसे पूरी तौर पर अपनाया होता तो स्वराज्य कभीका

मिल जाता और वह स्थिर रहनेवाला स्वराज्य होता। यदि अहिंसा-को छोड़ दिया और हिंसाको अपनाया गया तो जो स्वराज्य आज प्राप्त हुआ है वह कल हाथसे निकल जायगा। अतः इस समय सर्वोपरि प्रश्न प्राप्त हुई स्वतन्त्रताकी सुरक्षा तथा स्थिरताका है।

जिस दिनसे यह स्वतन्त्रता मिली है उस दिनसे भीतरी शत्रुओंने और भी जोरके साथ सिर उठाया है—जिधर देखो उधर मार-काट, लूट-खसोट, मन्दिर-मूर्तियोंकी तोड़-फोड़ और आग लगानेकी घटनाएँ हो रही हैं। इन घटनाओंको पहले पाकिस्तानने शुरू किया, पाकिस्तान गैर-मुसलमानीकी संपत्तिको छीनकर अथवा उसे नष्ट-भ्रष्ट करके ही सन्तुष्ट रहना नहीं चाहता बल्कि उनकी युवास्त्रियों तथा लड़कियोंसे बलात्कार करने और उन्हें घर-डालने तकमें प्रवृत्त हो रहा है शेष सबको बन्धो समेत कत्ल कर देने अथवा जबरन उनका धर्म परिवर्तन करनेके लिये उतारू है। और इस तरह गैर-मुसलमानोंकी अथवा अपनी बोलीमें काफ़ीरोंकी सख्याको एकदम कम कर देना चाहता है। चुनाँचे अगर कोई किसी तरह भाग-बचकर किसीकी शरणमें अथवा शरणार्थी-शिविरमें पहुँच जाता है तो वहाँ तक उसका पाछा किया जाता है और हिन्दुस्तानमें आनेवाले शरणार्थियोंकी ट्रेनों, बसों तथा हवाई जहाजों तक पर हमला किया जाता है और कितने ही ऐसे मुमीबतज्जदा बेघरबार एवं निरपराधी शरणार्थियोंको भी मौतके घाट उतार दिया जाता है ॥ इस घोर अन्याय-अत्याचार और अमानुषिक व्यवहारकी खबरोसे सर्वत्र हाहाकार मचा हुआ है, बदलेकी भावनाएँ दिन-पर-दिन जोर पकड़ती जा रही हैं और लोग 'जैमको तैसा' की नीति पर अमल करनेके लिये मजबूर हो रहे हैं सारा वातावरण लुब्ध और सशक्त बना हुआ है, कहीं भी अपनेको कोई सुरक्षित नहीं समझता। कहाँ पर किस समय क्या होजाय, यहाँ आशका लोगोके हृदयोमें घर किये हुए है। सारा व्यापार चौपट है और किसीको भी ज़रा चैन नहीं है, इस तरह

यह स्वतन्त्रता एक प्रकारका अभिशाप बन रही है और साधारण अदूरदर्शी एवं अविवेकी लोगोको यह कहनेका अवसर मिल रहा है कि 'इस स्वतन्त्रतासे तो परतन्त्रता अच्छी थी' । इधर पास खड़े कुछ बाहरी शत्रु भी आगमे ईंधन डालकर उसे भड़का रहे हैं और इस बातकी फिकरमें है कि इन भारतवासियोको स्वराज्यके अयोग्य करार देकर फिरसे इनकी गर्दन पर सवारी की जाय—अपने निरकुश शासनका जूआ उन पर रक्खा जाय ।

ऐसी हालतमें नेताओका कार्य बड़ा ही कठिन और जटिल हो रहा है । उन्हें सुखकी नींद सोना तो दूर रहा, सुखपूर्वक सास लेनेका भी अवसर नहीं मिल रहा है । उनकी जो शक्ति रचना मक, व्यवस्थात्मक और देशको ऊपर उठानेके कार्योंमें लगती और जिनसे उनकी असाधारण कार्बालयत (योग्यता) जानी जाती, वह आज इस व्यर्थके गृह-कलहके पीछे उलझी हुई है । इसमें सन्देह नहीं कि पाकिस्तानने हिन्दुस्तान (भारत) के साथ विश्वासघात किया है और नेताओको मस्त धोखा हुआ है, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं है कि भारतके प० जवाहरलाल नेहरू और सरदार पटेल-जैसे नेता बड़ी तत्परताके साथ काम कर रहे हैं और उन्होंने दिन-रात एक करके थोड़े ही समयमें वह काम करके दिखलाया है जो अच्छे-अच्छे राजनीतिज्ञ और कार्यकुशल व्यक्तियोंके लिये ईर्ष्याकी वस्तु हो सकती है । इस समय उनकी सारी शक्ति हिन्दू, सिख आदि शरणार्थियोंको पाकिस्तानसे निकालने और पूर्वी पजाबसे मुसलमान शरणार्थियोंको सुरक्षितरूपमें पाकिस्तान भिजवानेमें लगी हुई है । वे हिन्दुस्तानमें पाकिस्तानकी पक्षपातपूर्ण और धर्मांध साम्प्रदायिक विद्वेषकी नीतिको किसी तरह भी अपनाना नहीं चाहते । उनकी दृष्टिमें सारी प्रजा—चाहे वह हिन्दू, मुसलमान, सिख, जैन, ईसाई, पारसी आदि कोई भी क्यों न हो—समान है और वह सभीके हितके लिये काम करके दुनियामें एक आदर्श उपस्थित करना चाहते हैं ।

परन्तु इस गृह-कलहके, जिसके विष-बीज विदेशियोने चिरकालसे बो रक्खे हैं, दूर हुए बिना कुछ भी नहीं हो सकता। इसके लिये अन्तरङ्ग शत्रुओंसे युद्ध करके उनका नाश करना होगा। जब तक अन्तरङ्ग शत्रुओंका नाश नहीं होगा तब तक भारतको सच्ची स्वाधीनताकी प्राप्ति नहीं कही जा सकती और न उसे सुख-शान्तिकी प्राप्ति ही हो सकती है। परन्तु इन शत्रुओंका नाश उनके मारनेसे नहीं होगा बल्कि उनकी शत्रुताको मारनेसे होगा, जिसके लिये देशमें परस्पर प्रेम, सद्भाव और विश्वासकी भावनाओंके प्रचारकी और उसके द्वारा विद्वेषके उस विषको निकाल देनेकी अत्यन्त आवश्यकता है जो अधिकांश व्यक्तियोंकी रगोमे समाया हुआ है। इसीके लिये नेताओंको जनताका सहयोग वाञ्छनीय है। वे चाहते हैं कि जनता प्रतिहिंसा अथवा बदलेकी भावनासे प्रेरित होकर कोई काम न करे और दहादिके कानूनको अपने हाथमें न लेवे। उसे आतताइयोसे अपनी जान और मालकी रक्षाका खुला अधिकार प्राप्त है और उस अधिकारको अमलमें लाते हुए, ज़रूरत पड़ने पर, वह आतताइयोंकी जान भी ले सकती है, परन्तु किसी आततायीके अन्याय-अत्याचारका बदला उसकी जातिके निरपराध व्यक्तियों-बालबच्चों तथा स्त्रियों आदिको मारकर चुकाना उन्हें किसी तरह भी सहन नहीं हो सकता। बदलेकी ऐसी कार्रवाईसे शत्रुताकी आग उत्तरोत्तर बढ़ती है, नेताओंका कार्य कठिनसे कठिनतम हो जाता है और कभी शान्ति तथा सुव्यवस्था नहीं हो पाती। बदलेकी ऐसी कार्रवाई करनेवाले एक प्रकारसे अपने ही दूसरे भाइयोंकी हत्या और मुसीबतके कारण बनते हैं।

अतः भारतकी स्वतन्त्रताको स्थिर-सुरक्षित रखने और उसके अविध्यको समुज्ज्वल बनानेके लिये इस समय जनता तथा भारत-हितैषियोंका यह मुख्य कर्त्तव्य है कि वे अपने नेताओंको उनके कार्योंमें पूर्ण सहयोग प्रदान करें और ऐसा कोई भी कार्य न करे जिस-

से नेताओंका कार्य कठिन तथा जटिल बने । इसके लिये सबसे बड़ा प्रयत्न देशमें घर्मान्धता अथवा मजहबी पागलपनको दूर करके पारस्परिक प्रेम, सद्भाव, विश्वास और सहयोगकी भावनाओंको उत्पन्न करनेका है । इसीसे अन्तरङ्ग शत्रुओंका नाश होकर देशमें शान्ति एवं सुव्यवस्थाकी प्रतिष्ठा हो सकेगी और मिली हुई स्वतन्त्रता स्थिर रह सकेगी ।

देशमें ऐसी सद्भावनाओंको उत्पन्न करने और फैलानेका काम, मेरी रायमें, उन सच्चे साधुओंको अपने हाथमें लेना चाहिये जो सभी सम्प्रदायोंमें थोड़े बहुत रूपमें पाये जाते हैं । उनके ऊपर देशका बहुत बड़ा ऋण है, जिसे उनको इस प्रकारकी सेवाओंद्वारा अब चुकाना चाहिये । इस समय उनकी सेवाओंकी खास जरूरत है, जिससे घर्मान्ध-गुरुओं और बहके हुए स्वार्थपरायण मौलवी-मुल्लाओंके श्रुत प्रचारसे व्याप्त हुए विषको देशकी रगोसे निकाला जा सके । उन्हें वर्तमानमें आत्म-साधनाको भी गौण करके लोकसेवाके मैदानमें उतर आना चाहिये, महात्मा गांधीकी तरह सच्चे दिलसे निर्भय होकर अपेक्षित सेवाकार्योंमें प्रवृत्त हो जाना चाहिये और यह समझ लेना चाहिये कि देशका वातावरण शांत हुए बिना वे आत्म-साधना तो क्या, कोई भी घर्मसाधनका कार्य नहीं कर सकेंगे । अपनी सेवाओंद्वारा वे लोकके घर्मसाधनमें तथा आजकलकी हवामें सच्चे घर्मसे च्युत हुए प्राणियोंको सन्मार्ग दिखानेमें बहुत कुछ सहायक हो सकेंगे । और इसलिये उनका इस समय यह सर्वोपरि कर्तव्य है । यदि ऐसे कर्तव्यपरायण सत्साधुओंकी टोलियोंकी टोलियाँ देशमें घूमने लगे तो देशका दूषित वातावरण शीघ्र ही शुद्ध तथा स्वच्छ हो सकता है । आशा है सत्साधुओंका ध्यान जरूर इस ओर जायगा और वे अपने वर्तमान कर्तव्यको समझकर नेताओंको अपना वास्तविक सहयोग प्रदान करनेमें कोई बात उठा नहीं रखेंगे ।

महावीरका सर्वोदय-तीर्थ

विक्रमकी प्रायः दूसरी शताब्दीके महान् विद्वान् आचार्य स्वामी समन्तभद्रने अपने 'युक्त्यनुशासन' ग्रन्थमें, जो कि आप्त कहे जानेवाले समस्त तीर्थप्रवर्तकोंकी परीक्षा करके और उस परीक्षा-द्वारा श्री-महावीर-जिनको सत्यार्थ आप्तके रूपमें निश्चित करके तदनंतर उनकी स्तुतिके रूपमें लिखा गया है, महावीर भगवान्को (मोहनीय ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय नामके चार घातिया कर्मोंका अभाव हो जानेसे) अतुलित-शान्तिके साथ शुद्धि और शक्तिके उदयकी पराकाष्ठाको प्राप्त हुआ एव ब्रह्मपथका नेता लिखा है और इसीलिये उन्हें 'महान्' बतलाया है। साथ ही उनके अनेकान्त-शासन (मत) के विषयमें लिखा है कि 'वह दया (अहिंसा), दम (सयम), त्याग (परिग्रह-त्यजन) और समर्पण (प्रशस्त ध्यान) की निष्ठा-त परताको लिये हुए है, नयों तथा प्रमाणोंके द्वारा वस्तुतत्त्वको बिल्कुल स्पष्ट सुनिश्चित करनेवाला है और (अनेकान्तवादसे भिन्न) दूसरे सभी प्रवादोंके द्वारा अबाध्य है—कोई भी उसके विषयको खडित अथवा दूषित करनेमें समर्थ नहीं है। यही सब उसकी विशेषता है और इसीलिये वह अद्वितीय है।' जैसा कि ग्रन्थकी निम्न दो कारिकाओंसे प्रकट है.—

त्व शुद्धि-शक्त्योरुदयस्य काष्ठां तुलाव्यतीता जिन शान्तिरूपाम् ।
अवधारित्य ब्रह्मपथस्य नेता महानितीयत्प्रतिवस्तुमीशाः ॥४॥

दया दम त्याग-समाधि-निष्ठः, नय-प्रमाण-प्रकृताब्जसार्थम् ।

अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैर्जितः । त्वदोयं मनमद्वितीयम् ॥६॥

इनसे अगली कारिकाओमें सूत्ररूपसे वर्णित इस वीरशासनके महत्वको और उसके द्वारा वीर-जिनेन्द्रकी महानताको स्पष्ट करके बतलाया गया है—खास तौरसे यह प्रदर्शित किया गया है कि वीर-जिन-द्वारा इस शासनमें वर्णित वस्तुतत्त्व कैसे नय-प्रमाणके द्वारा निर्बाध सिद्ध होता है और दूसरे सर्वथैकान्त-शासनोमें निर्दिष्ट हुआ वस्तुतत्त्व किस प्रकारसे प्रमाणबाधित तथा अपने अस्तित्वको ही सिद्ध करनेमें असमर्थ पाया जाता है। सारा विषय विज्ञ-पाठकोंके लिये बड़ा ही रोचक और वीरजिनेन्द्रकी कीर्तिको दिग्दिगन्तव्यापिनी बनानेवाला है। इसमें प्रधान-प्रधान दर्शनो और उनके अवांतर कितने ही वादोका सूत्र अथवा संकेतादिके रूपमें बहुत कुछ निर्देश और विवेक आगया है। यह विषय ३९ वीं कारिका तक चलता रहा है। इस कारिकाकी टीकाके अन्तमें ९ वीं शताब्दीके विद्वान् श्रीविद्यानदाचार्यने वहाँ तकके वर्णित विषयकी संक्षेपमें सूचना करते हुए लिखा है —

स्तोत्रे युक्त्यनुशासने जिनपतेर्वीरस्य'नि शेषतः

सम्प्राप्तस्य विशुद्धि-शक्ति-पदवी काष्ठां परामाश्रिताम् ।

निर्णीतं मतमद्वितीयममलं संक्षेपतोऽपाकृतं

तद्बाह्यं वितथ मतं च सकलं सद्धीधनैर्बुध्यताम् ॥

अर्थात्—यहाँ तकके इस युक्त्यनुशासनस्तोत्रमें शुद्धि और शक्ति-की पराकाष्ठाको प्राप्त हुए वीर-जिनेन्द्रके अनेकान्तात्मक स्याद्वादमत (शासन) को पूर्णतः निर्दोष और अद्वितीय निश्चित किया गया है और उससे बाह्य जो सर्वथा एकान्तके आप्रहको लिये हुए मिथ्या-मतोंका समूह है उस सबका संक्षेपमें निराकरण किया गया है, यह बात सद्बुद्धिशालियोंको भले प्रकार समझ लेनी चाहिये ।

इसके आगे, अन्धके उत्तरार्धमें, वीरशासन-वर्णित तत्त्वज्ञानके

मर्मकी कुछ ऐसी गुह्य तथा सूक्ष्म बातोंको स्पष्ट करके बतलाया गया है जो ग्रन्थकार-महोदय स्वामी समन्तभद्रसे पूर्वके ग्रन्थोमें प्राय नहीं पाई जाती, जिनमें 'एव' तथा 'स्यात्' शब्दके प्रयोग अप्रयोगके रहस्यकी बातें भी शामिल हैं और जिन सबसे महावीरके तत्त्वज्ञान-को समझने तथा परखनेकी निर्मल दृष्टि अथवा कसौटी प्राप्त होती है। महावीरके इस अनेकान्तात्मक शामन (प्रवचन) को ही ग्रन्थमें 'सर्वोदयतीर्थ' बतलाया है—ससार-समुद्रसे पार उतरनेके लिये वह समीचीन घाट अथवा मार्ग सूचित किया है जिसका आश्रय लेकर सभी भव्यजीव पार उतर जाते हैं और जो सबके उदय-उत्कर्षमें अथवा आत्माके पूर्ण विकासमें परम सहायक है। इस विषयकी कारिका निम्न प्रकार है—

सर्वान्तवत्तद्गुण-मुख्य कल्प सर्वान्त-शून्य च मिथःऽनपेक्षम् ।

मर्वापदामन्तर निरन्त सर्वोदय तीर्थमिदं तत्रैव ॥६१॥

इसमें स्वामी समन्तभद्र भगवान् महावीरकी स्तुति करते हुए कहते हैं कि— '(हे भगवन् !) आपका यह तीर्थ— प्रवचनरूप शासन या परमागमवाक्य, जिसके द्वारा दुःसमय ससार-समुद्रको तिरा जाता है—सर्वान्तवान् है— सामान्य-विशेष, द्रव्य-पर्याय, विधि-निषेध (भाव अभाव), एक-अनेक (अद्वैत द्वैत), नित्य-क्षणिक आदि विशेष धर्मोंको लिये हुए है, एकान्तत किसी एक ही धर्मको अपना विषय किये हुए नहीं है— और गौण तथा मुख्यकी कल्पनाको साथमें लिये हुए है—एक धर्म किसी समय मुख्य है तो दूसरा धर्म गौण है, जो गौण है वह निरात्मक नहीं होता और जो मुख्य है उसमें व्यवहार चलता है, इसीसे सब धर्म सुव्यवस्थित हैं, उनमें असंगतता अथवा विरोधके लिये कोई अवकाश नहीं है। जो शासन-वाक्य धर्मोंमें पारस्परिक अपेक्षाका प्रतिपादन नहीं करता—उन्हें सर्वथा निरपेक्ष बतलाता है—वह सर्वधर्मोंसे शून्य है—उसमें किसी भी धर्मका अस्तित्व नहीं बन सकता और न उसके द्वारा पदार्थ-व्यवस्था

ही ठीक बैठ सकती है। अतः आपका ही यह शासनतीर्थ सब दुःखोका अन्त करनेवाला है, यही निरन्त है—किमी भी सर्वथैकान्तात्मक मिथ्यादर्शनके द्वारा खडनीय नहीं है—और यही सब प्राणियोंके अभ्युदयका कारण तथा आत्माके पूर्ण अभ्युदय (विकास) का साधक ऐसा 'सर्वोदयतीर्थ' है—जो शासन सर्वथा एकान्तपक्षको लिये हुए हैं उनमेंसे कोई भी 'सर्वोदयतीर्थ' पदके योग्य नहीं हो सकता।'

यहाँ 'सर्वोदयतीर्थ' यह पद सर्व, उदय और तीर्थ इन तीन शब्दोंसे मिलकर बना है। 'सर्व' शब्द सब तथा पूर्णका वाचक है, 'उदय' ऊँचे-ऊपर उठने, उत्कर्ष प्राप्त करने, प्रकट होने अथवा विकासको कहते हैं, और 'तीर्थ' उमका नाम है जिसके निमित्तसे ससारमहासागरको तिरा जाय। वह तीर्थ वास्तवमें धर्मतीर्थ है जिसका सम्बन्ध जीवान्मामे है उसकी प्रवृत्तिमें निमित्तभूत जो आगम अथवा आप्तवाक्य है वही यहाँ 'तीर्थ' शब्दके द्वारा परिग्रहीत है। और इसलिये इन तीनों शब्दोंके सामासिक योगसे बने हुए 'सर्वोदयतीर्थ' पदका फलितार्थ यह है कि—जो आगमवाक्य जीवात्माके पूर्ण उदय-उत्कर्ष अथवा विकासमें तथा सब जीवोंके उदय-उत्कर्ष अथवा विकासमें सहायक है वह 'सर्वोदयतीर्थ' है। आत्माका उदय-उत्कर्ष अथवा विकास उसके ज्ञान-दर्शन-मुखादिक स्वाभाविक गुणोंका ही उदय उत्कर्ष अथवा विकास है। और गुणोंका वह उदय-उत्कर्ष अथवा विकास दोषोंके अस्त-अपक्ष अथवा विनाशके बिना नहीं होता। अतः सर्वोदयतीर्थ जहाँ ज्ञानादि गुणोंके विकासमें सहायक है वहाँ अज्ञानादि दोषों तथा उनके कारण ज्ञानावरणादिक कर्मोंके विनाशमें भी सहायक है—वह उन सब रुकावटोंको दूर करनेकी व्यवस्था करता है जो किसीके विकासमें बाधा डालती हैं। यह

तीर्थको सर्वोदयका निमित्त कारण बतलाया गया है। तब उसका उपादान कारण कौन है ? उपादान कारण वे सम्यग्दर्शनादि आत्म-गुण ही हैं जो तीर्थका निमित्त पाकर मिथ्यादर्शनादिके दूर होने पर स्वयं विकासको प्राप्त होते हैं। इस दृष्टिसे 'सर्वोदयतीर्थ' पदका एक दूसरा अर्थ भी किया जाता है और वह यह कि 'समस्त अभ्युदय-कारणोका—सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्ररूप त्रिरन-धर्मो-का—जो हेतु है—उनकी उत्पत्ति अभिवृद्धि आदिमें (सहायक) निमित्त-कारण है—वह 'सर्वोदयतीर्थ' है'। इस दृष्टिसे ही, कारणमें कार्य-का उपचार करके इस तीर्थको धर्मतीर्थ कहा जाता है और इसी दृष्टिसे वीरजिनेन्द्रको धर्मतीर्थका कर्ता (प्रवर्तक) लिखा है, जैसा कि १६वीं शताब्दीकी बनी हुई 'जयववला' नामकी सिद्धान्तटीकामें उद्धृत निम्न प्राचीन गाथासे प्रकट है—

णिस्समयकरो वीरो महावीरा । जगुत्तमो ।

राग-दोम-भयादीदो धम्मतित्थस्म कारओ ॥

इस गाथामें वीर-जिनको जो 'नि सशयकर'—ससारी प्राणयोके सन्देहोको दूरकर उन्हें सन्देहरहित करनेवाला—'महावीर'—ज्ञान-वचनादिकी सातिशय-शक्तिसे सम्पन्न—'जिनोत्तम—जितेन्द्रियो तथा कर्मजेताओमें श्रेष्ठ और 'रागद्वेष-भयसे-रहित' बतलाया है वह उनके धर्मतीर्थ-प्रवर्तक होनेके उपयुक्त ही है। बिना ऐसे गुणोकी सम्पत्तिसे युक्त हुए कोई सच्चे धर्मतीर्थका प्रवर्तक हो ही नहीं सकता। यही वजह है कि जो ज्ञानादिशक्तियोंसे हीन होकर राग-द्वेषादिसे अभिभूत एवं आकुलित रहे हैं उनके द्वारा सवथा एकान्त-ज्ञासनों—मिथ्यादर्शनोंका ही प्रणयन हुआ है, जो जगतमें अनेक भूल-भ्रान्तियों एवं दृष्टिबिकारोंको जन्म देकर दुःखोंके जालको विस्तृत

१. 'सर्वेषामभ्युदयकारणानां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्यभेदानां हेतु-त्वादभ्युदयहेतुत्वोपपत्तेः।' —विद्यानन्द

करनेमें ही प्रधान कारण बने है । सर्वथा एकान्तशासन किस प्रकार दोषोंसे परिपूर्ण हैं और वे कैसे दुःखोंके विस्तारमें कारण बने हैं इस विषयकी चर्चाका यहाँ अवसर नहीं है । इसके लिये स्वामी समन्तभद्रके देवागम, युक्त्यनुशासन और स्वयम्भूस्तोत्र जैसे ग्रन्थों तथा अष्ट-सहस्री जैसी टीकाओंको और सिद्धसेन अकलकदेव, विद्यानन्द आदि महान् आचार्योंके तर्कप्रधान ग्रन्थोंको देखना चाहिये ।

यहाँ पर मैं सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि जो तीर्थ—शासन—सर्वान्तवान् नहीं—सर्वधर्मोंको लिये हुए और उनका समन्वय अपनेमें किये हुए नहीं है—वह सबका उद्देश्यकारक अथवा पूर्ण-उदयविधायक हो ही नहीं सकता और न सबके सब दुःखोंका अन्त करनेवाला ही बन सकता है, क्योंकि वस्तुतत्त्व अनेकान्तात्मक है—अनेकानेकगुणों-धर्मोंको लिये हुए है । जो लोग उसके किसी एक ही गुण-धर्म पर दृष्टि डालकर उसे उसी एक रूपमें देखते और प्रतिपादन करते हैं उनकी दृष्टियाँ उन जम्भान्व पुरुषोंकी दृष्टियोंके समान एकांगी हैं जो हाथीके एक-एक अंगको पकड़कर—देखकर उसी एक-एक अंगके रूपमें हाथीका प्रतिपादन करते थे, और इस तरह परस्परमें लड़ते, झगड़ते, कलहका बीज बोते और एक दूसरेके दुःखका कारण बने हुए थे । उन्हें हाथीके सब अंगों पर दृष्टि रखने-वाले सुनेत्र पुरुषने उनकी भूल सुझाई थी और यह कहते हुए उनका विरोध मिटाया था । कि 'तुमने हाथीके एक-एक अंगको ले रक्खा है, तुम सब मिल जाओ तो हाथी बन जाय—तुम्हारे अलग-अलग कथनके अनुरूप हाथी कोई चीज नहीं है । और इसलिये जो वस्तुके सब अंगों पर दृष्टि डालता है—उसे सब ओरसे देखता और उसके सब गुण-धर्मोंको पहचानता है—वह वस्तुको पूर्ण तथा यथार्थ रूपमें देखता है, उसकी दृष्टि अनेकान्तदृष्टि है और यह अनेकान्तदृष्टि ही सती अथवा सम्यग्दृष्टि कहलाती है और यही संसारमें बैर-विरोध-

को मिटाकर सुख-शान्तिकी स्थापना करनेमें समर्थ है। इसीसे श्री-अमृतचन्द्राचार्यने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें अनेकान्तको विरोधका मथन करनेवाला कहकर उसे नमस्कार किया है^१। और श्रीसिद्धसेनाचार्य-ने 'सम्मइसुत्त'में यह बतलाते हुए कि अनेकान्तके बिना लोकका कोई भी व्यवहार सर्वथा बन नहीं सकता, उसे लोकका अद्वितीय गुरु कहकर नमस्कार किया है^२।

सिद्धसेनका यह कहना कि 'अनेकान्त' के बिना लोकका व्यवहार सर्वथा बन नहीं सकता सोलहो अने सत्य है। सर्वथा एकान्तवा-दियों के सामने भी लोक-व्यवहारके बन न सकनेकी यह समस्या रही है और उसे हल करने तथा लोक-व्यवहारको बनाये रखनेके लिये उन्हें माया, अविद्या, स्रष्टृति जैसी कुछ दूसरी कल्पनाये करनी पड़ी हैं अथवा यो कहिये कि अपने सर्वथा एकान्तसिद्धान्तके छप्परको सम्भालनेके लिये उसके नीचे तरह-तरहकी टेवकियाँ (थूनीयाँ) लगानी पड़ी हैं, परन्तु फिर भी वे उसे सम्भाल नहीं सके और न अपने सबथा-एकान्त सिद्धान्तको किसी दूसरी तरह प्रतिष्ठित करने-में ही समर्थ हो सके हैं। उदाहरणके लिये अद्वैत एकान्तवादको लीजिये, ब्रह्माद्वैतवादी एक ब्रह्मके सिवाय दूसरे किसी भी पदार्थका अस्तित्व नहीं मानते—सर्वथा अभेदवादका ही प्रतिपादन करते हैं—उनके सामने जब साक्षात् दिखाई देनेवाले पदार्थ-भेदो, कारक क्रिया-भेदो तथा विभिन्न लोक-व्यवहारोकी बात आई तो उन्होंने कह दिया कि ये सब मायाजन्य हैं अर्थात् मायाकी कल्पना करके प्रत्यक्षमें दिखाई पड़नेवाले सब भेदो तथा लोक-व्यवहारोका भार

१ परमागमस्य बीज निषिद्ध-जान्यन्ध-सिन्धुर-विधानम् ।

सकल-नय-वलसिताना विरोधमथन नमाम्यनेकान्तम् ॥

२ जेण विणा लोगस्स वि व्यवहारो मव्वहा एण एव्वड्ड ।

तस्स भुवणोक्कगुरुणो णामो अणोगतवायस्स ॥६१॥

उसके ऊपर रख दिया । परन्तु यह माया क्या बला है और वह सत्-रूप है या असत्-रूप, इसको स्पष्ट करके नहीं बतलाया गया । माया यदि असत् है तो वह कोई वस्तु न होनेसे किसी भी कार्यके करनेमें समर्थ नहीं हो सकती । और यदि सत् है तो वह ब्रह्मसे भिन्न है या अभिन्न है ? यह प्रश्न खड़ा होता है । अभिन्न होनेकी हालतमें ब्रह्म भी मायारूप मिथ्या ठहरता है और भिन्न होने पर माया और ब्रह्म दो जुदी वस्तुएँ होनेसे द्वैतापत्ति होकर सर्वथा अद्वैतवादका सिद्धान्त बाधित हो जाता है । यदि हेतुसे अद्वैतको सिद्ध किया जाता है तो हेतु और साध्यके दा होनेसे भी द्वैतापत्ति होती है और हेतुके बिना वचनमात्रसे सिद्धि मानने पर उस वचनसे भी द्वैतापत्ति हो जाती है । इसके सिवाय, द्वैतके बिना अद्वैत कहना बनता ही नहीं, जैसे कि हेतुके बिना अहेतुका और हिंसाके बिना अहिंसाका प्रयोग नहीं बनता । अद्वैतमें द्वैतका निषेध है, यदि द्वैत नामकी कोई वस्तु नहीं तो उसका निषेध भी नहीं बनता, द्वैतका निषेध होनेसे उसका अस्तित्व स्वतः सिद्ध हो जाता है । इस तरह सर्वथा अद्वैतवादकी मान्यताका विधान सिद्धान्त-बाधित ठहरता है, वह अपने स्वरूपको प्रतिष्ठित करनेमें स्वयं असमर्थ है और उसके आधार पर कोई लोकव्यवहार सुघटित नहीं हो सकता । दूसरे सत्-असत् तथा नि य-क्षणाकादि सवथा एकान्त-वादकी भी ऐसी ही स्थिति है, वे भी अपने स्वरूपको प्रतिष्ठित करनेमें असमर्थ हैं और उनके द्वारा भी अपने स्वरूपको बाधा पहुँचाये बिना लोक-व्यवहारकी कोई व्यवस्था नहीं बन सकती ।

श्रीसिद्धसेनाचायने अपने सन्मत्तिसूत्रमें कपिलके साख्यदर्शनको द्रव्यार्थिकनयका वक्तव्य, शुद्धोधनपुत्र बुद्धके बौद्धदर्शनको परिशुद्ध पर्यायार्थिक नयका विकल्प और उलूक (कणाद) के वैशेषिकदर्शनको उक्त दोनों नयोंका वक्तव्य होने पर भी पारस्परिक निरपेक्षताके कारण 'मिथ्यात्व' बतलाया है और उसके अनन्तर लिखा है:—

जे सतवाय-दोसे सक्कोलूया भणति सखाए ।

मखा य असव्वाए तेसि सव्वे वि त सच्चा ॥५०॥

ते उ भयणोवणीया सम्मद्दसणमणुत्तर हांति ।

ज भवदुक्खविप्रोक्ख दो वि ण पूरेंत पाहिक्ख ॥५१॥

‘सांख्योके सद्वादपक्षमे बौद्ध और वैशेषिक जन जो दोष देते हैं तथा बौद्धो और वैशेषिकोंके असद्वादपक्षमे सांख्यजन जो दोष देते हैं वे सब सत्य हैं—सर्वथा एकान्तवादमे वैसे दोष आते ही हैं । ये दोनो सद्वाद और असद्वाद दृष्टियाँ यदि एक दूसरेकी अपेक्षा रखते हुए संयोजित हो जाँय समन्वयपूर्वक अनेकान्तदृष्टिमे परिणत हो जाँय तो सर्वोत्तम सम्यग्दर्शन बनता है, क्योंकि ये सत्-असत् रूप दोनो दृष्टियाँ अलग-अलग ससारके दु खोसे छुटकारा दिलानेमे समर्थ नहीं हैं—दोनोके सापेक्ष संयोगसे ही एक-दूसरेकी कमी दूर होकर ससारके दु खोसे मुक्ति एवं शान्ति मिल सकती है ।’

इस सब कथन परसे मिथ्यादर्शनो और सम्यग्दर्शनोका तत्त्व सहज ही समझमे आ जाता है और यह मालूम हो जाता है कि कैसे सभी मिथ्यादर्शन मिलकर सम्यग्दर्शनके रूपमे परिणत हो जाते हैं । मिथ्यादर्शन अथवा जैनैतरदर्शन जब तक अपने अपने वक्तव्यके प्रतिपादनमे एकान्तताको अपनाकर पर-विरोधका लक्ष्य रखते हैं तब तक सम्यग्दर्शनमे परिणत नहीं होते और जब पर-विरोधका लक्ष्य छोड़कर पारस्परिक अपेक्षाको लिये हुए समन्वयकी दृष्टिको अपनाते हैं तभी सम्यग्दर्शनमे परिणत हो जाते हैं, और ‘जैनदर्शन’ कहलानेके योग्य होते हैं । जैनदर्शन अपने अनेकान्तात्मक स्याद्वाद न्यायके द्वारा समन्वयकी दृष्टिको लिये हुए है—समन्वय ही उसका नियामक तत्त्व है न कि विरोध, और इसलिये सभी मिथ्यादर्शन अपने-अपने विरोध को भुलाकर उसमे समा जाते हैं । इसीसे सन्मत्तिसूत्रकी अंतिम गाथा-मे जिनवचन-रूप जिनशासन अथवा जैनदर्शनकी मंगलकामना करते हुए उसे ‘मिथ्यादर्शनोका समूहमय’ बतलाया है, जो इस प्रकार है—

भद्र मिच्छादसणममूहमइयस्स अमयसारस्स ।

जिणवणस्स भगवओ सर्वांग-सुहाहिगम्मस्स ॥ ५०॥

इसमें जिनवचनरूप जैनदर्शन (जिनशासन) के तीन खास विशेषणोंका उल्लेख किया गया है—पहला विशेषण 'मिथ्यादर्शन-समूहमय', दूसरा 'अमृतसार' और तीसरा 'सर्विग्नसुखादिगम्य' है। मिथ्यादर्शनोका समूह होते हुए भी वह मिथ्यास्वरूप नहीं है, यही उसकी सर्वोपरि विशेषता है और यह विशेषता उसके सापेक्षनय-वादमें सन्निहित है—सापेक्षनय मिथ्या नहीं होते, निरपेक्षनय ही मिथ्या होते हैं, जैसा कि स्वामी समन्तभद्र-प्रणीत देवागमके निम्न वाक्यमें प्रकट है —

मिथ्या-समूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्तताऽस्ति न ।

निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥

महावीरजिनके सर्वधर्मसमन्वयकारक उदार शासनमें सत्-असत् तथा नित्य-क्षणिकादिरूप वे सब नय-धर्म जो निरपेक्षरूपमें अलग-अलग रहकर अतत्त्वका रूप धारण किये हुए स्व-पर-घातक होते हैं वे ही सब सापेक्ष (अविरोध) रूपमें मिलकर तत्त्वका रूप धारण किये हुए स्व-पर-उपकारी बने हुए हैं^१। तथा आश्रय पाकर बन जाते हैं और इसलिये स्वामी समन्तभद्रने युक्त्यनुशासन-की उक्त (६१ वी) कारिकामें वीरक्षासनको जो सर्वधर्मवान्, सर्वदुःख प्रणाशक और सर्वोदयतीर्थ बतलाया है वह बिल्कुल ठीक तथा उस-की प्रकृतिके सर्वथा अनुकूल है। महावीरका शासन अनेकान्तके प्रभावसे सकल दुर्नयो (परस्पर निरपेक्षनयो) अथवा मिथ्यादर्शनोका अन्त (निरमन) करनेवाला है और ये दुर्नय अथवा सर्वथा एकान्त

१ "य एव नित्य-क्षणिकादयो नया मिथोऽनपेक्षा स्व-पर-प्रणाशिन । त एव तत्त्व विमलस्य ते मुने परस्परेक्षा स्व-परोप-कारिण ॥"

— स्वयम्भूस्तोत्र

बादरूप मिथ्यादर्शन ही ससारमे अनेक शारीरिक तथा मानसिक दुःखरूप आपदाओंके कारण होते हैं। अतः जो लोग भगवान्-महावीरके शासनका—उनके धर्मतीर्थका—सचमुच आश्रय लेते हैं—उसे ठीक तौर पर अथवा पूर्णतया अपनाते हैं—उनके मिथ्या-दर्शनादि दूर होकर समस्त दुःख यथामाध्य मिट जाते हैं। और वे इस धर्मके प्रसादसे अपना पूर्ण अभ्युदय—उत्कर्ष एवं विकास - तक सिद्ध करनेमें समर्थ हो जाते हैं।

महावीरकी ओरसे इस धर्मतीर्थका द्वार सबके लिये खुला हुआ है, जिसकी सूचक अग्रणीत कथाएँ जैनशास्त्रोंमें पाई जाती हैं और जिनसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि पतितसे-पतित प्राणियोंने भी इस धर्मका आश्रय लेकर अपना उद्धार और कल्याण किया है, उन सब कथाओंको छोड़ कर यहाँ पर जैनग्रन्थोंके सिर्फ कुछ विधि-वाक्योंको ही प्रकट किया जाता है जिससे उन लोगोंका समाधान हो जो इस तीर्थको केवल अपना ही साम्प्रदायिक तीर्थ और एकमात्र अपने ही लिये अवतरित हुआ समझ बैठे हैं तथा दूसरोंके लिये इस तीर्थसे लाभ उठानेमें अनेक प्रकारसे बाधक बने हुए हैं। वे वाक्य इस प्रकार हैं—

(१) मनोवाक्कायधर्माय मता सर्वेऽपि जन्तव ।—यशस्विनलक

(२) उच्चाऽवच-जनप्राय समयोऽयं जिनेशिनम् ।

नैकस्मिन्पुरुषे तिष्ठेदेकस्तम्भ इवालय ॥” —यशस्विनलक

(३) आचाराऽनवद्यत्वं शुचिरुपस्कार शरीरशुद्धिश्च करोति
शूद्रानपि देव-द्विजाति-तपस्वि-परिक्रमेण योग्यान् ।

—नीतिवाक्यामृत

(४) शूद्रोऽप्युपस्कराऽऽचार-वपु शुद्धयाऽतु तादृशः ।

जात्या हीनोपि कालादिलब्धौ ह्यात्माऽस्ति धर्मभाक् ॥

—सागारधर्मावृत

(५) एह धम्मं जो आसरइ बभणु सुदुदु वि कोइ ।

सो सावड किं सावयह अणु कि मिनि मणि होइ ॥६॥

—सावयधम्मदोहा

इन सब वाक्योंका आशय क्रमसे इस प्रकार है —

(१) 'मन, वचन तथा कायसे किये जानेवाले धर्मका अनुष्ठान करनेके लिये सभी जीव अधिकारी हैं।' (यशस्तिलक)

(२) 'जिनेन्द्रका यह धर्म प्राय ऊँच और नीच दोनों ही प्रकारके मनुष्योंके आश्रित है। एक स्तम्भके आधार पर जैसे मन्दिर-मकान नहीं ठहरता उसी प्रकार ऊँच-नीचमेसे किसी एक ही प्रकारके मनुष्य-समूहके आधार पर धर्म ठहरा हुआ नहीं है—वास्तवमे धर्म धार्मिकोंके आश्रित होता है, भले ही उनमे ज्ञान, धन मान-प्रतिष्ठा कुल-जाति, आज्ञा-ऐश्वर्य शरीर, बल, उत्पत्तिस्थान और आचार-विचारादकी दृष्टिसे कोई ऊँचा और कोई नीचा हो।' (यशस्तिलक)

(३) मद्य मासादिके त्यागरूप आचारकी निर्दोषता, गृहपात्रादिकी पवित्रता और नि-यस्नानादिके द्वारा शरीरकी शुद्धि, ये तीनों प्रवृत्तियाँ (विधियाँ) शूद्रोंको भी देव, द्विजाति और तपस्वियों (मुनियों) के परिकर्मोंके योग्य बनाती हैं।' (नीतिवाक्यामृत)

(४) 'आसन और बर्तन आदि उपकरण जिसके शुद्ध हों, मद्यमासादिके त्यागसे जिसका आचरण पवित्र हो और नित्य-स्नानादिके द्वारा जिसका शरीर शुद्ध रहता हो, ऐसा शूद्र भी ब्राह्मणादिक वर्णोंके समान धर्मका पालन करनेके योग्य है, क्योंकि जातिसे हीन आत्मा भी कालादिक लब्धिको पाकर धर्मका अधिकारी होता है।' (सागारधर्मावृत)

(५) 'इस (श्रावक) धर्मका जो कोई भी आचरण-पालन करता है, चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र, वह श्रावक है। श्रावकके सिर पर और क्या कोई मणि होता है? जिससे उसकी पहचान की जा सके।' (सावयधम्मदोहा)

नीच-से-नीच कहा जानेवाला मनुष्य भी जो इस धर्मप्रवर्तककी

शरणमे आकर नतमस्तक हो जाता है—प्रसन्नतापूर्वक उसके द्वारा प्रवर्तित धर्मको धारण करता है—वह इसी लोकमे अति उच्च बन जाता है । इस धर्मकी दृष्टिमें कोई जाति गणित नहीं—तिरस्कार किये जानेके योग्य नहीं—सर्वत्र गुणोंकी पूज्यता है, वे ही कल्याणकारी है, और इसीसे इस धर्ममे एक चाण्डालको भी व्रतसे युक्त होने पर 'ब्राह्मण' तथा सम्यग्दर्शनसे युक्त होने पर 'देव' (आराध्य) माना गया है और चाण्डालको किसी साधारण धर्म क्रियाका ही नहीं किन्तु 'उत्तमधर्म' का अधिकारी सूचित किया है, जैसा कि निम्न आर्ष वाक्योसे प्रकट है —

यो लोके त्वा नत सोऽतिहीनोऽप्यतिगुम्यन ।

बालोऽपि त्वा श्रित नौति को नो नीतिपुर कृत ॥ स्तुतिविद्या ८३ ॥

न जातिर्गर्हिता काचिद् गुणा कल्याणकारणम् ।

व्रतस्थमपि चाण्डाल त देवा ब्राह्मण विदु ॥ पद्मचरित ११-२०३ ॥

सम्यग्दर्शन-सम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम् ।

देवा देव विदुर्भस्म-गृढाङ्गारान्तर्गौजसम् ॥ रत्नकरण्ड २८ ॥

चाण्डालो वि सर्गिदो उत्तमधर्ममेण सभवदि । (कार्तिकेयानुप्रेक्षा)

वीरका यह धर्मतीथ इन ब्राह्मणादि जाति-भेदोंको तथा दूसरे चाण्डालादि विशेषोंको वास्तविक नहीं मानता किन्तु वृत्ति अथवा आचार-भेदके आधार पर कल्पित एवं परिवर्तनशील जानता है । साथ ही यह स्वीकार करता है कि अपने योग्य गुणोंकी उत्पत्ति पर जाति उत्पन्न होती है, उनके नाश पर नष्ट हो जाती है और वर्णाव्यवस्था गुणकर्मोंके आधार पर है न कि जन्मके । यथा —

चातुर्वर्ण्यं यथाऽन्यच्च चाण्डालादिविशेषणम् ।

सर्वमाचारभेदेन प्रमिद्धिं भुवने गतम् ॥ पद्मचरित ११-२०५ ॥

आचारमात्रभेदेन जातीना भेदकल्पनम् ।

न जातिर्ब्राह्मणीयाऽस्ति नियता वाऽपि ताविकी ॥६७-२४॥

गुणै सम्पद्यते जातिर्गुणध्वसै विपद्यते ॥ धर्मपरीक्षा १७-३२ ॥

तस्माद्गुणैर्वर्ण-व्यवस्थिति ॥ पद्मचरित ११-१६८ ॥

क्रियाविशेषादिनिबन्धन एव ब्राह्मणादिव्यवहारः॥(प्रमेयकमलमातंण्ड)

इस धर्ममे यह भी बतलाया गया है कि इन ब्राह्मणादि जातियों-का आकृति आदिके भेदको लिये हुए कोई शाश्वत लक्षण भी गो-अश्वादि जातियोंकी तरह मनुष्य-शरीरमे नहीं पाया जाता, प्रत्युत इसके शूद्रादिके योगसे ब्राह्मणी आदिमे गर्भाधानकी प्रवृत्ति देखी जाती है, जो वास्तविक जाति-भेदके विरुद्ध है। इसी तरह जारजका भी कोई चिन्ह शरीरमे नहीं होता, जिससे उसकी कोई जुदी जालि कल्पित की जाय, और न केवल व्यभिचारजात होनेकी वजहसे ही कोई मनुष्य नीच कहा जा सकता है—नीचताका कारण इस तीर्थ-धर्ममें 'अनार्य आचरण' अथवा 'म्लेच्छाचार' माना गया है। इस दोनो बातोंके निर्देशक दो वाक्य इस प्रकार हैं —

वर्णकृत्यादिभेदाना देहेऽस्मिन्न च दर्शनात् ।

ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैर्गर्भाधानप्रवर्तनात् ॥

नास्ति जाति-कृतो भेदो मनुष्याणा गवाऽश्ववत् ।

आकृतिप्रहणान्तस्मादन्यथा परिकल्पते॥ (महापुराण)

चिह्नानि विटजातस्य सन्ति नाऽङ्गुलिषु कानिचित् ।

अनार्यमाचरन् किञ्चिज्जायते नीचगोचर ॥

—पद्मचरिते, रविपेणाचार्यं.

वस्तुतः सब मनुष्योंकी एक ही मनुष्यजाति इस धर्मको अभीष्ट है, जो 'मनुष्यजाति' नामक नामकर्मके उदयसे होती है, और इसी दृष्टिसे सब मनुष्य समान हैं—आपसमे भाई-भाई हैं—और उन्हें इस धर्मके द्वारा अपने विकासका पूरा अधिकार प्राप्त है। जैसा कि नेम्न वाक्योंसे प्रकट है —

मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा ।

वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहारनुते ॥३८-४५॥

—आदिपुराणो, जिनसेनाचार्यं

विप्र-क्षत्रिय-विट्-शूद्राः प्रोक्ता क्रियाविशेषतः ।

जैनधर्मे परा शक्तास्ते सर्वे बान्धवोपमा ॥ —धर्मरसिक

इसके सिवाय, किसीके कुलमें कभी कोई दोष लग गया हो तो उसकी शुद्धि की, और म्लेच्छों तककी कुलशुद्धि करके उन्हें अपनेमें मिलाने तथा मुनिदीक्षा आदिके द्वारा ऊपर उठानेकी स्पष्ट आज्ञाएँ भी इस धर्मशासनमें पाई जाती हैं* । और इसलिये यह शासन

* जैसा कि निम्न वाक्योंमें प्रकट है —

१ कुतश्चित्कारणाच्चस्य कुल सम्प्राप्त-दूषणम् ।

सोऽपि राजादिसम्मत्या शोधयेत्स्व यदा कुलम् ॥ ४०-१६८॥

तदास्योपनयाहर्त्त्व पुत्र-पौत्रादि-सन्ततो ।

न निषिद्ध हि दीक्षाहं कुले चेदस्य पूर्वजा ॥ ४०-१६९॥

२. स्वदेशेऽनक्षरं म्लेच्छान्प्रजा-बाधा-विधायिन ।

कुलशुद्धि-प्रदानाच्च स्वसात्कुर्यादुपक्रमे ॥ ४२-१७६॥

—आदिपुराणे, 'जिनसेनाचार्य'

३ "म्लेच्छभूमिजमनुष्याणां सकलसयमग्रहणं कथं भवतीति नाऽऽशङ्कितव्यम् । दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखड्मागतानां म्लेच्छराजानां चक्रवर्त्यादिभिः सह जातवैवाहिकसम्बन्धानां सयम-प्रतिपत्तेरविरोधात् । अथवा तं कन्यकानां चक्रवर्त्यादिपरिणीतानां गर्भेषूपन्यस्तस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छ-व्यपदेशभाजं मयमसमवात् तथाजातीयकानां दीक्षाहर्त्वे प्रतिषेधाभावात् ॥"

—लब्धिसारटीका (गाथा १६३ बी.)

नोट—यहाँ म्लेच्छोंकी दीक्षा-योग्यता, सकलसयमग्रहणकी पात्रता और उनका साथ वैवाहिक सम्बन्ध आदिका जो विधान किया है वह सब कसायपाहुड़की 'जयधवला' टीकामें भी, जो लब्धिसारटीकासे कईमौ वर्ष पहलेकी (१६वीं शताब्दीकी) रचना है, इसी क्रमसे प्राकृत और मस्कृत भाषामें दिया है । जैसा कि उसके निम्न शब्दोंमें प्रकट है —

सचमुच ही 'सर्वोदयतीर्थ' के पदको प्राप्त है—इस पदके योग्य इसमें सारी ही योग्यताएँ मौजूद हैं—हर कोई भव्य जीव इसका सम्यक् आश्रय लेकर ससारसमुद्रसे पार उतर सकता है ।

परन्तु यह समाजका और देशका दुर्भाग्य है जो आज हमने—जिनके हाथो दैवयोगमे यह तीर्थ पडा है—इस महान् तीर्थकी महिमा तथा उपयोगिताको भुला दिया है, इसे अपना घरेलू, क्षुद्र या असर्वोदयतीर्थका-सा रूप देकर इसके चारो तरफ ऊँची-ऊँची दीवारें खड़ी कर दी हैं और इसके फाटकमे ताला डाल दिया है । हम लोग न तो खुद ही इससे ठीक लाभ उठाते हैं और न दूसरोको लाभ उठाने देते हैं—मात्र अपने थोड़ेसे विनोद अथवा क्रीडाके स्थल रूपमे ही हमने इसे रख छोडा है और उसीका यह परिणाम है कि जिस 'सर्वोदयतीर्थ' पर दिन-रात उपासकोकी भीड और यात्रियोका मेला-सा लगा रहना चाहिये था वहाँ आज मन्नाटासा छाया हुआ है, जैनी-योकी सख्या भी अगुलियोपर गिनने लायक रह गई है और जो जैनी कहे जाते हैं उनमे भी जैनत्वका प्राय कोई स्पष्ट लक्षण दिखलाई नहीं पडता—कही भी दया, दम, त्याग और समाधिकी त परता नजर नहीं आती—लोगोको महावीरके सन्देशकी ही खबर नहीं, और इसीसे ससारमे सर्वत्र दुःख ही दुःख फैला हुआ है ।

ऐसी हालतमे अब खास जरूरत है कि इस तीर्थका उद्धार किया

“जइ एव कुदो तत्थ सजमग्गहणसभवो त्ति णासकणिज्ज ।
 दिसाविजयपयट्टचक्कवट्टिखधावारेण सह मज्झिमखड्गमागयाण
 मिलेच्छरायाण तत्थ चक्कवट्टिआदीहि सह जादवेवाहियसबधारा-
 सजमपडिबत्तीए विरोहाभावादो । अथवा तत्तत्कन्यकाना चक्रवर्त्या-
 दिपरिणीताना गर्भेषूत्पन्ना मातृपक्षापेक्षया स्वयमकर्मभूमिजा इतीह
 विवक्षिता. ततो न किंचिद्विप्रतिषिद्ध । तथाजातीयकाना दीक्षार्हत्वे
 प्रतिषेधाभावादिति ।”

जाय, इसकी सब रुकावटोको दूर किया जाय, इस पर खुले प्रकाश तथा खुली हवाकी व्यवस्था की जाय, इसका फाटक सबोके लिये हर वक्त खुला रहे, सभीके लिये इस तीर्थ तक पहुँचनेका मार्ग सुगम किया जाय, इसके तटो तथा घाटोकी मरम्मत कराई जाय बन्द रहने तथा अर्से तक यथेष्ट व्यवहारमे न आनेके कारण तीर्थजल पर जो कुछ काई जम गई है अथवा उसमे कही-कही शैवाल उ पन्न हो गया है उसे निकालकर दूर किया जाय और सर्वसाधारणको इस तीर्थके माहात्म्यका पूरा-पूरा परिचय कराया जाय । ऐसा होने पर अथवा इस रूपमे इस तीर्थका उद्धार किया जाने पर आप देखेंगे कि देश देशान्तरके कितने वेशुमार यात्रियोकी इस पर भीड रहती है, कितने विद्वान् इस पर मुग्ध होते है, कितने असख्य प्राणी इसका आश्रय पाकर और इसमें अवगाहन करके अपने दु ख-सतापोसे छुट-कारा पाते हैं और ससारमें कैसी सुख-शान्तिकी लहर व्याप्त होती है । स्वामी समन्तभद्रने अपने समयमे, जिसे आज १८०० वर्षके लग-भग हो गये है ऐसा ही किया है, और इसीसे कनडी भाषाके एक प्राचीन शिलालेख^१ मे यह उल्लेख मिलता है कि 'स्वामी समन्तभद्र भगवान् महावीरके तीर्थकी हजारगुनी वृद्धि करते हुए उदयको प्राप्त हुए'—अर्थात्, उन्होने उसके प्रभावको सारे देश-देशान्तरोमे व्याप्त कर दिया था । आज भी वैसा ही होना चाहिये । यही भगवान् महा-वीरकी सच्ची उपासना, सच्ची भक्ति और उनकी सच्ची जयन्ती मनाना होगा ।

१ यह शिलालेख बेलूर ताल्लुकका शिलालेख नम्बर १७ है, जामानुजाचार्य-मन्दिरके अहातेके अन्दर सौम्यनायको-मन्दिरकी छत पर एक पत्थर पर उत्कीर्ण है और शक सम्बत् १०५६ का लिखा हुआ है । देखो, एपिग्रैफिका कर्णाटिकाकी जिल्द पाँचवी, 'स्वामी समन्तभद्र' पृष्ठ ४६ अथवा समीचीन-धर्मशास्त्रकी प्रस्तावना पृष्ठ ११३ ।

महावीरके इस अनेकान्त-शासन-रूप तीर्थमे यह खूबी खुद मौजूद है कि इससे मरपेट अथवा यथेष्ट द्वेष रखनेवाला मनुष्य भी यदि समदृष्टि (मध्यस्थवृत्ति) हुआ उपपत्ति-चक्षुसे (मात्सर्यके त्यागपूर्वक युक्तिसंगत समाधानकी दृष्टिसे) इसका अवलोकन और परीक्षण करता है तो अवश्य ही उसका मान-शृङ्ग खरिडत हो जाता है—सर्वथा एकान्तरूप मिथ्यामतका आग्रह छूट जाता है—और वह अभद्र या मिथ्यादृष्टि होता हुआ भी सब ओरसे भद्र-रूप एव सम्यग्दृष्टि बन जाता है। अथवा यो कहिये कि भगवान् महावीरके शासनतीर्थका उपासक और अनुयायी हो जाता है। इसी बातको स्वामी समन्तभद्रने अपने निम्न वाक्य-द्वारा व्यक्त किया है—

काम द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षु समीक्षता ते समदृष्टिरिष्टम् ।

त्वयि ध्रुवं स्खिद्यतमानशृङ्गो भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्र ॥

—युक्तयनुशासन

अतः इस तीर्थके प्रचार-विषयमे ज़रा भी सकोचकी ज़रूरत नहीं है, पूर्ण उदारताके साथ इसका उपयुक्त रीतिसे योग्य-प्रचार-कोंके द्वारा खुला प्रचार होना चाहिये और सबको इस तीर्थकी परीक्षाका तथा इसके गुणोंको मालूम करके इससे यथेष्ट लाभ उठाने का पूरा अवसर दिया जाना चाहिये। योग्य प्रचारकोका यह काम है कि वे जैसे-तैसे जनतामें मध्यस्थभावको जाग्रत करे, ईर्ष्या-द्वेषादिरूप मत्सर-भावको हटाएँ, हृदयोंको युक्तियोंसे सरकारित कर उदार बनाएँ, उनमें सत्यकी जिज्ञासा उत्पन्न करे और उस सत्यकी दर्शन प्राप्तिके लिये लोगोंकी समाधान-दृष्टिको खोजें।

सर्वोदयके मूलसूत्र

भगवान् महावीरके तीर्थ शासनमे सर्वोदयके जिन मूल-सूत्रोका प्रतिपादन हुआ है वे संक्षेपमें इस प्रकार है —

- १ सब जीव द्रव्य-दृष्टिसे परस्पर समान है ।
- २ सब जीवोका वास्तविक गुण-स्वभाव एक ही है ।
- ३ प्रत्येक जीव स्वभावसे ही अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त-मुख और अनन्तवीर्यादि अनन्त शक्तियोंका आधार अथवा पिंड है ।
- ४ अनादिकालसे जीवोके साथ कर्ममल लगा हुआ है, जिसकी मूल-प्रकृतियाँ आठ, उत्तर प्रकृतियाँ एक सौ अड़तालीस और उत्तरोत्तर प्रकृतियाँ असंख्य है ।

५ इस कर्ममलके कारण जीवोका असली स्वभाव आच्छादित है, उनकी वे शक्तियाँ अविकसित है और वे परतंत्र हुए नाना प्रकारकी पर्याये धारण करते हुए नज़र आते हैं ।

६ अनेक अवस्थाओंको लिये हुए ससारका जितना भी प्राणि-वर्ग है वह सब उसी कर्ममलका परिणाम है ।

७. कर्ममलके भेदसे ही यह सब जीव-जगत भेदरूप है ।

८ जीवकी इस कर्ममलसे मलनावस्थाको 'विभाव-परिणति' कहते हैं ।

९. जब तक किसी जीवकी यह विभावपरिणति बनी रहती है तब तक वह 'ससारी' कहलाता है । और तभी तक उसे ससारमे कर्मानुसार नाना प्रकारके रूप धारण करके परिभ्रमण करना तथा

दुःख उठाना होता है ।

१०. जब योग्य-साधनोके बल पर विभावपरिणति भिट जाती है, आत्मामें कमलका सम्बन्ध नहीं रहता और उसका निज-स्वभाव पूर्णतया विकसित हो जाता है तब वह जीवात्मा ससार-पारभ्रमणसे छूटकर मुक्तिको प्राप्त होता है और मुक्त, सिद्ध अथवा परमात्मा कहलाता है ।

११ आत्माकी पूर्णविकसित एव परम-विशुद्ध अवस्थाके अति-रिक्त परमात्मा या ईश्वर नामकी कोई जुदी वस्तु नहीं है ।

१२. परमात्माकी दो अवस्थाएँ हैं, एक जीवन्मुक्त और दूसरी विदेहमुक्त ।

१३ जीवन्मुक्तावस्थामे शरीरका सम्बन्ध शेष रहता है, जब कि विदेह-मुक्तावस्थामे किसी भी प्रकारके शरीरका सम्बन्ध अवाशष्ट नहीं रहता ।

१४ ससारी जीवोके त्रस और स्थावर ये मुख्य दो भेद हैं, जिनके उत्तरोत्तर भेद अनेकानेक हैं ।

१५ एकमात्र स्पर्शन इन्द्रियके धारक जीव 'स्थावर' और रस-नादि इन्द्रियो तथा मनके धारक जीव 'त्रस' कहलाते हैं ।

१६. जीवोके ससारी मुक्तादि ये सब भेद पर्यायदृष्टिसे हैं । इसी दृष्टिसे उन्हें अविकसित, अल्पविकसित, बहुविकसित और पूर्णविकसित ऐसे चार भागोमे भी बाटा जा सकता है ।

१७ जो जीव अधिकाधिक विकसित हैं वे स्वरूपसे ही उनके पूज्य एव आराध्य हैं जो अविकसित या अल्पविकसित हैं, क्योंकि आत्म-गुणोका विकास सबके लिये इष्ट है ।

१८ ससारी जीवोका हित इसीमें है कि वे अपनी राग-द्वेष-काम-क्रोधादिरूप विभावपरिणतिको छोड़कर स्वभावमे स्थिर-होने-रूप 'सिद्धि' को प्राप्त करनेका यत्न करे ।

१९. सिद्धि 'स्वात्मोपलब्धि' को कहते हैं । उसकी प्राप्तिके लिये

आत्मगुणोका परिचय, गुणोमे वर्द्धमान अनुराग और विकास-मार्गकी दृढ श्रद्धा चाहिये ।

२०. इसके लिये, अपना हित एवं विकास चाहनेवालोंको उन पूज्य महापुरुषो अथवा सिद्धात्माओकी शरणमे जाना चाहिये जिनमें आत्माके गुणोका अधिकाधिक रूपमे या पूर्णरूपसे विकास हुआ हो, यही उनके लिये कल्याणका सुगम-मार्ग है ।

२१. शरणमें जानेका आशय उपासना द्वारा उनके गुणोमें अनुराग बढ़ाना, उन्हें अपना मार्गप्रदर्शक मानकर उनके पद-चिन्होपर चलना और उनकी शिक्षाओ'पर अमल करना है ।

२२. सिद्धिको प्राप्त हुए शुद्धात्माओकी भक्ति-द्वारा आत्मोत्कर्ष साधनेका नाम ही 'भक्तियोग' है ।

२३. शुद्धात्माओके गुणोमे अनुरागको तदनुकूलवर्तनको तथा उनमे गुणानुराग पूर्वक आदर-स-काररूप-प्रवृत्तिको 'भक्ति' कहते हैं ।

२४. पुराणगुणोके स्मरणसे आत्मामे पवित्रताका संचार होता है ।

२५. सद्भाक्त्तसे प्रशस्त अध्यवसाय एवं कुशल-परिणामोकी उपलब्धि और गुणावरोधक सांचित-कर्मोकी निजरा होकर आत्माका विकास सघता है ।

२६. सच्ची उपासनासे उपासक उसी प्रकार उपास्यके समान हो जाता है जिस प्रकार कि तैलादिसे सुसाज्जत बत्ता पूर्ण-तन्मयताके साथ दीपकका आलिंगन करने पर तद्रूप हो जाती है ।

२७. जो भक्ति लौकिक लाभ, यश, पूजा-प्राप्त्यष्टा, भय तथा रुद्धि आदिके वशकी जाती है वह सद्भाक्त्त नहीं होती और न उससे आत्मोय-गुणोका विकास ही सिद्ध किया जा सकता है ।

२८. सर्वत्र लक्ष्य-शुद्ध एवं भावशुद्धि पर दृष्टि रखनेकी जरूरत है, जिसका सबध विवेकसे है ।

२९. बिना विवेकके कोई भी क्रिया यथार्थ फलको नहीं फलती और न बिना विवेककी भक्ति ही सद्भाक्त्त कहलाती है ।

३० जब तक किसी मनुष्यका अहंकार नहीं मरता तब तक उसके विकासकी भूमिका ही तैयार नहीं होती।

३१ अस्तियोगसे अहंकार मरता है, इसीसे विकास-मार्ग में उसे बहलाये स्थान प्राप्त है।

३२ बिना भावके पूजा-दान-जपादिक उसी प्रकार व्यर्थ हैं जिस प्रकार कि बकरीके गलेमें सटकते हुए स्तन।

३३ जीवात्माओंके विकासमें सबसे बड़ा बाधक कारण मोहकर्म है, जो अनन्तदोषोंका घर है।

३४ मोहके मुख्य दो भेद हैं—एक दर्शनमोह जिसे मिथ्यात्व भी कहते हैं, दूसरा चारित्र्यमोह, जो सदाचारमें प्रवृत्ति नहीं होने देता।

३५ दर्शनमोह जीवकी दृष्टिमें विकार उत्पन्न करता है, जिससे वस्तुतत्त्वका यथार्थ अवलोकन न होकर अयथा रूपमें होता है और इसीसे वह 'मिथ्यात्व' कहलाता है।

३६ दृष्टिविकार तथा उसके कारणको मिटानेके लिये आत्मा-में तत्त्व-रुचिको जागृत करनेकी जरूरत है।

३७ तत्त्वरुचिको उस समीचीन ज्ञानाभ्यासके द्वारा जागृत किया जाता है जो ससारी जीवात्माको तत्त्व-अतत्त्वकी पहचानके साथ अपने शुद्धस्वरूपका, पररूपका, परके सम्बन्धका, सम्बन्धसे होनेवाले विकार-दोषका अथवा विभावपरिणतिका विकारके विशिष्ट-कारणोंका और उन्हें दूर करके निर्विकार-निर्दोष बनने, बन्धन-रहित मुक्त होने तथा अपने निज स्वरूपमें सुस्थित होनेका परिज्ञान कराया जाता है, और इस तरह हृदयान्धकारको दूर कर आत्म-विकासके सम्मुख किया जाता है।

३८ ऐसे ज्ञानाभ्यासको ही 'ज्ञानयोग' कहते हैं।

३९ वस्तुका जो निज स्वभाव है वही उसका धर्म है।

४० प्रत्येक वस्तुमें अनेकानेक धर्म होते हैं, जो पारस्परिक अपेक्षाको लिये हुए अविरोध-रूपसे रहते हैं और इसीसे वस्तुका

वस्तुत्व बना रहता है ।

४१. वस्तुके किसी एक धर्मको निरपेक्षरूपसे लेकर उमी एक धर्मरूप जो वस्तुको समझना तथा प्रतिपादन करना है वह एकान्त अथवा एकान्तवाद है । इसीको निरपेक्ष-नयवाद भी कहते हैं ।

४२, अनेकान्तवाद इसके विपरीत है । वह वस्तुके किसी एक धर्मका प्रतिपादन करता हुआ भी दूसरे धर्मोंको छोड़ता नहीं, सदा सापेक्ष रहता है, इसीसे उसे 'स्याद्वाद' या 'सापेक्षनयवाद' भी कहते हैं ।

४३. जो निरपेक्षनयवाद है वे सब मिथ्यादर्शन है और जो सापेक्षनयवाद है वे सब सम्यग्दर्शन है ।

४४ निरपेक्षनय परके विरोधकी दृष्टिको अपनाये हुए स्व-पर-वैरी होते हैं, इसीसे जगतमे अशान्तिके कारण है ।

४५ सापेक्षनय परके विरोधको न अपनाकर समन्वयको दृष्टिको लिये हुए स्व-पर-उपकारी होते हैं, इसीमे जगतमे शान्ति-सुखके कारण है ।

४६ दृष्ट और इष्टका विरोधी न होनेके कारण स्याद्वाद निर्दोषवाद है, जब कि एकान्तवाद दोनोंके विरोधको लिये हुए होनेसे निर्दोषवाद नहीं है ।

४७ 'स्यात्' शब्द सवथाके नियमका त्यागी यथादृष्टको अपेक्षामे रखनेवाला, विरोधी धर्मका गौरवरूपमे द्योतनकर्ता और परस्पर-प्रतियोगी वस्तुके अग्ररूप धर्मोंकी संधिका विधाता है ।

४८ जो प्रतियोगीसे सर्वथा राहत है वह आत्महीन होता है और अपने स्वरूपका प्रतिष्ठापक नहीं हो सकता ।

४९ इस तरह सत्-असत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक, शुभ-अशुभ, लोक-परलोक, बन्ध-मोक्ष, द्रव्य-पर्याय, सामान्य-विशेष, विद्या-आविद्या, गुण-दोष अथवा विध-निषेधादिके रूपमे जो असंख्य-अनन्त जोड़े हैं उनमेसे किसी भी जोड़ेके एक साथीके बिना दूसरेका अस्तित्व नहीं बन सकता ।

५० एक धर्मीमे प्रतियोगी धर्म परस्पर अविनाभाव-सम्बन्धको लिये हुए रहते हैं, सर्वथा रूपसे किसी एककी कभी व्यवस्था नहीं बन सकती ।

५१ विधि-निषेधादिरूप सप्त भग सम्पूर्णतत्त्वार्थपर्यायोमे घटित होते हैं और 'स्यात्' शब्द उनका नेतृत्व करता है ।

५२ सारे ही नय-पक्ष सर्वथारूपमे अति दूषित हैं और स्यात्-रूपमें पुष्टिको प्राप्त हैं ।

५३ जो स्याद्वादी हैं वे ही सुवादी हैं, अन्य सब कुवादी हैं ।

५४ जो किमी अपेक्षा अथवा नयविवक्षाको लेकर वस्तुतत्त्वका कथन करते हैं वे 'स्याद्वादी' हैं, भले ही 'स्यात्' शब्दका प्रयोग साथमें न करते हो ।

५५ कुशलाऽकुशल-कर्मादिक तथा बन्ध-मोक्षादिककी सारी व्यवस्था स्याद्वादियो अथवा अनेकान्तियोके यहाँ ही बनती है ।

५६ सारा वस्तुतत्त्व अनेकान्तात्मक है ।

५७ जो अनेकान्तात्मक है वह अभेद-भेदात्मककी तरह तदतत्त्व-स्वभावको लिये होता है ।

५८ तदतत्त्वभावमे एक धर्म दूसरे धर्मसे स्वतन्त्र न होकर उसकी अपेक्षाको लिये रहता है और मुख्य-गौणकी विवक्षासे उसकी व्यवस्था उसी प्रकार होती है जिस प्रकार कि मथानीकी रस्सीके दोनो सिरोकी ।

५९ विवक्षित 'मुख्य' और अविवक्षित 'गौण' होता है ।

६० मुख्यके बिना गौण तथा गौणके बिना मुख्य नहीं बनता । जो गौण होता है वह अभावरूप निरात्मक नहीं होता ।

६१ वही तत्त्व प्रमाण-सिद्ध है जो तदतत्त्वभावको लिए हुए एकान्तदृष्टिका प्रतिषेधक है ।

६२ वस्तुके जो अश (धर्म) परस्पर निरपेक्ष हो वे पुरुषार्थके हेतु अथवा अर्थ-क्रिया करनेमे समर्थ नहीं होते ।

- ६३ जो द्रव्य है वह सत्स्वरूप है ।
 ६४ जो सत् है वह प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यसे युक्त है ।
 ६५ उत्पाद तथा व्यय पर्यायमे होते हैं और ध्रौव्य गुणमें रहता है, इसीसे द्रव्यको गुण-पर्यायवान् भी कहा गया है ।
 ६६ जो सत् है उसका कभी नाश नहीं होता ।
 ६७ जो सर्वथा असत् है उसका कभी उत्पाद नहीं होता ।
 ६८ द्रव्यसे तथा सामान्यरूपसे कोई उत्पन्न या विनष्ट नहीं होता; क्योंकि द्रव्य सब पर्यायोमे और सामान्य सब विशेषोमे रहता है ।
 ६९ विविध पर्यायें द्रव्यनिष्ठ एव विविध विशेष सामान्यनिष्ठ होते हैं ।
 ७० सर्वथा द्रव्यकी तथा सर्वथा पर्यायकी कोई व्यवस्था नहीं बनती और न सर्वथा पृथग्भूत द्रव्य-पर्यायकी युगपत् ही कोई व्यवस्था बनती है ।
 ७१ सर्वथा नित्यमे उत्पाद और विनाश नहीं बनते, विकार तथा क्रिया-कारककी योजना भी नहीं बन सकती ।
 ७२ विधि और निषेध दोनों कर्थाचित् इष्ट है, सर्वथा नहीं ।
 ७३ विधि-निषेधमे विवक्षासे मुख्य-गौणकी व्यवस्था होती है ।
 ७४ वस्तुके किसी एक धर्मको प्रधानता प्राप्त होने परशेष धर्म गौण हो जाते हैं ।
 ७५ वस्तु वास्तवमे विधि-निषेधादि-रूप दो-दो अवधियोंसे ही कार्यकारी होती है ।
 ७६ बाह्य और आभ्यन्तर अथवा उपादान और निमित्त दोनों कारणोंके मिलनेसे ही कार्यकी निष्पत्ति होती है ।
 ७७ जो सत्य है वह सब अनेकान्तात्मक है, अनेकान्तके बिना सत्यकी कोई स्थिति ही नहीं ।
 ७८ जो अनेकान्तको नहीं जानता वह सत्यको नहीं पहचानता, भले ही सत्यके किनने ही गीत गाया करे ।

- ७६ अनेकान्त परमागमका बीज अथवा जैनागमका प्रारम्भ है ।
८०. जो सर्वथा एकान्त है वह परमार्थ-शून्य है ।
८१. जो दृष्टि अनेकान्तात्मक है वह 'सम्यग्दृष्टि' है ।
- ८२ जो दृष्टि अनेकान्तसे रहित है वह 'मिथ्यादृष्टि' है ।
- ८३ जो कथन अनेकान्तदृष्टिसे रहित है वह 'मिथ्यावचन' है ।
८४. सिद्धि अनेकान्तसे होती है, न कि सर्वथा एकान्तसे ।
८५. सर्वथा एकान्त अपने स्वरूपकी प्रतिष्ठा करनेमें भी समर्थ नहीं होता ।
- ८६ जो सर्वथा एकान्तवादी है वे अपने वैरी आप हैं ।
- ८७ जो अनेकान्त-अनुयायी है वे वस्तुतः अर्हज्जन-मतानुयायी हैं, भले ही वे 'अर्हन्त' या 'जिन' को न जानते हों ।
- ८८ मन-वचन-काय-सबधी जिस क्रियाकी प्रवृत्ति या निवृत्तिसे आत्म-विकास मधता है उसके लिये तदनुरूप जो भी पुरुषार्थ किया जाता है उसे 'कर्मयोग' कहते हैं ।
- ८९ दया, दम त्याग और समाधिमें तत्पर रहना आत्मविकासका मूल एवं मुख्य कर्मयोग है ।
९०. समीचीन धर्म सदृष्टि, सदबोध और सच्चारित्ररूप है, वही रत्नत्रय-पोत और मोक्षका मार्ग है ।
- ९१ सदृष्टिको लिये हुए जो ज्ञान है वह 'सदबोध' कहलाता है ।
- ९२ सदबोध-पूर्वक जो आचरण है वह 'सच्चारित्र' है अथवा ज्ञानयोगिके कर्मसिद्धान्तकी निमित्तभूत जो क्रियाएँ उनका त्याग 'सम्यक्चारित्र' है और उनका लक्ष्य राग-द्वेषकी निवृत्ति है ।
- ९३ अपने राग-द्वेष-काम क्रोधादि-दोषोंको शांत करनेसे ही आत्मामें शान्तिकी व्यवस्था और प्रतिष्ठा होती है ।
- ९४ ये राग-द्वेषादि-दोष, जो मनकी समताका निराकरण करनेवाले हैं, एकान्त धर्माभिव्यक्ति-मूलक होते हैं और मोही जीवोंके अहंकार-ममकारसे उत्पन्न होते हैं ।

६५ संसारमें अज्ञान्तके मुख्य कारण बिचार-दोष और आचार-दोष हैं ।

६६ बिचारदोषको मिटानेवाला 'अनेकान्त' और आचारदोष-को दूर करनेवाली 'अहिंसा' है ।

६७ अनेकान्त और अहिंसा ही शास्ता वीरजिन अथवा वीर-जिन-शासनके दो पद हैं ।

६८ अनेकान्त और अहिंसाका आश्रय लेनेसे ही विश्वमे शान्ति हो सकती है ।

६९ जगतके प्राणिमयी अहिंसा ही 'परमब्रह्म' है, किसी व्यक्तिविशेषका नाम परमब्रह्म नहीं ।

१०० जहाँ ब्राह्माभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहोका त्याग है वही उस अहिंसाका बास है ।

१०१ जहाँ दोनों प्रकारके परिग्रहोका भार-वहन अथवा वाम है वही हिंसाका निवास है ।

१०२ जो परिग्रहमे आसक्त है वह वास्तवमे 'हिंसक' है ।

१०३ आत्मपरिणामके घातक होनेसे झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये सब हिंसाके ही रूप हैं ।

१०४ धन-धान्यादि सम्पत्तिके रूपमे जो भी सासारिक विभूति है वह सब 'ब्राह्म-परिग्रह' है ।

१०५ 'आभ्यन्तर-परिग्रह' दशनमोह, राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, शोक, भय और जुगुप्साके रूपमे है ।

१०६ तृष्णा-नदीको अपरिग्रह-सूर्यके द्वारा सुखाया जाता और विद्या-नौकासे पार किया जाता है ।

१०७ तृष्णाकी शांति अभीष्ट इन्द्रिय-विषयोकी सम्पत्तिसे नहीं होती, प्रत्युत इसके वृद्धि होती है ।

१०८ आध्यात्मिक तपकी वृद्धिके लिये ही ब्राह्म तप विधेय है ।

१०९ यदि आध्यात्मिक तपकी वृद्धि ध्येय या लक्ष्य न हो तो

बाह्य-तपस्वरण एकान्तत शरीर-पीडनके सिवा और कुछ नहीं ।

११० सद्धान्तके प्रकाशसे आध्यात्मिक अन्धकार दूर होता है ।

१११ अपने दोषके मूल-कारणको अपने ही समाधिजेजसे भस्म किया जाता है ।

११२ समाधिकी सिद्धिके लिये बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकारके परिग्रहोका त्याग आवश्यक है ।

११३ मोह-शत्रुको सद्दृष्टि, सवित्ति और उपेक्षारूप अस्त्र-शस्त्रोसे पराजित किया जाता है ।

११४ वस्तु ही अवस्तु हो जाती है, प्रक्रियाके बदल जाने अथवा विपरीत हो जानेसे ।

११५ कर्म कर्ताको छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता ।

११६ जो कर्मका कर्ता है वही उसके फलका भोक्ता है ।

११७ अनेकान्त-शासन ही अशेष-धर्मोंका आश्रय-भूत और सर्व-आपदाओंका प्रणाशक होनेसे 'सर्वोदयतीर्थ' है ।

११८ जो शासन-वाक्य धर्मोंमें पारस्परिक अपेक्षाका प्रतिपादन नहीं करता वह सब धर्मोंमें शून्य एवं विरोधका कारण होता है और वह कदापि 'सर्वोदयतीर्थ' नहीं हो सकता ।

११९ आत्यन्तिक-स्वास्थ्य ही जीवोका सच्चा स्वार्थ है, क्षण-भंगुर भोग नहीं ।

१२० विभावपरिणतिसे रहित अपने अनन्तज्ञानादिस्वरूपमें शाश्वती स्थिति ही 'आत्यन्तिकस्वास्थ्य' कहलाती है, जिसके लिये सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये ।



नामानुक्रमणिका

अकम्पन (राजा)	१६७	अयोध्या (राजधानी)	१०३
अकलकदेव ४४, ४६, ११६, ३४६, ३७५, ३८१, ३८२ ४३६		अरडक-अर्डक (ग्राम, गोत्र)	२३५
अकलक-स्तोत्र	४४	अरविन्द (मुनि)	२६८
अक्षमाला (नीचजाति-स्त्री)	२४४	अरिजय (राजा)	२४७
अग्निभूत (मुनि)	३०१	अरिष्टपुर	१६६
अग्रवाल (जाति वंश) ६४, २३३, २३४, २४८ २५०		अर्जुन	३७
अग्रसेन (राजा) २३३, २३४		अर्हन्तीति (ग्रन्थ)	१३४
अजमेर	१७	अशोक (सम्राट)	४२४
अजमेरा (गोत्र)	२३४	अष्टशती (वृत्ति) ३४६, ३७५	
अनगरधर्मामृत (ग्रन्थ)	२५०	अष्टसहस्री ३४६, ३७५, ४३६	
अनेकान्त (मासिक पत्र)	३८	अमराज (तेजपालका पिता)	२४६
अन्धकवृष्टि (राजा)	१६०	अजनासुन्दरी	१०२, २६१
अबलकलाम आजाद	२११	आत्मानुशासन (ग्रन्थ)	३१६
अमितगति (आचार्य) २१, ५४ १५७, २०१, २०४, २३१, ३२६		आदिपुराण ५४-१०४, ११४, १३३-१५१, १६३-१६८, २३६, २४२-२४४, ३११, ४४४, ४४५	
अमितगति-श्रावकाचार	५४	आदीश्वर (भगवान)	१०३
अमृतचन्द्र (आचार्य) ७८, १२२, २६४, ३०१, ४३७		आप्त-परीक्षा	१८१
अमेरिका (देश)	७	आबू (पर्वत)	२४६
		आराधनासारकथाकोष ५८-७०	
		आशाधर (पंडित) ५६, १६२	

१३०, १३८, २५०, ३०४	कामधेनु (साप्ताहिक पत्र) ३८
उग्रसेन (राजा) १६२, २३६	कार्तिकेय (स्वामी) ३२४
उज्जयिनी (नगरी) २४७	कालश्वापाकी (विजाति) २५६
उत्तरपुराण २४२	काला (व्यक्ति, गोत्र) २३७
उपासकाचार (अमितर्गाति) १५७,	कालिदास (मेघदूत-कर्ता) ४०
२२४, ३३६	काशीराज (राजा) २४५
उपासनातत्त्व (पुस्तक) ३५८	कासली, कासलीवाल (गोत्र) २३४
उलूक (कणाद) ४३८	कुकडचोपडा (गोत्र) २३६, २३७
उशना (शुक्राचार्य) २५८	कुथलगिरि (तीर्थक्षेत्र) ६४
ऋषभदेव (भगवान्) ३००	कुन्दकुन्द (आचार्य) ५६-१०२,
ऋषिदत्ता ६७, १६४	११८, २६१, ३२१-३२७
एकसिधमट्टारव ७८	कुमुदचन्द्र (आचार्य) १७७, १७८
एसीपुत्र ६७, १३४, १६४	कुल्लूकभट्ट (टीकाकार) २४५
एपिग्राफिका कर्णाटिका ८४७	कुसुमावती (मालीकी कन्या) ६८
ओसवाल (वंश) २३६, २४८	केसरियानाथ (अति० क्षेत्र) ६६
कटारिया (गोत्र) २३७, २३८	कैलाश (पर्वत) ६१
कसाद (उलूक) ४३८	कोठारी (गोत्र) २३७
कपिल ४३८	कोश (वामन शिवराम आप्टे) ७३
करकट्टु (राजा) ५८ ६८	कौशाम्बी (नगरी) ६२
कर्ण (राजा) ६८	क्षत्रचूडामणि (ग्रन्थ) १२६
कर्तव्यकोमुदी १५०	खतौली (नगर) ४७
क्रियाकलाप १६८	खडेलगिरि (राजा) २३४
कल्याणमन्दिर (स्तोत्र) १७७,	खडेलवाल (जाति) ६४, २३४
१८१, २६८ ३२०	२३५, २३६, २४८, २५०
कसायपाहुड ४४५	खडेलानगर २३४, २३५
काफू (राँका) २३८	गजकुमार २४७
काँग्रेस (जातीय महासभा) २०८	गजाधरलाल (पंडित) १६३, २५८

गणधरचोपध (गोत्र)	२३७
गदैया, गद्यो (गोत्र, ग्राम)	२३५
गधमादन (पर्वत)	३०२
गान्धी (महात्मा)	२०८, २०९
	२११, ३३५, ४१८, ४२६
गिरधरराय (कवि)	२७६
गिरनार (तीर्थक्षेत्र)	६९
गुणभद्र (आचार्य)	३१९
गुणवती (श्रेणिक-पुत्री)	२४७
गोम्मटसार (ग्रन्थ)	२३२, २५६
गोम्मटसार-टीका	५१
गौतम (गणधर)	३०१
गौरिक (विद्याधर-जाति)	२४९
ग्रन्थपरीक्षा (पुस्तक)	१७२
चर्मणवती (चम्बल नदी)	४०
चादनपुर (श्रीमहावीरजी)	६९,
	१००, २६०
चामुण्डराय	५६
चारित्रसार (ग्रन्थ)	५६, ५९
चारुदत्त (सेठ)	१६०, २५२, २५३
चिरडवी चिरडक्या (गोत्र)	२३५
चौधरी (गोत्र)	२३४
चौवण्या, चौवाण्या (गोत्र)	२३५
चौहान (वंश)	२३५
चंपापुर (नगर)	३०१
छावडा (गोत्र)	२३५
जयधवला (टीका)	५३५, ४४५

जरत्कुमार	१६४, ३०२
जरा (कन्या)	१६२, १६३, ३०२
जवाहरलाल नेहरू	४२४, ४२८
जापान (देश)	४
जाल्हरण (ठक्कुर)	२४९
जितशत्रु (राजा)	१६४
जिनदत्तसूरि	२३७
जिनदास (ब्रह्मचारी)	९२, ९८,
	१३५, १६५, १६७, २४७
जिनदास (स्याद्वादी)	३९८, ३९९
जिनवल्लभसूरि	२३६, २३७
जिनसेन (आचार्य)	५४-१०३
	११४, १३३-१५१, १६२,
	१६३-१६७, २३४, २३६,
	२४२-२४६, २५७, २६०,
	३०३, ४४४, ४४५
जिनसेन-त्रिवर्णाचार	१७०
जिनसहिता	७८, ७९, ८५, ८७
जीवधर	११८
जैननीतिसग्रह	१३४
जैनमित्र (पत्र)	४१, २४९
जैनसम्प्रदायशिक्षा (ग्रन्थ)	२३६
जैनहितैषी (पत्र)	१७२
जैत्रल (जिदल-गोत्र)	२३३
जोरावर (गोत्र)	२३७
जौक (कवि)	१५
ज्ञानानन्द (सेठ)	४१५, ४१७

ज्ञानाणव (ग्रन्थ) १२४, ३२०	घन्यकुमार (वैश्य-पुत्र) २४७
३२५, ३२६, ३८१, ३८२	धर्मपरीक्षा (ग्रन्थ) २२४, ४४५
म्हाभरसिंह २३७	धर्मरसिक (ग्रन्थ) ४४५
ठाकरसी (कोठारी) २३७	धर्मसंग्रहश्रावकाचार ५२-६२,
डालचन्द (सेठ) ४१४-४१७	१३३, १८६, २४५, २४६,
तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १८२, ३६५	३०४
तत्त्वार्थसूत्र ३२७, ३७६, ३८२,	धवल (सिद्धान्तग्रन्थ) ३१७
३८३, ४०३, ४१२, ४१३	धवलचन्द्र (नानुदेपुत्र) २३६
तातहड (गोत्र) २३६	घाडीवाल (गोत्र) २३७
तारनपन्थी (सम्प्रदाय) २००	घाराशिव (नगर) ५८
तारगा (तीर्थक्षेत्र) ६५	घृतराष्ट्र २४५
ताराचन्द (सेठ) ४१४-४१७	नरपति (शूर-पिता) १६२
तेजपाल २४६	नवजीवन (पत्र) २०६
त्रिपद (व्यक्ति) ३०१	नागदत्त (श्रेष्ठ) ५८
त्रिवर्णाचार ६४, १७२, ३०६	नानचन्द पदमसा (मुनीम) ६५
दमवर (मुनि) ६८	नानुदे पडिहार (राजा) २३६
दयाचन्द (सेठ) ४१५, ४१७	नानीता (सहारनपुर) २२३
दरड्यो (ग्राम, गोत्र) २३५	नाभि (राजा) १३७
दशपुर (नगर) ४०	नाहटा (गोत्र) २३७
देवकी १३४, १६२, २३६	नीतिवाक्यामृत (ग्रन्थ) १२६-
देवयानी २४८	१४६, १६५, २४३, ३०५,
देवसेन (देवक) १३४, १६२	४४१, ४४२
देवागम ३३२, ३४८, ३४६,	नील (नीलाजनाका भाई) २४०
३५३, ३७०, ४३६, ४३६	नीलाजना २४०
दौलतराम (कावि, पंडित) १६३	नेमिनाथ (भगवान) ६७, १३४
२८१, ३०३	१६१, १६२, ३०२
घनीराम (सेठ) ४०८, ४०६	पटेल (सरदार) ४२८

नामानुक्रमिका

४६३

पद्मचरित	४४३, ४४४	पीतल्या, पीतल्यो (ग्राम, गोत्र) २३५
पद्मनन्दि (आचार्य)	५४, ५५, ७६, १४८	पुरायास्त्रव-कथाकोष ५७, ५८, ६८, २४७, ३०२
पद्मनन्दि-पचविंशतिका	५४, ७६, १६१	पुरुषार्थसिद्धयपाय ७८, १२२ ३२१, ४३७
पद्मपुराण	६१, १०२, २६१	पुष्पदेव (राजकुमार) २३३
पद्मावती	२३६	पुष्पवती (कन्या) ६८
परवर्तक (भील)	३०२	पूजासार (ग्रन्थ) ६२-६२, ३०३
परवार (जाति)	६४, २४८	पूज्यपाद (आचार्य) ११६, १८४, ३२७, ३३३, ३८१
परवारबन्धु (पत्र)	२२३	पूतिगन्धा (धीवर-कन्या) ३०१
पराशर (ऋषि)	२४५	पूरुगभद्र (वैश्य) ३०२
पल्लीवाल (जाति)	२४८	प्रतिष्ठासारोद्धार ८३, ६६
पहाडी, पहाड्या (ग्राम, गोत्र)	२३४	प्रभाचन्द्र (आचार्य) २३१
पागुल्यो, पागुल्या (ग्राम, गोत्र)	२३४	प्रमेयकमलमार्तण्ड ४४४
पाटन, पाटनी (ग्राम, गोत्र)	२३४	प्रवचनसार ३२१, ३२२
पाडणी (ग्राम)	२३५	प्राग्वाट (जाति) २४६
पाण्डु (पाण्डव-पिता)	२४५	प्रायश्चित्तसमुच्चय ३७८-३८३
पाण्डुक (विद्याधर-जाति)	२५६	प्रियगुसुन्दरी ६७, १३४, १६२, १६४
पात्रकेसरी (आचार्य)	२०१, ३०१	बनमाला, बनमाली (गोत्र) २३५
पात्रकेसरि-स्तोत्र	२०२, ३८२	बडौदा जैन कॉन्फेस ४०
पानाचन्द (सेठ)	६७	बलभद्र १६५, १६८
पापडी, पापडीवाल (गोत्र)	२३५	बाकली, बाकलीवाल (गोत्र) २३४
पारख (गोत्र)	२३७	बालगगाधर तिलक ४०
पार्वतेय (जाति)	२५६	बुद्ध, बौद्धदर्शन ३७, ४१, ४३८
पार्वनाथपुराण	२६८	बेलूर (ताल्लुक) ४४७
पार्वनाथ (भगवान)	५८	
पासूजी (पारख)	२३७	

ब्रह्मसूरि	६४	मडौर (ग्राम)	२३६
भङ्गकमकर (प्रोफेसर)	४१	मातंग (जाति)	२५८
भद्रवाहुसहिता	१७२	मानभद्र (वैश्यपुत्र)	३०२
भद्रवाहुस्वामी	३०१	मिताक्षरा (टीका)	१३८
भरत (चक्रवर्ती) १०३, १०४		मुज (राजा)	२२४
१६७, ३००, ४२४		मेघदूत (काव्य)	४०
भवदत्ता	५८	मेथिलीशरण (कवि)	१६५
भविष्यदत्त (वैश्यपुत्र)	२४७	मोढ (जाति)	२४६
भविष्यानुरूपा (राजपुत्री)	२४७	मोतीलाल नेहरू	२११
भीम (पाण्डुपुत्र)	३७	मोहन (छात्र) ४००, ४१०, ४१६	
भीष्म (शान्तनुपुत्र)	२४५	यदु (राजा)	१६२ २४८
भूपाल (राजा)	२४७	यदुवश	२४८
भूलक्ष्मी, भूलक्ष्मा (गोत्र)	२३५	ययाति (राजा)	२४८
भेसा (ग्राम, गोत्र)	२३५	यशस्तिलक (ग्रन्थ) ५४, १२६,	
भोजकवृष्टि (राजा)	१६२	१३०, १३६, २६२, ३१०	
मणिलाल नभूभाई	४१	४४१, ४४२,	
मदनवेगा	२४६, २५८	यग इडिया (पत्र)	२०६
मनु-स्मृति ६७, १४६, १५१,		याज्ञवल्क्य (स्मृति)	१३८
२४४, २४६		युक्त्यनुशासन (ग्रन्थ)	३३२,
मन्दपाल (ऋषि)	२४४	४३१, ४३२, ४३६, ४४८	
मल्लावत (गोत्र)	२३७	रतनपुर, रतनपुरा (गोत्र)	२३७
महाजन (वश)	२३६	रतनसिंह (चौ० राजपूत)	२३७
महाभारत	१२७, २४८	रत्नकरगढ श्रावकाचार ७६, ७७	
महावीरपुराण	५७	११३, २३१, २५६, ३०५	
मागीतु गी (तीर्थक्षेत्र)	६४	४४३	
माणिकचन्द (सेठ)	६७	रत्नचन्द्र (मुनि)	१५०
मगतराय (पंडित)	१६४	रत्नप्रभसूरि	२३६

नामानुक्रमिका

४६५

रत्तिदेव (राजा)	४०	लुहाड्या (गोत्र)	२३४
रयरासार (ग्रन्थ)	५६, १०२	लूगो (व्यक्तिविशेष)	२३७
१६१, २६१		वनमाला (वीरकसेठकी स्त्री)	६२
रगमे भग (पुस्तक)	१६६	वन्देमातरम् (पत्र)	२१०
रविषेण (आचार्य)	६१, २६१,	वर्धर्म (मुनि)	६२
४४४		वमिष्ठ (ऋषि)	२४४
राका (मेठ, गोत्र)	२३८	वसु (राजा)	२३६
राजगृह (नगर)	५७	वसुदेव (श्रीकृष्ण-पिता)	६७,
राजमल बडैजात्या	२२५	१३४, १६१-१७०, २३६,	
राजवातिक (ग्रन्थ)	३७८, २८१,	२४६, २४६, २५८, ३०२	
३८२,		वमुनन्दि (आचार्य)	७७
राम (महापुरुष)	१० १८, ३७	वमुनन्दि-श्रावकाचार	६० ६१,
रामचन्द्र (मुमुक्षु)	२४७	७७, ७८	
रामानन्द (मेठ)	८१४, ८१७,	वमतसेना (वेश्या)	१६०, १६१
४१८		वजालय (विद्याधर-जाति)	२५६
रामानुजाचार्यमदिर	४४७	वाग्भट (वैद्यराज)	३१, ३२, १५२
रायजादा (गात्र)	२३७	वाँठिया (गोत्र)	२३७
रावचु डे	२३७	वात्स्यायन (ऋषि)	१०२
रावजी नानवन्दजी (मेठ)	६६	वादीभूमिहसूरि	१२६
रावण (लकाधीश)	६१	वार्धमूलक (वि० जाति)	२५६
रीडिंग (लाह)	२१०, २११	विक्रम (राजा)	४३१
रुक्मिणी (कृष्णकी पटरानी)	३०१	विचित्रवीर्य (शान्तनुराजाका	
रोहिणी (राजपुत्री)	१६२, १६६	पुत्र)	२५५
१६८		विज्ञानेश्वर	१२६
लब्धिसार-टीका	३०२, ४४५	विद्यानन्द (आचार्य)	११६, १८०,
लाजपतराय (जाला)	२११	३४६, ३७५, ४३२, ४३६	
लाजाणो (गोत्र)	२३७	विद्युद्देव (विद्याधर)	२५८

विनोदीराम (सेठ) ४१४, ४१६, ४१७	शुभचन्द्र (आचार्य) ३०० ३२४ ३८१
विपुलाचल (पर्वत) ५७	शुक्र (आचार्य) १२१
विरमेचा (गोत्र) २३७	शूर (राजा) १६०
विवाह-क्षेत्र-प्रकाश २२५	शेख (उर्दू कवि) १८६
विवेकचन्द्र (सेठ) ४१५, ४१७	शोलापुर ६४ ६६
वित्सनकालेज ४१	श्मशान (मातंग-विद्याधर- जाति) २४६
विश्वदेव (ब्राह्मण) २४६	श्रावस्ती (नगरी) ६७
वीरक (सेठ) ६०	श्रीकृष्ण (वसुदेवमुत्त) ३७, १६०, १६५ २४७, ३०१, ४२४
वीर (जिन-जिनेन्द्र) ४३०, ४३५	श्रीधर (मुनि) ३०४
वीरभद्र (अध्यापक) ३८५, ३६१ ३६२, ३६६, ४०० ४०१ ४११, ४१६	श्रीपालचन्द्र (यति) २२६
वीरशासन ४३२-४४०	श्रेणिक (राजा) ५८, ७५, १३३, २४७
वृन्दल (गोत्र) २३३	श्वपाक (मातंग-विद्याधर- जाति) २५६
वृन्ददेव (राजकुमार) २३३	सकलकीर्ति (आचार्य) ५५, १६६
वृषभदेव (भगवान) १२७, १४८	सत्यवती (धीवर कन्या) २४५
वृहद्भुज २३६	सन्धधर (राजा) ११८
वैशेषिक दर्शन ४३८	सन्मतिमूत्र (सम्मडमुत्त) ४३७, ४३६
व्यास (कानीन) २४४	समन्तभद्र (स्वामी) २१, ७६, ११३, ११६, १५५, १५६, १८५, २३१, २५६ ३०५
शत्रु जय (तीर्थक्षेत्र) ६४, ६५	३१४, ३३१, ३३३, ३५०, ३५०, ३५३, ३५७-३६०,
शान्तिनु (राजा) २४५	
शान्तिनाथ (भगवान) ६१	
शारङ्गी (निकृष्टजाति स्त्री) २०४	
शीलायुध (राजा) ६७, १६४	
शुद्धोधन (बुद्ध-पिता) ४३८	

३६७, ३६६, ३७४, ३७६,	मिद्धिसोपान (पुस्तक)	३५८	
४३१-४४८	मिवनी	६४	
समयसार (ग्रन्थ)	३२७	सी०आर० दाम (देशबन्धु)	२११
समाधिगुप्त (मुनि)	३०१	मुकुमाल	३०२
समाधितन्त्र (ग्रन्थ) १८१, १८३	मुकुमाल-चरित्र (ग्रन्थ)	३०२	
समीचीन धर्मशास्त्र	४४७	सुखानन्द (मेठ)	४११
सम्पेदशिखर (तीर्थक्षेत्र) ६६, ६४	सुगुप्ति (मुनि)	६८	
सरस्वती	१७ १८	सुघड (गोत्र)	२३६
सर्धना (जि०मेरठ)	४७	सुदशन (उद्यान)	६८
सर्वार्थमिद्ध (ग्रन्थ) १८४, २०७	सुदर्शनमेरु	८१	
२३३, २८१	सुभाषितर नमदोह	२२४	
सर्वोदय-नाथ	१३१-१४६	सुभाषितावली	५४
सहस्रार (स्वर्ग)	५८	सुमुख (राजा)	६२
महा (नगर, गात्र) २०४, २२५,	सुवसु	२३६	
सहारनपुर	३४, ३८, २२३	सुवीर	१६२
मजीवनी (टीका)	४०	सुहृदादेवी	२४६
सतोपा (ठकुरानी)	२४६	मुक्तिमुक्तावली	१०७
साख्यदशन	४३८	सूर्यमित्र	३०१
सागारधर्मामृत (ग्रन्थ) ५६, ५६,	सेठिया (गोत्र)	२३८	
६५, ६६, ७४-७७, १२०,	सेवाराम	४१५, ४१७	
१३०, ३०४, ४४१, ५४२	मोनी (गोत्र)	२३४	
साभर, साभर्या (ग्राम, गोत्र) २३५	सोमदेवमूरि (आचार्य) ५४, १२१-		
सावयधम्म दोहा	४४२	१४६, १६५-१७२, २४३,	
सिद्धकूट (चैत्यालय)	२५८	२६२, २००-३१०	
सिद्धमेन (आचार्य) ११६, ८३६,	सोमप्रभ (आचार्य)	१२७	
४३७ ४३८	सोमशर्मा (ब्राह्मण) १३३, २४७		
सिद्धान्तसार (ग्रन्थ)	४१	सोमश्री	२४६

सोममेन (आचार्य) १०५, ३०६	स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा ३५४
सोमा (ब्राह्मणपुत्री) २४७	४४३
सोमान्वय (वश) २४६	हरखावत (गोत्र) २३७
सौधम (स्वर्ग) ५८	हरिपुर २४७
सौम्यनायकीमंदिर ४४७	हरिभाई देवकरण (सेठ) ६५
स्तुतिविद्या (ग्रन्थ) ३२७, ४४३	हरिवंशपुराण ६७-६८, १३४-
स्थानकवासी (सम्प्रदाय) २००	१६६, २३६, २४६, २४७,
स्वयम्भूस्तोत्र १५५, १८५, ३३२,	२५७, २५८, ३०१-३०३
३५०, ३५२, ३५७, ३५८	हस्तिनापुर २४७
३६६, ३६८, ४३६, ४४६	हिमशीतल (राजा) ४४
स्वरूपा (राजकन्या) २४७	हीराचन्द नेमिचन्द (सेठ) ६५



